"नस्ति हि कमतर सव्रलोक हितेन।"—अशोक
"राजा प्रकृति रञ्जनात।"—कालिदास

अशोक

भगवतीप्रसाद पांथरी, एम० ए०

किताब महल
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
संवत् २००३

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—रामभरोस मालवीय, 'अभ्युदय' प्रेस, इलाहाबाद।

समर्पण

अपने मा-बाप

को

प्रस्तावना

प्रो० भगवती प्रसाद पान्थरी की नई कृति 'अशोक' मैंने देखी। मुझे यह लिखते हुए हर्ष होता है कि पान्थरी जी को जैसा जागरूक अध्ययन करने वाला एवं परिश्रमी मैंने उनके विद्यार्थी काल में पाया था, वैसे ही नहीं, किन्तु उससे भी बहुत अधिक परिश्रमी वे अब भी हैं। इतिहास में गिने-चुने हुए नवयुवकों ने इतना उत्तम काम किया होगा। सम्राट् अशोक के जीवन पर उन्होंने बड़ा उत्तम ग्रन्थ लिखा है और इस प्रकार केवल हिन्दी साहित्य की ही सेवा नहीं की है किन्तु हमारे देश के सर्वोच्च, सबसे महान् और आदर्श सम्राट् के जीवन तथा तत्कालीन भारतीय समाज का बड़ा यथार्थ ज्ञान पाठकों के लिये हस्तामलकवत् कर दिया है। इस पुस्तक का प्रकाशन जितना शीघ्र हो उतना ही शुभ होगा।

काशी विश्वविद्यालय } परमात्माशरण, एम० ए०
पी-एच० डी०

आमुख

सम्राट् अशोक के प्रति मेरा विशेष आकर्षण रहा है। मैं यह मानता हूँ और बड़े विश्वास के साथ कि महान् पुरुषों के जीवन का अध्ययन मनुष्य को महान् बनाने में बहुत सहायक होता है। अशोक उन्हीं महान् पुरुषों में से एक हैं। आज का संसार हिंसा के मेघों और प्रतिहिंसा की बिजलियों से आक्रांत है। शांति और स्नेह मानव-समाज से हटता जा रहा है, और यदि उनका हटना रोका न गया तो विनाश को भी कोई नहीं रोक सकता।

गांधीजी आज इस बढ़ते हुए विनाश को रोकने में संलग्न हैं। वे सत्य, स्नेह और अहिंसा की भित्ति पर मानव की नींव खड़ी करना चाहते हैं। वे ख़ूब समझते हैं कि हिंसा का परिणाम हिंसा होती है, हिंसा से हिंसा बढ़ती है, रुकती नहीं। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से दबाया जाना अथवा एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र द्वारा आक्रांत किया जाना वे अनाचार और हिंसामूलक मानते हैं। किन्तु वे नहीं चाहते कि आक्रान्त और उत्पीड़ित मनुष्य उन्हीं हिंसात्मक साधनों का सहारा लेकर आक्रान्तकारी वा उत्पीड़िक को ख़त्म करें। वे सच्चे और शुद्ध उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सच्चे और शुद्ध साधनों का प्रयोग ही काम में लाने का सन्देश देते हैं। मनुष्य की उस परम्परागत बूढ़ी मनोवृत्ति, जिसके अनुसार अच्छे उद्देश्य के लिए ख़राब उपाय भी श्रेयस्कर बतलाये गये हैं, का वे आज वर्षों से विरोध कर रहे हैं, और हमें आशा है यदि यह मनोवृत्ति बदल गई तो सचमुच मनुष्य का

हृदय भी बदल जायेगा और हिंसात्मक समाज की प्रतिहिंसात्मक प्रवृत्ति भी।

क्या यह सम्भव है ? क्या इतिहास में कभी ऐसा हुआ भी है ? इसी के प्रमाण में 'अशोक' की जीवनी उपस्थित की गई है। मेरा पक्का विश्वास है कि मनुष्य के हृदय में यदि ज़रा भी स्वाभाविक स्नेह अपने मानव भाइयों और जीवों के प्रति वर्तमान है, तो निश्चय ही हिंसा की क्रूरताओं की विभीषिका उसे उसके क्रूर मार्ग से हटा कर प्रेम-पथ पर ला सकती है। क्या 'कलिंग' की क्रूर विभीषिका और मानव-वेदना की करुण चित्कार ने अशोक के हृदय को बदल न दिया था ? उस हृदय-परिवर्तन के बाद ही तो अशोक ने हिंसात्मक युद्धों को तिलांजलि देकर धर्म-विजय द्वारा हृदय को विजय करने का सत्कर्म उठाया था, जिसमें वे काफी सफल भी हुए थे।

यदि अशोक जैसे साम्राज्यशाही का हृदय परिवर्तित हो सकता है, और यदि भारत का आज हजारों वर्ष पहले का बूढ़ा चक्रवर्ती अपने कार्यों द्वारा यह साबित करने में सफल हो सका कि सारी राज्य-व्यवस्था प्रेम और अहिंसा के निर्मल एवं निःस्वार्थ आदर्शों पर संचालित हो सकती है, तो क्या आज के समाज के नेता और अधिपति, जो आज सभ्यता और संस्कृति में अपने को उस पुराने और वृद्ध जमाने से बहुत आगे समझते हैं, प्रेम और अहिंसा के सुन्दर और सद्प्रयत्नों को अपने हाथों में नहीं ले सकते ? अशोक की जीवनी को पेश करते हुए हमें विश्वास है कि अशोक स्वयं उन्हें अपने कर्मों द्वारा यह समझा सकने में समर्थ हो सकेंगे कि सचाई, ईमानदारी, तथा अहिंसा के स्नेहिक सिद्धांतों पर भी राज्य-व्यवस्था और राजसत्ता एवं अन्तर्राष्ट्रीय मैत्रियाँ कायम हो सकती हैं; और संसार को हिंसा के भय से मुक्त किया जा सकता है।

इस पर अधिक न लिख कर अन्त में मैं अपने प्रोफेसर श्री डी० सी० गांगोली, श्री डा० परमात्माशरण और मित्र श्री कृष्ण, एम० ए०, श्री रघुवीरप्रसाद पैन्यूली, बी० ए०, और श्री आचार्य गोपेश्वर का बहुत आभारी हूँ जिन्होंने कई प्रकार से मुझे इस पुस्तक की रचना में उत्साह और सहयोग दिया।

पुस्तक की अच्छाई और गुणों के बारे में मैं स्वयं कुछ नहीं कह सकता, पाठकगण उसका निर्णय कर सकते हैं। हाँ, प्रूफ़ की इधर उधर कतिपय भूलें हो गई होंगी, इसके लिये स्नेही पाठकों से क्षमा चाहता हूँ, और आशा करता हूँ, यदि देशवासियों के सहयोग से उसका जल्दी ही दूसरा संस्करण निकल सका तो उसमें वे अशुद्धियाँ पूरी तरह से हटा ली जायँगी।

३० मई, १९४६
१४-बी, क्रास रोड, देहरादून

भ० प्र० पांथरी

सूची

प्रथम प्रकरण

अशोक का प्रारम्भिक जीवन और परिवार

परिवर्तनशील संसार न जाने अब तक कितनी करवटें बदल चुका है। भारतीय इतिहास के पन्ने इन्हीं परिवर्तनों की गाथाओं से आसंकुल हैं। वस्तुतः हमारा इतिहास असंख्य उलट-फेरों का एक विचित्र आख्यान है। किन्तु फिर भी इस इतिहास की निजी महत्ता है। वह हमारी बीती स्मृतियों का भांडार है।

इस इतिहास के द्वार से ही प्रवेश कर हम अपने अतीत से मौन संलाप कर सकते हैं। आज यह वही इतिहास है जो चंद्रगुप्त और सिकंदर, बिन्दुसार और अशोक से हमारा सान्निध्य कराने का साधन बना है। दो हज़ार वर्ष से भी बूढ़ा अशोक आज इतिहास ही के कारण हमें "तरुण" प्रतीत होता है और कठोर पाषाणों पर घनीभूत उनके हृदय के उद्‌गार आज भी नवीनतम हैं, आज भी उन विमल शब्दों की रागिनी युगों के अंतराल को भेदती हुई हमें स्पष्ट सुनाई पड़ती है, और आज भी वे भिक्षु सम्राट् अशोक, हमें अपनी धर्म-लिपियों को बाँचते हुए समीप ही अनुभूत होते हैं।

अशोक का वंश—जिस प्रगल्भ मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने, नन्द-वंशीय राजाओं से चिढ़ कर, चाणक्य की सहायता ले, उन्हें समूल उखाड़ फेंका था; जिसने आततायी यवनों पर अपनी वीरता का सिक्का जमाया—उन्हीं सिल्यूकस नैकेटर के विजेता और दामाद—यूनानी लेखकों के सैन्ड्राकोट्स (Sandrokottos) और एन्ड्राकोट्स

(Androkottos) का नाती धर्म-विजयी (१३वाँ शिलालेख) अशोक हुआ[१]।

अशोक के पिता का नाम बिन्दुसार था, जिसे स्ट्रैबो (Strabo) अलीट्रोकेड्स के नाम से संबोधित करता है—(Ancient India & Invasion by Alexander, p. 383, Mc Crindle) दूसरा ग्रीक लेखक बिन्दुसार के लिये अमित्रोकेट्स (Amitrochates) लिखता है। अमित्रोकेट्स का संस्कृत रूप "अमित्रहता" अर्थात् शत्रुओं का संहारक है। इसी बिन्दुसार के प्रति यूनानी लेखक लिखते हैं—"हिगसैन्ड् कहता है—सूखे अंजीर सब को इतने भले लगते थे कि भारतीय सम्राट् अमित्रोकेट्स ने, अन्टीओक्स को लिखा कि "मीठी मदिरा, सूखे अंजीर और एक तार्किक (Sophist) ख़रीद कर भेज देवें। इस पर, अन्टीओक्स ने लिख भेजा कि "मीठी मदिरा और सूखे अंजीर भेजने में हमें हर्ष है, किन्तु, यूनान में तार्किकों को बेचना न्यायसंगत नहीं माना जाता।" (Ancient India and Invasion of Alexander, page 409, McCrindle) इसी सम्राट् बिन्दुसार के बाद ही अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ।

इतिहास की उलझन—कीर्ति और यश की पक्षपातिता की आलोचना करते हुए, मानव-जाति हमेशा से श्रद्धालु रही है। समय

---

[१] सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् यूनानी शासकों का निधन कर, सैन्ड्राकोट्स ने भारत को स्वतंन्त्रता प्रदान की। किन्तु विजय करने के अनन्तर उसने स्वतंत्रता को पुनः ग़ुलामी की जंजीरों से जकड़ दिया। क्योंकि वह, उन्हीं लोगों के साथ, जिन्हें उस (सैन्ड्राकोट्स) ने स्वतन्त्र किया था, क्रूरता तथा दासत्व का व्यवहार करने लगा।......सैन्ड्राकोट्स भारत पर उस समय शासन करता था, जब सिल्यूकस् अपने भावी उत्कर्ष के निर्माण में संलग्न था। सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त (सैन्ड्राकोट्स) के साथ सन्धि कर ली...(३०२ ई० पू०) जस्टिनस् (Justinus) Ancient India by Megasthenese and Arian, McCrindle, page 7.

की प्राचीनता एवं दूरता से पुष्कल हुए, ये ऐतिहासिक महान् व्यक्ति अपने चारों ओर आख्यानों की एक ऊँची मीनार खड़ी कर देते हैं, जिसे लाँघ कर उन तक पहुँचने में बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ता है।

कभी-कभी इन ऐतिहासिक महान् पुरुषों ने, मानव-जाति को भ्रमित करनेवाली अपनी उस शक्ति से परिचित होकर, संसार की श्रद्धालुता से अपनी गाथाओं को रचाने के प्रति, मंत्रणा-सी प्रतीत होती है। हम कह सकते हैं कि "कल्हण" के साथ सम्राट् ने भी ऐसी ही मंत्रणा की। कल्हण लिखता है कि इन्द्रियजीत यशस्वी सम्राट अशोक, शकुनी का पौत्र था[1]। अपितु भ्रमित करनेवाली एवं इतिहास को उलझानेवाली कई गाथायें अशोक के प्रति हमें महावंश, दिव्यावदान, दीपवंश, अशोकावदान आदि में मिलती हैं। यद्यपि ये गाथायें इतिहास को बहुधा उलझन में डालती हैं, किन्तु कहीं-कहीं पर सहयोग भी अवश्य प्रदान करती हैं। इन महावंश आदि लोक-गाथाओं का कारण बौद्ध लेखकों की श्रद्धालुता थी।

अशोक का सिंहासनारोहण—अशोक के चारों ओर लोक-कथाओं एवं गाथाओं की जो कँटीली झाड़ियाँ उग चली हैं, वे एक ऐतिहासिक को उलझाये बिना नहीं रहतीं। लोक-गाथाओं और कल्पित आख्यानों की ये झाड़ियाँ विशेषतः सिलोन (ताम्रपर्णी) की गरम जलवायु में खूब उगी और पनपी हैं। किन्तु इतिहासज्ञों का सौभाग्य है कि अशोक ने शिलाभिलेखों और स्तंभ-लेखों की स्थापना कर अपने तक पहुँचने का सीधे और सरल मार्ग का निर्देश किया है। अतः किम्वदन्तियों की उलझन अत्यधिक व्यग्रता का कारण नहीं रह पाई है। पाषाणों पर लौह-क़लम से अभिलिखित अशोक के लेख, जौब (Job) के निम्न वाक्यों—"My words were written! That

[1](राजतरंगिणी, प्रथम भाग—१०१-१०२)

they were graven with iron pen and led in the rock for ever !"—की पूर्ति करते हुए, इतिहासज्ञों के मार्ग-दर्शक बन, आज भी युगों की भयंकरता का सामना करते हुए अटल रूप में अवस्थित हैं।

इनके अतिरिक्त बहुत-सी बौद्ध-गाथायें अशोक के विषय में प्रचलित हैं, जो उनके प्रारम्भिक जीवन आदि पर अवश्य प्रकाश डालती हैं, किन्तु बहुतांश में उनकी विश्वस्ता संदेहात्मक है। बौद्ध-गाथायें सम्राट् अशोक को बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के अभ्यन्तर कालाशोक और चाण्डाशोक के नाम से पुकारती हैं। किन्तु बौद्ध-धर्म ग्रहण करने पर ये गाथायें उन्हें (अशोक) धर्माशोक कहकर सम्मानित करती हैं। परंतु यहाँ पर उनकी सत्यशीलता उपेक्षणीय है; मालूम होता है कि वे अधिकतर बौद्ध-धर्म की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये ही रची गई थी। उन्हें लोगों को यह जतलाना था कि बौद्ध-धर्म कालाशोक को भी धर्माशोक में परिवर्तित कर सकता है।

किन्तु अशोक की निज आज्ञाओं और अनुशासनों से प्रेषित हुए शिलाभिलेखों और धर्म-स्तंभ-लेखों की सत्यता अप्रश्नात्मक है। अपितु जब हम अशोक की धम्म-लिपियों को पढ़ते हैं, तो ज्ञात होता है कि अशोक की वह पावन वाणी हमसे बातें कर रही हैं, तथा हमें उनके हृदय के अभ्यन्तरी कोण में उठते हुए भावों की अनुभूति-सी होने लगती है। निःसंदेह अशोक के इतिहास का सीधा, सच्चा और सरल मार्ग उनके लेख हैं। यद्यपि कहीं-कहीं पर हम गाथाओं की सत्य-शीलता की भी उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु जब ये लोक-गाथायें ही परस्पर सहमत नहीं होतीं तो हमें भी उनके प्रति सन्देह हो आता है। लोक-गाथाओं के आपस की यह फूट उनकी नम्रता की परि-चायक है।

अशोक के सिंहासनारोहण पर महावंश लिखता है—"ब्राह्मण चाणक्य ने धननन्द को मार कर चन्द्रगुप्त को सारे जम्बूदीप का

राजा बनाया। यह चन्द्रगुप्त मौर्य्य-वंश का एक प्रतिभाशाली पुरुष था। इसने ३४ वर्ष तक राज्य किया। उसके पुत्र बिन्दुसार ने २८ वर्ष तक शासन किया। बिन्दुसार की सोलह रानियाँ थीं। इन सोलह रानियों से उसके १०१ पुत्र हुए। इनमें से अशोक अपनी प्रतिभा और ज्ञान द्वारा सर्व-शक्तिशाली हुआ। अशोक ने अपने १०० भाइयों को मार डाला, और जम्बूदीप का एकछत्र अधिपति बन बैठा[1]।"।

आगे चल कर महावंश अशोक के राज्यारोहण का इस प्रकार वर्णन देता है—"अशोक अपने पिता द्वारा उज्जैन का शासक निर्वाचित हुआ था। अतः अशोक उज्जैन में रहा करता था। किन्तु जब उसने सुना कि बिन्दुसार अन्तिम मृत्यु-शय्या पर है, तो वह उज्जैन को छोड़ कर पुष्पहपुर (पाटलिपुत्र) को चल दिया। वहाँ पहुँच कर अपने पिता के मरते ही उसने अपने बड़े भाई सुमन को मार डाला और इस प्रकार संपूर्ण राज्य का अधिपति बन बैठा[2]।"

इस प्रकार सिंहल-गाथायें, जैसा कि महावंश और दीपवंश में वर्णित हैं, बिन्दुसार की सोलह रानियाँ और १०१ पुत्रों का उल्लेख देते हैं। इन १०१ पुत्रों में से केवल तीन के नाम दिये गये हैं—सुमन (उत्तरी गाथाओं के अनुसार सुशीम) ज्येष्ठ भाई, अशोक और तिष्य (अशोक का सहोदर भाई)। उत्तरी गाथा के अनुसार जैसा कि अशोकावदानमाला में उल्लिखत है अशोक की माता का नाम शुभद्रांगी था। शुभद्रांगी "चम्पा" के एक ब्राह्मण की सुन्दरी कन्या थी। इस शुभद्रांगी का बिन्दुसार से "वितासोक" नाम का एक और पुत्र भी हुआ[2] कहा जाता है। (इस वितासोक को सिंहली गाथायें तिस्य लिखती हैं)। किन्तु दक्षिणी रूढ़ि के अनुसार अशोक की माँ "धर्मा" थी[3]! धर्मा

---

[1]महावंश प्रकरण पाँचवाँ। [2]Si-yu-ki, I Volume, by Beal.
[3]महावंश सतिका प्र० ४, पृ० १२५

प्रमुख रानी (अग्रमहीषी) थी। धर्मा क्षत्रिय मौर्य्य-वंश की थी, इनके वंश का आचार्य एक आजीविक साधु "जनसेन" था। इस पर विचार करते हुए, श्री राधाकुमुद मुकुर्जी कहते हैं कि यही कारण है कि अशोक आजीविकों के प्रति उदार रहे। किंतु यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि अगले प्रकरणों से सर्वथा स्पष्ट हो जायगा कि अशोक की उदारता का कारण पक्षपात न था परंतु सब धर्मों (संप्रदायों या पासंडों) की पूजा करना ही उनका स्वीकृत मत था---(सव पासंडा पि मे पुजिता— स्तंभ-लेख ६वाँ)। अतः उनके हृदय की विशालता ही उनकी सार्वलौकिक, उदारता और प्रेम का कारण था।

अतः महावंश राज्यारोहण के इस युद्ध को अशोक और ६८ भाइयों के मध्य हुआ कहता है, किन्तु दिव्यावदान में यह युद्ध केवल अशोक और सुशीम अथवा सुमन के मध्य दिखलाया गया है। दिव्यावदान की कथा इस प्रकार है—"चम्पा नगर के एक ब्राह्मण की बड़ी रूपवती कन्या थी। इस लड़की को देख कर भविष्यवक्ताओं ने घोषणा की कि वह रानी होगी। तथा उसके दो पुत्र होंगे, जिनमें से एक चक्रवर्ती सम्राट् होगा और दूसरा सन्यासी बनेगा। जब लड़की के पिता ब्राह्मण को यह मालूम हुआ तो वह पाटलिपुत्र चला आया। पाटलिपुत्र में उसकी कन्या अन्तःपुर की रानियों की मंत्रणा से राजप्रासाद में नाईन का काम करने लगी। एक दिन भेद खुल गया और राजा ने उस ब्राह्मण-पुत्री को पत्नी रूप में स्वीकार कर लिया। इसी ब्राह्मण-कन्या शुभद्रांगी से अशोक का जन्म हुआ। किन्तु अपने इस पुत्र पर राजा बिंदुसार का स्नेह न था। एक दिवस बिन्दुसार ने आजीविक साधु पिंगलावत्साजीव से राजकुमारों की परीक्षा लेने को कहा। सब राजकुमारों को एकत्रित कर राजा ने साधु से प्रश्न किया, "परिव्राजक, कहो इनमें से कौन मेरे अनन्तर सम्राट् होगा?" आजिविक साधु भली भाँति जानते थे कि सब में से अशोक ही सर्व-शक्तिमान है, अतः वही सम्राट् होगा।

किंतु राजा का उस पर स्नेह न जान कर वह इस बात को व्यक्त नहीं करना चाहता था। अतः उसने नाम न ले कर संकेतों से बताना आरंभ किया। किन्तु पीछे जब अशोक की माँ ने साधु से पूछा कि "परिव्राजक, कौन सम्राट् होगा ?" तो साधु बोला—"अशोक।" अतः स्पष्ट है कि दिव्यावदान का यह उल्लेख अशोक को योग्य उत्तराधिकारी प्रमाणित करता है। इसके अतिरिक्त दिव्यावदान की कथा से हमें यह भी मालूम होता है कि अशोक के पृष्ठ पर संपूर्ण मंत्री-मंडल का आलम्ब था। कथा लिखती है, "एक दिवस बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र सुशीम खेल रहा था कि प्रधान मंत्री खल्लाटक भी उधर से जा निकला। सुशीम ने खेल में, मंत्री के मस्तक पर खटका गिरा दिया। इस पर प्रधान मंत्री चिढ़ कर सोचने लगा कि आज तो इसने खटका गिराया है, किंतु जिस दिन राजा होगा उस दिन तो यह शस्त्र ही फेंकने लगेगा। अतः इसका राजा होना उचित नहीं है। यह सोच कर उसने मंत्रणा की और पाँच सौ मंत्रियों को उसके प्रति भड़का दिया।" इसी दिव्यावदान के अनुसार अशोक एक समय तक्षशिला के राजविद्रोह को शान्त करने के लिये भेजा गया था। इसके पश्चात् तक्षशिला में दूसरी बार विद्रोह हुआ, सुशीम इस विद्रोह को शान्त करने के लिये तक्षशिला में गया हुआ था कि बिन्दुसार की मृत्यु हो गई और सिंहासन खाली हो चला। इसी समय सहसा अशोक राधागुप्त की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर बैठा। सिंहासन छीने जाने पर सुशीम ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण करना चाहा किंतु अशोक के मंत्री राधागुप्त ने धोखे से सुशीम को जलते हुए अंगारों के खड्ड में गिरा कर शान्ति से मरवा डाला।[1]

अतः सुप्रकाशित है कि ये गाथायें आपस में ही उलझ रही हैं। दक्षिणी गाथायें अशोक को भ्रातृघातक प्रमाणित करने के पक्ष में हैं।

---

[1] दिव्यावदान, प्रकरण २६वाँ।

विदित होता है कि इन कथा-वस्तुओं का ध्येय ब्राह्मण-धर्मी चाण्डाशोक और बौद्धधर्मी धर्माशोक के मध्य अन्तर दिखलाना था। इसी हेतु बौद्ध-धर्म ग्रहण करने से पूर्व अशोक को एक "नरक" का निर्माणकर्ता भी कहा जाता है। इस नरकागार में कई निरपराध व्यक्ति, विभिन्न यातनाओं द्वारा पीड़ित किये जाते थे (Gibs Buddhistic Kingdoms, 56-58, Fahien)। सी-यू-की (Si-yu-ki, p. 85) लिखता है, "पाटलिपुत्र (पात्तली वृक्ष के लड़कों का नगर) के प्राचीन प्रासाद के उत्तरी भाग में एक कई फीट ऊँचा पत्थर का स्तंभ है; यह वही स्थान है जहाँ पर अशोक राज (Wu-yen) ने नरक बनवाया था।" परंतु पीछे उपगुप्त[1] के प्रभाव में आकर वे बौद्ध हो चले। इसके अतिरिक्त "अशोकावदान" में अशोक अपने कर्मचारियों और स्त्रियों के संहारक के रूप में दिखलाया गया है। तथा उसे ब्राह्मणों को मरवानेवाला भी कहा गया है। अतः प्रकाशित है कि इन गाथाओं का उद्देश्य अशोक को बौद्ध-धर्मी होने से पहले "चाण्डाशोक" प्रमाणित करना है। उनका ध्येय अशोक के पूर्व चरित्र को कलुषित करके अपने धर्म की प्रतिभा प्रमाणित करनी थी कि बौद्ध-धर्म ऐसे दुश्चरित्रों को भी पुण्यशील बना सकता है।

क्या अशोक क्रूर एवं भ्रातृघातक थे?—यदि अशोक ने सिंहासन के युद्ध में केवल एक भाई का निधन किया तो इसके प्रति अशोक को "चाण्डाशोक" कहना उपयुक्त नहीं है। दक्षिणी गाथाओं के अनुसार भाइयों के निधन की संख्या अलंकारिक है। यह भी कहा जा सकता है कि ये भ्रातृगण सौतेले भाई थे। महाबोधिवंश (पृष्ट ९९) के अनुरूप ९८ भाइयों ने मिल कर युवराज सुशीम की अध्यक्षता में अशोक के विरुद्ध चढ़ाई की। अतः ऐसी अवस्था में अशोक भाइयों के मारे जाने का उत्तरदायी नहीं है। किन्तु इन

[1]उपगुप्त को विना चिन्हों वाला बुद्ध भी कहते हैं। (अलक्षणा बुद्धाः।)

उपरोक्त कल्पित गाथाओं के भ्रम में पड़ कर कोई भी व्यक्ति अशोक पर भ्रातृघातक जैसे निर्मम आक्षेपों के लगाने में नहीं चूक सकते। श्रीतारानाथ अशोक को ६ भाइयों का घातक कहते हैं। परंतु श्रीसेनार्ट ने उचित ही प्रमाणित किया है कि गाथायें ही परस्पर अशोक के क्रूर जीवन के प्रति एकमत नहीं है।[1] यथार्थ में अशोक प्रारंभ से ही सात्विक वृत्ति वाले थे। उन्हें हम भ्रातृघातक नहीं कह सकते। यदि हम इन कथाओं को अशोक के निज शिलाभिलेखों के उज्ज्वल प्रकाश में पढ़ें तो विदित हो जायगा कि इन गाथाओं एवं भीषण आक्षेपों की नींव बहुत ही हल्की है, अपितु उनकी असत्यता कांप कर दूर भाग जाती है।

सम्राट् के लेख-प्रमाण गाथाओं के आक्षेपों का स्वयं प्रतिवाद है। गिरनार शिलालेख प्रथम कहता है, "मातृ और पितृ सेवा करना उत्तम है, तथा मित्र, परिचितों, बांधवों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदार होना श्लाघनीय है।" इसी तरह तृतीय शिलालेख गिरनार भी लिखता है। पुनः पाँचवें शिलालेख में अशोक धर्म-महामात्रों की नियुक्ति के प्रति कहते हैं, "ये धर्म-महामात्र, यहाँ (पाटलिपुत्र) तथा बाह्य दूरस्थ नगरों में मेरे तथा भाइयों और बहिनों के अंतःपुर और मेरे अन्य सम्बन्धियों के यहाँ सर्वत्र नियुक्त हैं।" इसी तरह सम्राट् द्वितीय गौण शिलालेख में कहते हैं कि संबन्धियों के प्रति उचित व्यवहार करना चाहिये। तथा चतुर्थ, षष्ठ, नवम, और द्वादश शिलालेखों से सम्राट् का अपने भाइयो-बहिनों एवं संबन्धियों के प्रति अत्यधिक स्नेह जान पड़ता है। इसी भांति ६वें स्तंभ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "मैं अपने संबन्धियों की ही सेवा नहीं कर रहा हूँ, किन्तु अन्य दूरस्थ लोगों की भी सेवा कर रहा हूँ, जिससे मैं लोगों को आनन्द (सुख) पहुँचा सकू।" अतः सुप्रकाशित है कि कल्याण और धर्म के पुजारी अशोक अपने भाई, बान्धवों एवं संपूर्ण प्राणियों के परम हितकारी

[1] Senart—Insemptions. etc, ii 101.

थे, और दूसरे के कल्याण में ही उन्हें सुख की अनुभूति मालूम पड़ती थी। इसके अतिरिक्त हमें इन शिलालेखों से यह भी पूर्ण रूप से मालूम होता है कि सम्राट् का परिवार अत्यन्त विस्तृत था। उनके कई भाई-बहिन तथा अन्य सम्बन्धी थे, जो पाटलिपुत्र एवं वाह्यप्रान्तीय नगरों में बसे हुए थे (स्तम्भ-लेख सातवाँ नं० ११)। इन सब का पालन अशोक स्वयं करते थे, तथा सभी प्रकार उनकी चिंता तथा सेवा की जाती थी। उनके रक्षण-कार्य के अतिरिक्त सम्राट् उनके परलोक-कार्य में भी बड़े सहायक थे। सातवाँ स्तम्भ लेख कहता है "धर्म महामात्र तथा अन्य प्रमुख कर्मचारी, यहाँ (पाटलिपुत्र) और वाह्य-नगरों के मेरे अवरोधों में, धर्म-कार्यों के लिये नियत हैं।" (देखिए शिलालेख पंचम और त्रयोदश)। पुनः सम्राट् के हृदयोद्‌गार सुनिए, "सव मुनिसा मि पजा" "सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं।" तथा "जिस प्रकार मैं अपने बच्चों के सुख का अभिलाषी हूँ, उसी भाँति मैं अपनी प्रजा का हित और सुख इहलोक और परलोक दोनों में चाहता हूँ।" (कलिंग—शिलालेख जौगड़ा)। अतः सर्वशः सुप्रकाशित है कि माता का-सा कोमल हृदय रखने वाला एक व्यक्ति, गाथाओं के अनुरूप क्रूर, पैशाचिक वृत्तियों का कदापि नहीं हो सकता। जो सम्राट् स्नेह की एक प्रतिकृति स्वरूप हैं वे दानव हो कर भ्रातृघातक कभी नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त सम्राट् के सौतेले भाइयों का उनके शासनकाल में विद्यमान रहने का हमारे पास एक और प्रमाण ७वें स्तम्भ-लेख में सुरक्षित रखा है। ७वाँ स्तम्भ-लेख लिखता है, "यहाँ (पाटलिपुत्र) और बाहर के मेरे अवरोधों में, वे महामात्रगण विविध भाँति के कई आनन्द देने वाले कार्यों में लगे हैं। तथा पुण्य कार्यों की बढ़ती के हेतु और धर्मानुष्टि के लिए मैंने आदेश किया है कि वे रानियों के और मेरे अतिरिक्त, मेरे पुत्रों और अन्य देवी-कुमारों के दान-कार्य के लिये नियत किये जायँ।" इस संदर्भ के "देवी-कुमारों" को अशोक की रानियों के पुत्र न समझे जाने चाहिये। अपितु ये देवी-कुमार अशोक

के पिता की रानियों अथवा देवियों के पुत्र थे। अर्थात् ये कुमार अशोक के सौतेले भाई थे।[1]

अतः सर्वथा सुस्पष्ट है कि अशोक के सहोदर भाई तिष्य (वितासोक) के अतिरिक्त उनके अन्य कई सौतेले भाई भी राज्यकाल के समय सकुशल थे। तथा सम्राट् की ओर से उनका पूर्णतया पालन होता था एवं उनके परलोक के सुख का भार भी अशोक स्वयं अपने ऊपर लिये थे जैसा कि शिलालेखों से प्रकाशित ही है।

गाथाओं में भी अशोक और उसके सौतेले भाई के मध्य का सम्बन्ध स्नेह और भ्रातृभाव से परिपूर्ण दर्शाया गया है। कथा लिखती है—"महेन्द्र अशोक का सौतेला भाई था। वह बड़े ठाट-बाट तथा राजकीय ढङ्ग से रहा करता था। किन्तु वह संयमहीन, अमर्य्यादित, एवं अतीव क्रूर था। सम्पूर्ण प्रजा उससे पीड़ित थी। अतः मंत्रियों ने सम्राट् अशोक से महेन्द्र के दुर्विनीत स्वभाव के प्रति निवेदन किया। अशोक ने अपने भाई को कहला भेजा और अश्रुपूर्ण नेत्रों से बोले—भाई, मैंने प्रजा की उन्नति और उनकी रक्षा का भार अपने स्कंध पर लिया है। किन्तु स्मरण करो तुम कैसे मेरे स्नेह और प्रेम को विस्मृत कर गये! शासन के उदय-काल में ही नियमों का अतिक्रमण अथवा उल्लङ्घन असंभव है, अतः यदि इस समय मैं तुमको दण्ड दूँ तो मुझे पितृ-कोप का भय होता है, और यदि क्षमा करूँ तो मुझे प्रजा के न्याय की अवज्ञा का डर है।" इस पर कथा लिखती है कि महेन्द्र ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और सात दिन की सम्राट् से क्षमा याचना की। इन सात दिनों में वह एक अँधियाली कोठरी में समाधि लगा कर ध्यान किया करता था। इस समाधि के फलस्वरूप वह अन्त में "अरहत" हुआ! अतः सम्राट् ने महेन्द्र के रहने के लिये पाटिलपुत्र में कुछ गुफायें प्रदान कीं Si-yu-ki, volume II, p. 91) फाहियान के अनुसार अशोक

[1] Ep. Indica, ii 276.

का एक भाई किसी पहाड़ी पर एकान्तवास किया करता था। इस भाई को सम्राट् चाहते थे कि वह आ कर राजप्रासाद में रहा करे किन्तु उसने कबूल न किया। अतः सम्राट् ने पाटलिपुत्र के पास ही उसके रहने के लिये एक गुफ़ा बनवा दी[१]। अन्य ग्रंथों में महेन्द्र की कथा दूसरे ही ढंग पर दी गई है। पाली ग्रन्थों में उसे तिष्य कहा गया है, दिव्यावदान में वितासोक लिखा है और कुछ चीनी ग्रंथ उसे सुदत्त और सुगाम भी कहते हैं। इन ग्रन्थों के अनुसार इस राजकुमार का अपराध यह था कि उसने एक बोद्ध पर असंयम मर्यादाहीन आदि दोषों को आरोपित किया था। ये दोष इस विशिष्ट बौद्ध पर असत्यता से लगाये गये थे, अतः इस भाई को सम्राट् उसे अपनी भूल दिखलाना चाहते थे। अतः सम्राट् अशोक ने मत्रियों से मंत्रणा की; और उसे सिंहासन पर बिठलाया गया। वह सिंहासन पर बैठा था कि अशोक ने सहसा प्रवेश कर उसे राज्यापहारिन् कह कर प्राणदण्ड की सजा दी। यह सजा सातवें दिन दिये जाने की घोषणा कर दी गई। इन सात दिनों के अनन्तर अशोक ने इस भाई के लिये सर्व प्रकार के ऐश्वर्य और भोग की सामग्रियों को एकत्रित करवाया, किन्तु मृत्यु के भय से भयभीत होने के कारण उसे किसी भी वस्तु में आनन्द न आता था। इसके अनंतर अशोक भाई के पास आ कर बोला, "देखो भाई, कोई भी बौद्ध जिसे मृत्यु और जन्म का भय है वह सांसारिक भोग और ऐश्वर्यों में नहीं फँस सकता। इसके पश्चात् वितासोक को क्षमा दे कर छोड़ दिया गया। तत्पश्चात् यह भाई सीमांत प्रदेश की ओर चला गया। वहाँ जा कर वह अरहत हुआ और पुनः एक बार पाटलिपुत्र में आ कर अशोक से मिला। इसके बाद वह एक अन्य प्रदेश को चला गया, किन्तु वहाँ के राजा ने निर्ग्रन्थ जान कर उसे मरवा दिया[२]। महावंश में भी

[१] फाहियान ने इस भाई का नाम नहीं दिया है।

[२] इस प्रदेश का राजा निर्ग्रन्थों के प्रतिकूल था। वह निर्ग्रन्थों के मारने वालों को इनाम दिया करता था।

अशोक के भाई तिष्य का उल्लेख तो आया ही है किन्तु इसके अतिरिक्त वितासोक के प्रति अन्य ग्रन्थों में और ही प्रकार से उल्लेख दिया गया है। इन ग्रन्थों में तिष्य और वितासोक दोनों भिन्न व्यक्तियों के रूप में लिखे गये हैं। गाथा कहती है—वितासोक क्षत्रिय कुमारों की कला-कौशल में दिन-दिन निपुण होता जाता था। जब वह क्षत्रिय विद्या तथा शिल्प में पूर्ण हो चुका तो उसने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। इस कुमार का गुरु अथवा आचार्य गिरीदत्त था। अपने इन गुरु के पास उसने सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक का मनन किया। एक दिन यह कुमार क्षौर-कर्म (मस्सु-कम्म) अथवा मुंडन कर रहा था कि उसे दर्पण में अपने सफेद बाल दिखलाई दिये। सफेद बालों को देख कर वह जीवन की असारता पर विचार करने लगा। अतः उसने आचार्य गिरीदत्त से प्रव्रज्या ग्रहण की और थोड़े ही समय में "अरहत" पद को पहुँच गया। (Ib, p. 295-f)।

अतः इन सब संदर्भों से सर्वथा सुस्पष्ट है कि अशोक अपने भाइयों के प्रति अत्यन्त स्नेहपूर्ण और दयालु थे। भाइयों को किसी भी प्रकार पीड़ित करने में वे पितृकोप से डरते थे। तथा अशोक के कई भाई उनके राज्यकाल में विद्यमान थे। इसलिये कहा जा सकता है कि अशोक ने भाइयों का रक्त बहा कर सिंहासन ग्रहण न किया था, अपितु ९९ भाइयों के मारने का आक्षेप, विश्व-प्रेमी और विश्व-रक्षक अशोक पर सर्वथा असत्य प्रतीत होता है। किन्तु केवल इतना कह सकते हैं कि संभवतया अशोक और ज्येष्ठ भाई सुशीम अथवा सुमन के मध्य सिंहासन के लिये कुछ युद्ध हुआ होगा।

काश्मीर का शैव-सम्राट् अशोक—कल्हण राजतरंगिणी में सम्राट् अशोक को काश्मीर का सम्राट् कहता है, वह लिखता है—"शाकीनर की मृत्यु होने पर उनके चाचा का पुत्र अथवा शकुनी का प्रपौत्र धार्मिक अशोक ने पृथ्वी पर शासन किया। इस सम्राट् ने श्रीनगर को काश्मीर की राजनगरी बनाया। यह सम्राट् भूतेश शिव

का उपासक एवं शैव-मतावलम्बी था। उसने विजयेश में शिव के दो मन्दिरों का निर्माण करवाया। ये मन्दिर अशोकेश्वर[1] के नाम से प्रसिद्ध थे (कल्हण, राजतरंगिणी—१०१-१०६)। पीछे ये सम्राट् 'जिन' हो चले, और उन्होंने बहुत से स्तूपों का निर्माण करवाया (कल्हण, राजतरंगिणी; १०२)।

धर्मलिपियों पर आशंका—ये धर्मलिपियाँ प्रियदर्शी अथवा प्रियदर्शिन नाम के राजा से लिखवाईं गईं थीं। किन्तु प्रियदर्शी—प्रियदर्शिन के अतिरिक्त कहीं-कहीं पूर्ण संज्ञा "देवनांप्रिय प्रियदर्शी राजा" का (रूमीनिन्दी तथा निगलिव) प्रयोग किया गया है। सारनाथ-स्तंभ-लेख, तथा रूपनाथ, सहसराम, बैराट और तीसरे मैसूर शिलाभिलेख में केवल देवानांप्रिय ही लिखा है। प्रथमतः जब श्री जेम्स प्रिंसेप ने ब्राह्मी लिपि का स्पष्टीकरण किया था तो उन्होंने इन शिलालेखों को पहिले सिलोन के राजा तिष्य की बतलाईं; क्योंकि उसके नाम की संज्ञा भी देवानांप्रिय थी। किन्तु जब मास्की शिलालेख का पता लगा तो यह बात निश्चयात्मक रूप से निर्धारित हो गई कि ये शिलालेख मौर्य्य सम्राट् अशोक से ही प्रकाशित की गई थीं। मास्की में अशोकस् लिखा बैराट शिलालेख भी देवानांप्रिय को मगध-सम्राट् लिखता है। इसी तरह पाँचवाँ शिलालेख राजनगरी पाटलिपुत्र का भी उल्लेख करता है, अतः अब सर्वथा निर्धारित हो चुका है कि प्रियदर्शी अथवा देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा और अशोक एक ही हैं। इससे सर्वशः स्पष्ट है कि अशोक प्रियदर्शी, प्रियदर्शिन तथा देवानांप्रिय के नामों से भी प्रख्यात थे। अतः प्रिंसेप को आखिर अपनी पहली धारणा को त्यागना पड़ा (Ib. XXVI, p. 943)।

देवानांप्रिय—अशोक ने अपने पूर्वजों की भाँति ही देवानांप्रिय को अपना उपनाम रखा था। आठवाँ शिलालेख कहता है—"विगत काल में देवताओं के प्रिय राजा (देवानांप्रिय) विहार-यात्रा को

[1] अशोकेन निर्मिता ईश्वर=अशोकेश्वर (मध्यमपदलोपी समास)

निकला करते थे।" अतः इस वृत से सर्वथा प्रकाशित है कि सम्राट् के पूर्वज भी "देवानांप्रिय" कहलाते थे।

मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त को "प्रियदर्शनत्तो" कहा गया है। नागार्जुन-गुहा-लेख में दशलथ देवनांप्रिय लिखा है। यह दशरथ अशोक का पौत्र था। अतः प्रकाशित है कि पूर्व प्रचलित मौर्य्य प्रथा के अनुसार ही सम्राट् अशोक ने देवानांप्रिय और प्रियदर्शिन के नामों को अपनाया था। इसी से शिलालेखों में हमें केवल एक जगह अशोक लिखा मिलता है, बाक़ी लेखों में उपनाम का ही प्रयोग किया गया है। देवानांप्रिय का अर्थ है—"देवताओं का प्यारा", तथा प्रियदर्शिन का अर्थ है—"जो देखने में प्रिय हो।" पाणिनि पर पाताञ्जलि के महाभाष्य के अनुसार देवानांप्रिय का—भवान, दीर्घायु, और आयुष्मन् की भाँति सम्मान तथा प्रसाद के अर्थ में प्रयोग किया जाता था। किन्तु कुछ समय के बाद "देवानांप्रिय" का अर्थ बदल कर 'मूर्ख' हो चला–कात्तायान का एक वार्तिक है—"देवानांप्रिय इति च (मूर्खेः) अन्यत्र—देव प्रियः (भट्टोजी दीक्षित) (सिद्धांत कौमुदी पृष्ठ २६५)।"

अशोक का नक्षत्र—पाँचवें स्तम्भ-लेख में सम्राट् ने मैना, सारिका, तोता, हंस, मछली आदि जीवों को मारने का निषेध किया है। यह स्तंभ-लेख कहता है, "देवताओं का प्रिय कहता है कि अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष मैंने निम्न पशुओं के बध का निषेध किया—'तोता, मैना, अरुण, हंस, वन-हंस, बक, सारस, जलूका, चमगीदड़, अम्बा कपालिका, दली, अनधीका-मच्छ, विदर्वी, गंगा-पुपुत्तका, संकुज-मच्छ, प्राणशासू, कच्छुआ, बारसिंहा' आदि, 'तथा अन्य चतुष्पद जो न खाये जाते हैं और न काम में आते हैं।"

इस वृत्त से मालूम होता है कि सम्राट् इस स्तंभ-लेख में आये हुए पशु-पक्षियों को पवित्र समझ उनका मारना अधर्म, अथवा पाप के अन्तर्गत समझते थे। हमारे इस पक्ष का कौटिल्य भी समर्थन

करता है। अर्थशास्त्र (श्लोक २२२) में भी कुछ ऐसे ही जीवों—जैसे, हंस, मछली आदि के मारने का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त यह स्तंभ-लेख फिर कहता है—"तिष्य और पुनर्वसु के दिन.........गाय और घोड़ों को दागा न जाय।" इस वृत्त में तिष्य और पुनर्वसु ये दो नक्षत्र आये हैं। यह बात कुछ आश्चर्य की-सी है कि सम्राट् ने क्यों केवल इन्हीं दो नक्षत्रों का नाम लिया? क्या इन नक्षत्रों से कोई विशेष तात्पर्य है, अर्थात् क्या ये दो नक्षत्र सम्राट् और प्रजा के हैं? साथ ही इन दोनों नक्षत्रों में 'तिष्य' का नाम पहिले आया है तथा लेखों में भी अधिकतर इसी नक्षत्र अर्थात् तिष्य नक्षत्र का प्रयोग किया गया है। इससे मालूम होता है कि तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों में से तिष्य नक्षत्र ज्यादा महत्त्व का है। अत: तिष्य नक्षत्र की महत्ता से सर्वथा प्रकाशित होता है कि यह नक्षत्र सम्राट् का था और पुनर्वसु प्रजा का।

अभिषेक के दिवस पर उत्सव—प्रत्येक शुभ तथा मांगलिक अवसरों जैसे जन्म और अभिषेक पर उत्सव मनाने की प्रथा बहुत प्राचीन है। जन्म और अभिषेक आदि उत्सवों के समय राजा लोग प्रसन्नता में बन्दियों को मुक्त किया करते थे। इसी भाँति पाँचवे स्तंभ-लेख में सम्राट् कहते हैं—"२६वें वर्ष यावत् तिलक होने के, मैंने २५ बार वंदियों को मुक्त किया है।" इस वृत्त से प्रकाशित है कि सम्राट् अपने अभिषेक के दिवस पर उत्सव मनाया करते थे, जिस खुशी में बन्दियों को मुक्त किया जाता था।

सम्राट् का परिवार—प्रियदर्शी अशोक ने धर्म के प्रचार के हेतु ही अपने लेखों को प्रकाशित करवाया था। सम्राट् ने स्वयं इन लेखों को धम्म-लिपि कहा है, (इयं धम्मलिपि लेखिता चिलिपित्यकता होतु) किंतु धम्म-लिपि होते हुए भी इन लेखों में अकस्मात् बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री आ गई है।

कल्हण के इस कथन से इतिहासज्ञों ने यही तथ्य निकाला है कि काश्मीर सम्राट् अशोक के अधीन था।

अशोक का सच्चा इतिहास वस्तुतः हमें उन निजी शिलालेखों से उपलब्ध होता है। इन शिलाभिलेखों की सत्यशीलता आशंकारहित है। ये शिलालेख क्या वस्तु हैं? प्रथम हम इसी बात का यहाँ पर परिचय देंगे। ये लेखप्रमाण, पाषाणों, स्तम्भों एवं गुफाओं पर अभिलिखित शिलाभिलेख हैं। ये पाषाण-लिपि अथवा शिलालेख दो प्रकार की हैं—

(१) चतुर्दश शिलाभिलेख—चतुर्दश शिलालेख चौदह विभिन्न शिलालेखों के समूह हैं। इन शिलाभिलेखों को भिन्न-भिन्न-स्थलों पर पाया गया है।

(२) गौण-शिलाभिलेख—ये दो भिन्न लेखों के रूप में हैं।

(३) स्तम्भ-लेख—ये स्तंभ-लेख भी दो प्रकार के हैं। प्रथम—सप्त—स्तम्भ-लेख और द्वितीय—गौण-स्तम्भ-लेख।

(४) गुफा अथवा गुहालेख—ये गुफालेख वे लेख हैं जो विहार के बराबर पहाड़ी की गुफाओं में खुदे पाये गये हैं।

इन सब को साथ मिला कर ३३ विभिन्न शिलालेख हैं। इन लेखों से अशोक के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है। तथा इन्हीं शिलालेखों के आधार पर अधिकतया हम इस पुस्तक में अशोक के शासन, धर्म आदि कार्य्यों के वर्णन करने का प्रयत्न करेंगे। अतः इन शिलालेखों से हमें अशोक का इतिहास जानने में बहुत कुछ सहायता मिलती है—ये शिलालेख सम्राट् के पारिवारिक जीवन पर भी यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। पाँचवाँ शिलालेख लिखता है—

"ये (धर्म-महामात्र) यहाँ (अथवा पाटलिपुत्र) तथा वाह्य दूरस्थ नगरों में मेरे तथा भाइयों और बहिनों के अन्तःपुर और मेरे अन्य सम्बन्धियों के यहाँ सर्वत्र नियुक्त हैं।" इस वृत्त से सर्वथा प्रकाशित है कि अशोक के कई भाई, बहिन तथा अन्य सम्बन्धी थे जो राज-

नगरी पाटलिपुत्र तथा बाहर के नगरों में बसे हुए थे। बहिनों के नाम का हमें कुछ पता नहीं, केवल तीन भाइयों के नाम ज्ञात हैं—तिष्य (वितासोक) सहोदर भाई, महेन्द्र, तथा सुशीम (सुमन) ज्येष्ठ भाई।

सम्राट् अशोक का अवरोध—सम्राट् की कितनी रानियाँ थीं इसका ठीक निश्चय करना कठिन है। पाँचवें शिलालेख से इतना अवश्य पता चलता है कि सम्राट् की कई रानियाँ थीं, क्योंकि इस लेख में सम्राट् ने अपने कई अवरोधों (ओलोधनेसु = अन्तःपुर) का उल्लेख किया है। इन अवरोधों में से कुछ तो पाटलिपुत्र में थे और कुछ बाहरी नगरों में स्थित थे, [हिद (पाटलिपुत्र-गिरनार) च बाहिलेसु च नगलेसु सवेसु सवेसु ओलोधनेसु (अवरोधनेषु संस्कृत) में...] यहाँ पर यह सवाल पैदा होता है कि सम्राट् के अवरोध राजनगरी के अलावा बाहरी नगरों में क्योंकर थे? यदि हम यह कहें कि ये अवरोध सम्राट् के बाहरी नगरों में रहने वाले भाइयों के ही हैं, तो यह भी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि स्पष्टतः सम्राट् इन अवरोधों को अपने अवरोध (मे ओलोधनेसु) कहते हैं। अतः निःसंदेह ये अवरोध सम्राट् की वाह्य नगरों में रहने वाली रानियों के थे। महावंश से भी मालूम होता है कि सम्राट् की एक रानी उज्जैन के पास चैत्यगिरी में रहा करती थी। महेन्दर तथा संघमित्रा इसी रानी देवी की सन्तान थीं (महावंश)। अतः प्रकाशित है कि सम्राट् अशोक का एक अवरोध अथवा अंतःपुर चैत्यनगर में था। महावंश से ही हमें यह, भी मालूम होता है कि असन्धिमित्रा अशोक की प्रधान रानी थी, (महावंश २०वाँ अध्याय)। गौण-स्तम्भ-लेख चतुर्थ से हमें अशोक की एक और रानी का पता चलता है, इस लेख में सम्राट् लिखते हैं —"देवानांप्रिय के अनुशासन से सर्वत्र महामात्रों को यह कहा जाय कि यहाँ जो कुछ भी दान द्वितीय रानी ने किये हों—चाहे आम्र-कुञ्ज, चाहे धर्म-शाला, चाहे अन्य कुछ, सब की गणना रानी के नाम किये जायँ। यह द्वितीय रानी कारुवाकी, तिवाला की माता की, विनय

हैं।" अतः प्रकाशित है कि सम्राट् की दूसरी रानी कारुवाकी थी। इस रानी से सम्राट् का तिवाला अथवा तिवारा नाम का पुत्र हुआ था। दिव्यावदान (पृष्ठ ३६७-३६८) तिष्यरक्षिता को भी सम्राट् की रानी कहता है।

गाथाओं के अनुसार पद्मावती भी सम्राट् की रानी थी। इस रानी से अशोक का कुनाल नाम का पुत्र हुआ था। पहले कुनाल का नाम धर्म-विवर्धन था। फायहान ने इस धर्म-विवर्धन को गान्धार का शासक लिखा है, (लेगस्, प्रकरण १०, पृष्ठ ३१)। इसी धर्म-विवर्धन अथवा कुनाल का पुत्र सम्राट् सम्प्रति हुआ।

सम्राट् के पुत्र—रानियों का उल्लेख करते हुए हमें पूर्व मालूम हो चुका है कि सम्राट् अशोक के, उज्जैनो, महिन्दो (अथवा महेन्द्र) और तिवारा नाम के (अथवा तिवाला) तीन पुत्र थे। किन्तु कल्हण के अनुसार अशोक का एक चौथा लड़का तालुका भी था। कल्हण-राजतरंगिणी लिखती है कि भूतेश शिव के वरदान से अशोक को यह प्राप्त हुआ था (कल्हण-राजतरंगिणी १—१०७-१२२) जालौका की रानी ईशान देवी थी, (कल्हण-राजतरंगिणी १, १०७-१२२)। पुत्रों के अलावा जैसा कि गाथाओं से पता चलता है सम्राट् अशोक की दो कन्यायें भी थीं। अपने भाइयों, बहिनों, पुत्र तथा पुत्रियों सहित अशोक के अन्य और भी कई संबन्धी जैसा कि पाँचवें शिलालेख से मालूम होता है। समासतः अशोक का बहुत भारी परिवार था। संक्षेप में गाथाओं और शिलालेखों से हमको सम्राट् अशोक के निम्न सम्बन्धों का परिचय मिलता है—

पिता—बिन्दुसार।

माता—शुभद्रांगी (उत्तरी गाथा), धर्मा (दक्षिणी गाथा)।

भाई—सुमन (सुशीम)—ज्येष्ठ तथा सोतेला भाई। वितासोक—(तिष्य) सहोदर भाई। महेन्दर—सौतेला भाई।

रानियाँ—असन्धिमित्रा, कारुवाकी, देवी अथवा विदिसा महादेवी शाक्य-कुमारी, पद्मावती, तिष्यरक्षिता।

पुत्र—महेन्दर, उज्जैनो, तिवारा (तिवाला), कुनाल। (धर्म-विवर्धन), जालौका।

पुत्री—संघमित्रा, चारुमती।

दामाद—अग्निब्रह्मा (संघमित्रा का पति, महावंश ५)। देवपाल (चारुमती का पति)।

पौत्र—दशरथ (दशलथ-देवानांप्रिय—नागार्जुन-गुफा-लेख)। सम्प्रति, सुमन (संघमित्रा का पुत्र, महावंश १३वाँ प्रकरण)।

अशोक का निभृत जीवन---सम्राट् के निभृत जीवन (Private life) का ठीक-ठीक पता लगाना बहुत कठिन है। राज्य के कार्यों से निवृत्त होने पर सम्राट् क्या किया करते थे—कहाँ समय बिताया करते थे—इसका हमको बहुत कम अपितु कुछ भी ज्ञान नहीं है। इस विषय पर शिलालेख भी वस्तुतः चुप है। केवल ६वें शिलालेख गिरनार से सम्राट् के निभृत जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इस शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "आह अतिक्रातं अंतरं न भूतपूर्व, सव कलं अथकंमे, व परिवेदना वा, ते मया एवं कतं सवे काले, भुञ्जमानस मे ओरोधनम्हि। गभागारम्हिह, वचम्हि व विनीतम्हिह च द्रयानेसु च सवत्र पटिवेदका स्तिता अथे मे जनस, परिवेदंतु मे सवा"—अर्थात्, "विगत काल में सब समय पर राजकार्य और प्रजा का राजा से आवेदन न हुआ करता था। सो मैंने ऐसा प्रबन्ध किया है कि सब समय में जब मैं खा रहा हूँ, या हरम में होऊँ, या अपने अन्तःपुर में होऊँ, चाहे व्रज में, चाहे धार्मिक शिक्षालयों में, चाहे वाटिका में, सब जगह प्रतिवेदक को आदेश दिया गया है कि वे प्रजा के कार्य की (मुझको) सूचना दें।" अत: इस शिलालेख से सर्वथा प्रकाशित होता है कि राजकार्य से निवृत्त होने पर सम्राट्—भोजनालय,

हरम, अंतःपुर, प्रमदवन, व्रज आदि स्थानों में—अपना बाकी समय बिताया करते थे।

सम्राट् का आहार—मेघस्थनीज के वर्णन से मालूम होता है कि मौर्य्य-राजाओं का भोजन साधारणतया चावल आदि भारतीय भोजन ही हुआ करता था। इसके अलावा अशोक के शिलालेख से यह भी विदित होता है कि मांस अथवा शोरबा भी राजकीय भोजन का मुख्य अंग था। दूसरा शिलालेख कहता है—"पुरा महानसिमह देवानं प्रियस प्रियदसिनो रामो अनुदिवसं ब हूनि प्राणसतसहस्रानि आरत्रिसु सूपाथाय से अज यदा अयं धम्मलिपी लिखिता तिनि मेव पानानि आलभियंति दुवे मजूला, एको मगो, सो मगो न घुवो!" अर्थात्, पहले राजकीय रसोई-घर में या रसवती में शोरबे के लिये सहस्रों प्राणी मारे जाते थे, किन्तु पीछे केवल दो मोर और कभी-कभी एक हिरण मारा जाने लगा, यद्यपि पीछे इन तीनों का मारना भी निःसंदेह बन्द कर दिया गया होगा (दूसरा शिलालेख) फलतः मालूम होता है कि सम्राट् को मांसाहार अति प्रिय था और यद्यपि पीछे वे बौद्ध हो चले थे तब भी सहसा 'शोरबा' न छोड़ सके। फिर भी तीन पशु (दो मोर या मयूर और एक हिरन) रसोई के लिये मारे ही जाते थे। किन्तु इसी शिलालेख में सम्राट् ने इन तीन जीवों को भविष्य में न मारने की प्रतिज्ञा की है। यह निश्चय ही सत्य हो सकता है कि पीछे चलकर सम्राट् ने इन शेष जीवों का भी निषेध करा दिया होगा, किन्तु उससे पहले यदि कहें कि सम्राट् मांसाहारी थे तथा मोर का मांस उन्हें सबसे अधिक प्रिय था, तो यह धारणा असत्य नहीं हो सकती। मोर या मयूरों का नियमपूर्वक मारा जाना और हिरण का कभी-कभी (मारा जाना) इस बात को प्रमाणित करता है कि सम्राट् मोर का शोरबा अधिकतया पसन्द करते थे। बुद्धघोष ने भी लिखा है कि मध्यदेश तक मगध प्रांत के लोगों को मयूर का मांस अधिक प्रिय लगता है।

किन्तु अशोक की महत्ता आज सर्वोपरि है, वे सच्चे त्यागी और पूर्ण धार्मिक थे, और जैसा कि कल्हण कहता है वे इंद्रियजीत थे। उनमें संयम था और इंद्रियाँ उनके शासन में थीं। उन्होंने अपने मन को वशीभूत कर, सारे प्रलोभनों को तिलांजलि दे अहिंसा के व्रत को अपनाया और उसी को अपना 'जयघोष' घोषित किया। आज भी असहाय दुर्बलों का हाथ सम्हालती हुई हिंसा पर सत्याग्रह द्वारा अहिंसा से विजय प्राप्त करने का आदेश करती हुई सम्राट् की वह पावनी अहिंसात्मक वाणी युगों के अंतराल से सरकती हुई हमारे हृदयों में गूँज उठती है। एक और शिलाभिलेख द्वारा सम्राट् हमें अपने निभृत्त जीवन का कुछ और आभास कराते हैं। आठवाँ शिलालेख शाहबाग-गढ़ी लिखता है—"विगत समय में राजा लोग मनोरञ्जन के हेतु अथवा विनोदार्थ विहारयात्रा के लिये निकला करते थे। किन्तु वर्तमान देवानांप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने अभिषिक्त होने के दशवें वर्ष में सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति की या बुद्ध-गया की यात्रा की, तब से यह धर्म-यात्रा प्रारंभ हुई, इस धर्मयात्रा में निम्न बातें हुआ करती हैं—"श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन तथा उन्हें दान देना, वृद्ध-जनों का दर्शन और सोने का वितरण, जनपद के लोगों से मिलना और उन्हें सदाचार तथा धर्म पर शिक्षा देना, तथा यदि उचित समझा जाय तो उनके साथ धर्म-विषय की जिज्ञासा करना।" इस शिलाभिलेख का निरीक्षण करने से मालूम होता है कि अशोक से पूर्ववर्ती राजाओं की विहारयात्रा (आखेट के लिये जाना) मनबहलाव का प्रमुख साधन था। इस प्रथा का अशोक ने भी अनुसरण किया और न्यूनतः अपने अभिषेक के दशवें वर्ष तक इसी प्रथा के अनुगामिन बने रहे। क्योंकि सम्राट् अपने शिलालेख में स्वयं स्वीकार करते हैं कि १०वें वर्ष (अभिषिक्त होने के) ही उन्होंने विहारयात्रा को धर्मयात्रा में बदला था। तत्पश्चात् सम्राट् अपना अवकाश का समय धर्म-सम्बन्धी विषयों तथा धार्मिक स्थानों की यात्रा करने में व्यतीत करने लगे। इसी समय

उन्होंने सम्बोधी, बुद्ध-गया, लुम्बिनी-वन आदि तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। किन्तु अभिषिक्त होने के १० वर्ष पहले वे अपना समय अन्य प्राचीन राजाओं की भाँति कई प्रकार के मनोरंजनों विहारयात्रा आदि में व्यय किया करते थे। इन सब मनोरञ्जनों में 'आखेट' प्रमुख मनोरञ्जन समझा जाता था। ये विहारयात्रायें कैसी होती थीं, इसका निश्चय करना कठिन है। इस विषय में सम्राट् के शिलालेखों से हमें बहुत कम ज्ञान है किन्तु चूँकि सम्राट् शिलालेखों में बहुधा आखेट का ही उल्लेख करते हैं इसलिये अनुमान किया जा सकता है कि आखेट ही विहारयात्रा का मुख्यतः विलास था। प्राचीन राजागण शिकार के अधिकतया प्रेमी हुआ करते थे। आखेट ही उनकी सर्वप्रिय क्रीड़ा की वस्तु थी। प्राचीन राजाओं की इस प्रथा को कई पुरातन राजनीतिज्ञों ने दोषपूर्ण बताया है। पिशुन कहता है—"आखेट निकृष्टतम व्यसन है क्योंकि इसके निम्न दुर्विकार हैं—डाकुओं से लूटा जाना, वेरी के कब्जे में आ जाना, हाथी के पंजे में फँसना, दावाग्नि, भय, दिग्भाग को भूल जाना, भूख, प्यास तथा जीवन के नष्ट होने का डर।" किन्तु आचार्य कौटिल्य इसका विरोध करते हुए कहते हैं—"आखेट सर्वसुन्दर व्यायाम है। आखेट द्वारा व्यायाम करने से अत्यधिक चर्बी, पसीना और पित्त की शान्ति होती है। आखेट खेलने से चलती-फिरती तथा स्थिर वस्तुओं पर लक्ष्य करना आता है तथा क्रोधित पशुओं के स्वभाव का ज्ञान होता है आदि।"[1]

सम्राट् के आखेट खेलने की पद्धति चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन मेघस्थनीज़ ने आखेट का इस प्रकार वर्णन दिया है "सम्राट् युद्ध के समय ही प्रासाद से बाहर नहीं निकला करते, अपितु न्यायधिकरण (शासन), यज्ञ (होम), तथा आखेट के लिये भी

[1] श्री कौटिल्य अर्थशास्त्र, ३२९ श्लोक।

महल से बाहर जाना पड़ता है। आखेट में सम्राट् बकैनैज़लियन (Bacchanalian) पर जाया करते हैं। स्त्रियों की एक काफी बड़ी भीड़ सम्राट् को घेरे होती है। स्त्रियों के घेरे के बाद भाले वाले सैनिक खड़े रहते हैं। राज-मार्ग रस्सी से अंकित रहता है। इस रस्सी को कोई नहीं लाँघ सकता तथा यदि कोई स्त्री अथवा पुरुष उसे लाँघ जाय तो मृत्यु का दण्ड दिया जाता है। जुलूस के आगे बाजे वाले होते हैं। प्रविष्ट स्थान से आखेट खेलते हुए सम्राट् मंच पर से तीर चलाते हैं किन्तु खुले स्थान से शिकार खेलते समय सम्राट् हाथी के पीछे होकर तीर फेंका करते हैं। आखेट में जानेवाली स्त्रियाँ, रथ, घोड़े तथा हाथियों पर सवार होती हैं। ये स्त्रियाँ शस्त्र-अशस्त्र से इस प्रकार सजी होती हैं, मानो युद्ध को जा रही हों (McCrindle Ancient India by Magasthenese and Arian, p. 71)। मौर्य्य-सम्राटों के आखेट करने का क्या ढंग अथवा तरीक़ा था, यह उपरोक्त विवरण से सर्वथा प्रकाशित है। अतः कह सकते हैं कि अभिषेक के १० वर्ष पूर्व तक सम्राट् अशोक भी इसी ढङ्ग पर आखेट खेलने को जाया करते थे। किन्तु अभिषेक के १० वर्ष पश्चात् सम्राट् ने आखेट खेलना छोड़ दिया और अब वे विहारयात्रा के बजाय धर्मयात्रा करने लगे।

बौद्ध-धर्म को ग्रहण करने से पहले सम्राट् अशोक—बौद्ध होने से पूर्व सम्राट् का जीवन कैसा था—इसका ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। किन्तु शिलालेख से जितना हम मालूम कर सके हैं उसे यहाँ पर लिखने का प्रयत्न करेंगे। पहला शिलालेख कहता है, "इयं धम्मलिपि देवानं पियेना, पियदसिना लेखिता हिदा, ना किछि जिवे आलयितु पजो हितविये नो पि चा समाजे कटविये, बहुव हि दोषा समाजसा देवानांपियें पियदसी लाजा दखति अभिवि चा एकतिया समाज साधुमता देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने पुले महानससि देवानं पिय पियदसिसा लाजिने अनुदिवसं बहुनि पान सहसानि

आलभियिसु—कालसी।" अर्थात्; "यह धम्मलिपि प्रियदर्शी राजा द्वारा अभिलिखित की गई। यहाँ न कोई जीव मारा जावे और न उसकी बलि दी जावे। न कोई समाज किया जाय। क्योंकि देवताओं का प्रिय ऐसे समाजों में कई दूषण देखता है किन्तु कुछ समाज ऐसे भी हैं जिन्हें सम्राट् स्तुत्य समझते हैं। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रति दिवस कई सौ हजार जीव शोरवे के लिये मारे जाते थे।" इस उपरोक्त शिलालेख को पढ़ कर आश्चर्य होता है कि सम्राट् के राजकीय रसोई-घर में क्योंकर कई सौ सहस्र जीव शोरवे के लिए मारे जाते थे। क्या ये सब जानवर सम्राट् के निज पारिवारिक लोगों के खाने के हेतु मारे जाते थे? किंतु यह भी असम्भव-सा प्रतीत होता है। यदि साधारणतया हिसाब लगाया जाय तो एक पशु तथा हिरन ६ स्त्री-पुरुषों के लिये काफी है। अत: इस हिसाब के अनुसार सौ सहस्र अर्थात् एक लाख पशुओं को १००,००० × ६ = ६००,००० लाख स्त्री तथा पुरुष खा सकेंगे, किंतु चूँकि शिलालेख बहुवचन का प्रयोग करता है, इसलिये, २००,००० पशुओं को १२०,००० लाख आदमी खाने के लिये चाहिये। यदि यह भी माना जाय कि इन जीवों में आधी संख्या पक्षियों की भी है तो फिर भी ६००,०००, ६ लाख आदमी अनिवार्य हैं। तब क्या यह संभव है कि सम्राट् के अपने परिवार में नौकरों तथा सेवकों समेत ६००,००० स्त्री-पुरुष थे। अतः यह कहा जा सकता है कि सारी राजनगरी की प्रजा को जिमाने के लिये ही सम्राट् इतने जीवों को मरवाया करते थे। यह बात अत्यधिक आश्चर्य की नहीं समझनी चाहिये। महाभारत में भी रन्तिदेव नाम के एक ऐसे राजा का उल्लेख आया है, जो अपनी प्रजा को जिमाने के लिये रोज कई सहस्रों जीवों का शोरबा बनवाया करता था।[1] इसके साथ ही महावंश भी लिखता है कि सम्राट् अशोक बौद्ध-धर्म ग्रहण करने से पहले

[1]वनपर्व—आठ अध्याय, पृष्ठ ११३९, हिन्दी महाभारत इं० प्रे०।

६०,००० ब्राह्मणों को जिमाया करते थे, (देखिए महावंश प्रकरण ५)। अतः प्रकाशित है कि कई सौ-सहस्र प्राणियों का बध प्रजा को जिमाने के लिये ही किया जाता था इन पूर्वनिर्दिष्ट वृत्तों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन राजाओं में प्रजा को जिमाने की प्रथा थी। साथ ही जिस परिस्थिति में चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने मगध के राजसिंहासन पर अधिकार प्राप्त किया था, उस कारण, संभवतया अभी भी बहुत से लोग मगध में ऐसे थे, जो मौर्य्यों के शासन को स्वीकार नहीं करना चाहते थे, अतः इन लोगों की असंतुष्टता के कारण अशोक को भी राज्य के खो जाने का भय बना हुआ था। इसलिये अशोक संभवतया लोगों को अपनी ओर लाने के लिये ही, उन्हें भोज दिया करते थे। इस बात पर हमें आश्चर्य न करना चाहिये, क्योंकि हमें मालूम है कि अलाउद्दीन खिलजी ने जब जल्लालुद्दीन खिलजी को मार कर शासन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, तो प्रजा के असंतोष के भय से उसने लोगों को अपना पक्ष ग्रहण करवाने के लिये खूब रुपया बाँटा था। जिससे लोग पहले वाले राजा को भूल जाय और उसकी ही उदारता की सराहना करने लगें।

समाज—शासनकाल के प्रारम्भिक भाग में सम्राट् अशोक "समाज" द्वारा प्रजा का मनोरंजन किया करते थे। ये "समाज" क्या हुआ करते थे, यही हमको मालूम करना है। सेनार्ट "समाज" को उत्सव (Festivals) कहता है (Festius Senart, p. 50)। किन्तु बूलेर (Buhler) समाज को 'मेला' बतलाता है, (Meta Buhler ZDMG XXXVII, pp. 93-4—Meta oder Meta)। खारामेल-लेख, में भी समाज को उत्सव कहा गया है। महाभारत में धनुष-युद्ध के लिये समाज कहा गया है (J.R.A.S, pp. 93)। किन्तु "हरिवंश" मल्ल-युद्ध करने को समाज कहता है। मेघस्थनीज के विवरण से भी मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त के समय घोड़े और बैल-गाड़ियों की दौड़, तथा,

हाथी, बारहसिंहा, सांड, मेढ़ा, आदियों की मनोविनोद के लिये लड़ाई हुआ करती थी। इन सब विवरणों के आधार पर कह सकते हैं कि समाज के उत्सव थे, जिनमें धनुष-युद्ध, मल्ल-युद्ध, घोड़े-गाड़ी, और बैल-गाड़ियों की दौड़, तथा जानवरों की लड़ाई हुआ करती थी। तथा बुलेर के अनुसार समाज में खान-पान गोष्ठी भी हुआ करती थी—अतः इस अवसर पर लोग मांस तथा मदिरा का ख़ूब व्यवहार करते थे। यही कारण है कि सम्राट् ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण करने के उपरान्त इन समाजों को बुरा कह कर बन्द करवा दिया। निःसंदेह ये समाज हिंसात्मक तथा अमर्यादित होने के कारण धर्म को आघात पहुँचाने वाले थे। बुलेर की सम्मति में ये समाज राजविद्रोहात्मक भी हुआ करते थे। अतः सम्राट् का इन समाजों को बन्द करवाना अनिवार्य एवं आवश्यक था। किन्तु, इसके अतिरिक्त एक और प्रकार का समाज भी हुआ करता था—इस समाज को सम्राट् ने अच्छा कहा है। यह समाज क्यों अच्छा था—इसका स्पष्टीकरण चतुर्थ शिलालेख कर देता है। चतुर्थ शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"अज देवेन प्रियस प्रियद्रशिनेर ने ध्रमचरणेन भेरिघोषे, अहो ध्रमघोषे विमन द्रशन, अगिकंधानि अञ्ञनि च, दिवनि रुपनि—द्रशेति जनस (मानसेरा)।" अर्थात् "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण के फलस्वरूप भेरीनाद (वीरघोष) धर्मघोष हुआ तथा लोगों को विमान के दर्शन, हस्तियों के दर्शन, अग्निस्कंध आदि अन्य दिव्य रूपों के दर्शन कराये गये।" इस वृत्त से प्रकाशित होता है कि इस दूसरे प्रकार के समाज में विमान के दर्शन, हस्तियों के दर्शन, अग्निस्कंध आदि धार्मिक दिव्य रूपों के दर्शन कराये जाते थे, और इसी कारण यह समाज अच्छा समाज माना जाता था।

कलिंग-विजय और सम्राट् का धर्म-परिवर्तन—अशोक के जीवन की एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है—कलिंग का युद्ध। कलिंग-युद्ध सम्राट् अशोक के जीवन का परिवर्तन-काल माना जा सकता है,

अपितु यह युद्ध सम्राट् के जीवन को---पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध—दो भागों में बाँट देता है। पूर्वार्द्ध जीवन जन्म से प्रारम्भ होकर, कलिंग-युद्ध में समाप्त हो जाता है।

इसके बाद अशोक के उत्तरार्द्ध-जीवन का दूसरा भाग आरम्भ होता है। इस भाग में सम्राट् अपने नवीन रूप में धर्मघोष करते हुए प्रकट होते हैं और अन्त तक धर्म-पराक्रम करते हुए चले जाते हैं।

इतिहास के चरित्राख्यानों में हम कोई भी चरित्र ऐसा नहीं पाते जिसका हृदय बच्चों जैसा कोमल, फूलों के समान सुन्दर भावनाओं से सुरभित, कवि-सा भावुक और राजा होते हुए भी मानवीय गुणों से परिपूर्ण रहा हो। किंतु ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत के इतिहास में एक ऐसे ही, चरित्र का प्रादुर्भाव हुआ था, जो विश्व के इतिहास में भिक्षु सम्राट् अशोक के नाम से प्रख्यात हुआ।

सम्राट् अशोक मुख्यतः मानव थे। एक समय राजकीय भावावेश में आ कर अशोक ने कलिंग को युद्ध में परास्त कर विजय किया, किन्तु विजय करने के उपरान्त सम्राट् को भली भाँति मालूम हो गया कि 'विजय' और 'युद्ध' का अर्थ कितना भयानक और भीषण है। युद्ध के दानवी परिणामों को देख कर सम्राट् का कोमल हृदय विचलित हो उठा, और यह युद्ध अन्त तक सम्राट् के जीवन-मार्ग का 'पाषाण' (Mile Stone) बन कर रहा। यह कलिंग-युद्ध सम्राट् अशोक का प्रथम और अन्तिम युद्ध था। इस भयंकर युद्ध का वर्णन करने से पहले, पाठकों को, अशोक के समकालीन कलिंग देश की एक झाँकी दिखला देना आवश्यक है। इससे पढ़ने वालों को विदित हो जायगा कि विजित होने से पहले कलिंग की क्या अवस्था थी।

कलिंग प्रांत का वर्णन करते हुए चीनी यात्री ह्वेनसांग लिखता है—"इस कलिंग प्रदेश की परिधि दो सौ (२००) ली है। इसकी राजनगरी बीस (२०) ली है। यह प्रांत खूब उपजाऊ है। यहाँ खेती का कार्य विधिवत् किया जाता है। यह प्रदेश फल और फूलों के वृक्षों से

गुलजार है। इस प्रदेश में सैकड़ों ली तक विस्तृत फैले हुए मनोरम वन्य और अटवी जंगल हैं। यहाँ बड़े-बड़े भूरे हाथी पाये जाते हैं। इन हाथियों की पड़ोसी परदेसों में बड़ी माँग है। जल-वायु सूर्योत्पल और तापपूर्ण है। यद्यपि यहाँ के लोग अधिकतर रुक्ष और असभ्य हैं, किन्तु वे सत्यवादी तथा विश्वसनीय हैं।" कलिंग देश का यह वर्णन उस समय का है जब ह्वेनसांग ने भारत पर्यटन किया था। आगे चल कर ह्वेनसांग फिर लिखता है—"प्राचीन काल में कलिंग का राष्ट्र बहुत ही घना बसा हुआ था। यहाँ की अगण्य जनसंख्या थी। यहाँ के लोगों के कंधे (स्कंध) एक दूसरे से रगड़ खाते, वहाँ के लोगों के रथों के पहिए (धुरियाँ) आपस में टकराते थे; अपितु जब वे अपने हाथों की आस्तीनों को ऊपर उठाते थे तो एक संपन्न उपकारिका या खेमा तैयार हो जाता था। वहाँ एक पाँच आध्यात्मिक शक्तियों वाला ऋषि उच्च स्थान पर समाधि लिये पवित्र मन्त्रों को जपा करता था। अपनी शक्ति के क्षीण होने पर, कलिङ्ग के लोगों ने उसका तिरस्कार किया। इस तिरस्कार से क्रुद्ध हो ऋषि ने शाप दिया कि कलिंग की सम्पूर्ण जनता वृद्ध, बाल, युवा सब विनष्ट हो जायें। इस दुर्वृत्त शाप के फलस्वरूप, ज्ञानी, भोले, सरल, निरपराध, तरुणी, युवा, बच्चे सब की एक ही गति हुई। इस प्रकार कलिङ्ग की सम्पूर्ण जनता तिरोधान हो चली।"[1]

यह वृत्त सम्राट् के शिलालेख में दिये हुए भयानक हत्याकांड का साक्षी है, अपितु उसी हत्याकांड का उल्लेख करता हुआ-सा मालूम पड़ता है। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि कलिङ्ग एक सुसंपन्न और समृद्धिशाली प्रांत था। इस देश की जनसंख्या अगण्य थी। यह प्रांत काफ़ी उपजाऊ था और लोग हर्षोत्पल थे। वहाँ के हाथी हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ हुआ करते थे। ये हाथी बहुमूल्य थे क्योंकि प्राचीन काल में हाथी सेना की प्रधान शक्ति समझी जाती थी। इन्हीं हाथियों को देख कर सिकन्दर महान् भी भयार्त्त हो उठा था। ऐसे समृद्धिशाली

[1] Si-yu-ki, S. Beal, V. II, pp. 207-8.

देश, विशाल जनसंख्या और हस्तियों के प्रदेश का राजा कैसा शक्तिवान् होगा, इसका अनुमान मेघस्थनीज़ के वर्णन से किया जा सकता है। वह लिखता है—"कलिंग-राज के शरीर-रक्षकों में से ६०,००० पैदल, १०,००० अश्वारोही और ७०० हाथी थे।" (Fragsn. I. VI.)

सम्राट् के शिलालेख से भी हमको कलिंग की अपार सेना का उल्लेख मिलता है। १३वाँ शिलालेख लिखता है—"अभिषिक्त होने के ८वें वर्ष, देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंग विजय किया। यहाँ से डेढ़ लाख मनुष्य बाहर ले जाये गए, एक लाख आहत हुए, और उससे कई अधिक मरे।"

इस शिलालेख से साफ़ मालूम होता है कि कलिंग की सैन्य की संख्या बहुत भारी थी—यहाँ से डेढ़ लाख आदमी क़ैद कर बाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए, और जो मरे यदि उनकी संख्या आहत होने वालों से तिगुनी ली जाय अर्थात् उनकी संख्या तीन लाख हो तो कुल सैन्य की संख्या होगी = $१\frac{१}{२} + १ + ३ = ५\frac{१}{२}$ लाख। अतः प्रकाशित है कि कलिंग जैसे छोटे प्रदेश के वीर सैनिकों की संख्या, जिसने सबल राष्ट्र के अनौचित्य आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता की वेदी पर सहर्ष अपने प्राणों की आहुति दी, निःसन्देह साढ़े पाँच लाख के लगभग थी।

अतः सर्वथा प्रकाशित है कि कलिंग-राज की विशाल वीर-वाहिनी एक प्रबल राष्ट्र की सेना से किसी भी प्रकार कम न थी। किन्तु अब विचारणीय प्रश्न यह है कि अशोक ने कलिंग-राष्ट्र को विजय करने की क्यों ठानी? तथा सम्भवतः इसका क्या कारण हो सकता है? इस प्रश्न को श्री भंडारकरजी इस प्रकार हल करते हैं। "कलिंग सम्राट् अशोक की अन्तर-राजनीति (body-politic) में कंटक-स्वरूप था। १३वें शिलालेख से ज्ञात है कि आंध्र और परिन्दा के प्रांत अशोक के साम्राज्य के अन्तर्भूत थे। सामान्यतः आंध्र कृष्णा और कावेरी-मण्डल (ज़िले) का प्रदेश था। क्योंकि सम्राट्

की राजनगरी पाटलिपुत्र थी, अस्तु यह अनुमान करना असङ्गत नहीं कि वर्तमान बङ्गाल का गुरुतर भाग साम्राज्य के अन्तर्गत था। इससे ज्ञात होता है कि (यदि मेरा अनुमान सत्य हो) "परिंदा" सम्भवतः साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर, कहीं बङ्गाल में था। अतः कलिंग अन्तर-राजनीति में एक कील की तरह गड़ा था, जो कभी भी दक्षिण के चोड़-राज्य से गुप्त-मन्त्रणा कर सकता था। अतः राष्ट्र की कुशलता और एकीकरण के लिए कलिंग विजय करना परम आवश्यक था, और यही सम्राट् ने किया भी।"

किन्तु पूर्वनिर्दिष्ट कारण के अतिरिक्त हम इस युद्ध के कुछ और कारणों का अनुमान भी कर सकते हैं। खाराभेल-लेख से मालूम होता है कि कलिंग पहले नन्दवंशीय राजाओं के अधिकार में था, किन्तु जिस समय मौर्य्य चन्द्रगुप्त ने विद्रोह किया, सम्भवतया उसी समय कलिंग भी मगध राष्ट्र से स्वतन्त्र हो चला था। अतः कलिंग नन्दवंशीय राजाओं के समय से ही मगध-साम्राज्य का एक अङ्ग था। इसलिए मगध-राष्ट्र के खोये हुए प्रान्त को फिर से उपलब्ध करने की अभि-लाषा ही से संभवतया, प्रेरित होकर अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की थी। अतः प्रकाशित होता है कि मगध-साम्राज्य कलिंग पर अपना स्वत्व समझता था जिस हेतु उसको असंख्य प्राणियों का रक्त बहाना पड़ा।

दूसरा संभय कारण कलिंग की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति थी। कलिंग एक समृद्धिशाली एवं वीर प्रदेश था। उसकी सेना असंख्य थी तथा वह सर्व प्रकार उन्नति पर था। अतः मौर्य्य-साम्राज्य के लिये उसकी प्रबलता घातक बन रही थी। कलिंग के कारण मौर्य्य-राष्ट्र का एकीकरण होना असंभव था, अपितु कलिंग की प्रबलता मौर्य्य-साम्राज्य के लिये घातक थी।

अत: इन्हीं सब कारणों से कलिंग विजय करना आवश्यक था। किन्तु इस विजय का परिणाम क्या हुआ—यह "धर्म" के अगले

प्रकरणों से मालूम होगा। वस्तुतः यह युद्ध कलिंग विजय समेत "आध्यात्मिक" विजय का भी कारण हुआ। इस युद्ध के समय से ही सम्राट् का धार्मिक जीवन प्रारम्भ हुआ और अब सम्राट् की विजय शस्त्र के अलावा धर्म से चरितार्थ की जाने लगी। कलिंग-युद्ध के अनन्तर सम्राट् ने कहा था—"भेरीघोष (भेरीनाद) अब धर्मघोष में परिवर्तित कर दिया गया है।"

कलिंग-युद्ध के सिवाय शिलालेखों से हमें किसी अन्य युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता है, अतः कलिंग-विजय के बाद सम्राट् ने शस्त्रों से विजय करना छोड़ दिया। किन्तु काश्मीरी गाथाओं के अनुसार अशोक ने काश्मीर को भी विजय किया था, किन्तु काश्मीर की विजय निःसंदेह कलिंग से पहले की है, तथा संभवतया काश्मीर को चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने ही उसे अपने समय में विजय कर लिया था।

कलिंग-युद्ध के पश्चात् सम्राट् का उत्तरार्द्ध जीवन आरम्भ होता है—यह जीवन सम्राट् के धर्म-पराक्रम, धर्म-विजय तथा धर्म-प्रचार का जीवन है। यह सब अगले प्रकरणों में लिखा जायगा।

दूसरा प्रकरण

साम्राज्य की सीमाएँ और विस्तार

इतिहास की धुँधली गोधूलि में खड़े होकर हमें अशोक के साम्राज्य का पता लगाने में, तथा उसकी नियमित सीमाओं को निर्धारित करने में पुनः शिलालेख आदि के धीमे प्रकाश को ही हाथ में लेकर चलना पड़ता है। बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित हो आती यदि सम्राट् अशोक उस दूरस्थ विगत काल से शिलालेखों के माध्यम द्वारा, अपनी उस पावन वाणी में हमसे बातें न करता—वह वाणी जो अभी भी पाषाणों में जीवित है और हमें द्रवीभूत करती है।

अशोक प्रतापी मौर्य्य चन्द्रगुप्त का नाती था, जिसने जैसा कि पहले कह चुके हैं; जनरल सिल्यूकस के, सिकन्दर की विजयों को पुनर्जीवित करने का उपक्रम विनष्ट कर उत्तरी भारत पर एकछत्र शासन स्थापित किया था। इस भाँति मौर्य्य-राज्य एक सुदृढ़ राष्ट्र था जिसका अधिपति धार्मिकी अशोक हुआ। उन्हें इसके विस्तार तथा रक्षा के लिये खड्ग की शरण न लेनी पड़ी। यद्यपि कुछ सीमाप्रांत स्वतंत्र रहे। और जैसा कि पहले वर्णन हो चुका है अशोक ने करीब २६१ ई० पू० केवल कलिङ्ग विजय किया था। इस कलिङ्ग युद्ध के पश्चात् सम्राट् का नवीन जन्म हुआ। इस युद्ध की भीषणता से सम्राट् दुखित हो चले। उन्होंने तत्पश्चात् बुद्ध के कल्याण-मार्ग का अनुसरण किया। तथा इसके बाद उन्होंने धर्म-विजय आरम्भ की। उस धर्मविजयी सम्राट् का साम्राज्य कहाँ तक निश्चय रूप से फैला हुआ था, इसी विषय की हम इस प्रकरण में यथासंभव पूर्ण रूप से विवेचना करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम अशोक के राज्य का विस्तार हम शिलाभिलेखों तथा स्तम्भों के भौगोलिक विभाजन से मालूम करते हैं। ये शिलाभिलेख समस्त भारतवर्ष में मिलते हैं। शिलाभिलेखों द्वारा हमें दो तरह से राज्य की सीमाओं का ज्ञान होता है। एक तो जिन जगहों पर वे पाये जाते हैं, (अर्थात् शिलालेखों और स्तंभों के भौगोलिक विभाजन से ही) तथा जो उनमें लिखा है (उससे), (अर्थात् शिला और स्तंभों की लेखमाला से)। इन दो आधारों पर ही हम उनके साम्राज्य का विस्तार मालूम कर सकते हैं।

शिलालेखों आदि के भौगोलिक बँटवारे का निदर्शन करने के लिये प्रथम उत्तर से ही चलिये। उत्तर की ओर चतुर्दश शिलालेखों की तीसरी प्रति हमें कालसी नामक एक गाँव में उपलब्ध होती है। कालसी यह देहरादून जिले के अंतर्भूत है। यह गाँव चकरौता के रास्ते में पड़ता है। यह प्रति उसी जगह पर पाई गई है, जहाँ पर से यमुना अपने जन्मदाता हिमालय की गोद से बिदा लेती है।

पश्चिम की ओर चलते हुए हमें चौथी और पाँचवीं दो प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। इनमें से एक प्रति 'मानसेरा' में पाई गई है। यह मानसेरा, ऐबोटाबाद से १५ मील की दूरी पर उत्तर की ओर हज़ारा ज़िले में है। दूसरी 'प्रति' पेशावर जिले के शाहबाजगढ़ी नाम के स्थान पर पाई गई है। शाहबाजगढ़ी पेशावर के उत्तर-पूर्व में चालीस मील की दूरी पर है। यहाँ से दक्षिण की ओर मुड़ते हुए, पश्चिमी किनारे पर पहुँच कर, हमें एक और 'प्रति' गिरनार या जुनागढ़ के समीप सौराष्ट्र (काठियावाड़) में मिलती है। ये लेख सुरम्य झील के ऊपर एक पाषाण पर खुदे हैं। यह झील 'सुदर्शना' झील के नाम से प्रख्यात है। रुद्रदामन के लेख से (१५० ई०) विदित है कि यह मनोहारी झील जुनागढ़ के समीप रैवा तक और ऊरायत पहाड़ियों पर पालासिनी तथा अन्य नदियों के पानी को रोक कर, मौर्य्य-राजाओं से निर्मित की गई थी।

दूसरी प्रति सोपारा, थाना ज़िले में मिली है । सोपारा बम्बई के सैंतीस मील (३७ मील) उत्तर की ओर है। चतुर्दश शिलालेखों की एक दूसरी 'प्रति' हाल ही में, मद्रास-प्रांत में कुरनूल जिले के, एरागुढ़ी (Yerragudi) नामक स्थान पर उपलब्ध हुई है। दूसरा शिलालेख हमें धौली में प्राप्त हुआ है। धौली पुरी ज़िले में भुवनेश्वर के पास स्थित है। एक अन्य प्रति जौगुडा में मिली है। जौगुडा, गंजाम ज़िले में ऋषिकुल नदी के ऊपर अवस्थित है। इनके अलावा गौण शिलाभिलेखों की प्रतियाँ उत्तर मैसूर के चिहलदुर्ग ज़िले में, निम्न स्थानों पर पाई गई हैं—सिद्धपुर, जतिङ्ग, रामेश्वर और ब्रह्मगिरी। जबलपुर के पास रूपनाथ नामक एक तीर्थ-यात्रा का स्थान है। यहाँ पर भी गौण-शिलाभिलेख की एक प्रति उपलब्ध हुई है। बिहार प्रांत के शहसराम नामक स्थान पर भी गौण-शिलालेख की प्रति मिली है। बैराट, जयपुर-राजपूताना में भी गौण-शिलालेख उपलब्ध हुआ है। बैराट की एक दूसरी पहाड़ी पर आबरू में भी गौण-शिलालेख की 'प्रति' प्राप्त हुई है। इसके अलावा निजाम के राज्य में मास्की नामक स्थान पर भी गौण-शिलालेख उपलब्ध हुआ है। इन शिलाभिलेखों के स्थानों का निदर्शन कर अब स्तंभलेखों के स्थान का निर्णय किया जायेगा।

ये स्तंभलेख निम्न स्थानों पर स्थापित किये गये थे—(१) अम्बाला के पास नोपारा में, (२) मेरठ में—कहा जाता है कि इन दोनों स्तम्भों को देहली का सुल्तान फिरोजशाह तुगलक बड़ी कठिनाई एवं प्रयत्न के साथ देहली ले गया था। इन स्तंभों के ले जाने के हेतु ४२ पहियों की गाड़ी बनाई गई थी। प्रत्येक पहिये पर रस्सी बँधी थी। और प्रत्येक रस्से को खींचने के लिये दो सौ आदमी तैनात थे। (३) तीसरा स्तंभ 'कौसाम्बी' में खड़ा किया गया था। इस स्तंभ को संभवतया अकबर कौसाम्बी से हटा कर इलाहाबाद ले गया था। (४) चौथा स्तंभ लौरिया अराराज (चम्पारन ज़िले के राधिया नामक

स्थान पर)। (५) लौरिया नन्दनगढ़ (चम्पारन ज़िले में ही)। (६) रामपुरुवा (चम्पारन ज़िले में)।

गौण-स्तंभलेखों के स्थान जहाँ वे पाये गये हैं—

(१) बनारस के पास सारनाथ में,

(२) नैपाल के रुमिनिन्दी नामक स्थान में,

(३) निगलिवा (नैपाल की तराई में)।

शिलालेखों, गौण-शिलाभिलेखों, स्तम्भों और गौण-स्तंभों के इस विस्तृत भौगोलिक विभाजन से स्पष्ट है कि अशोक का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। उनके शासन-सूर्य्य की प्रखर स्वर्णिम किरणें हिमालय के श्वेत मस्तक का आलिंगन करती हुई समुद्र के अधरों का चुम्बन लेती थीं। इसी से चतुर्दश शिलालेख में सम्राट् गौरवता के साथ कहते हैं, "मेरा साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत है, और पृथ्वी (सम्पूर्ण विश्व) मेरे अधीनस्थ है।" सम्राट् का यह कथन निःसंशय अक्षरशः सत्य है।

शिलाभिलेखों और स्तंभलेखों के अतिरिक्त सम्राट् के स्तूपों से भी साम्राज्य का विस्तार मालूम होता है।

एक समय सम्राट् ने आचार्य मोगालिपुत्त तिस्स से पूछा—"भगवान् के क्या सिद्धान्त हैं?" इस पर मोगाली के पुत्र तिस्सो ने उत्तर दिया। जब राजा को मालूम हुआ कि धर्म के ८४,००० हजार मत या अभिप्राय हैं—वह चिल्लाया, "मैं प्रत्येक के लिये एक विहार समर्पित करूँगा।" चौरासी हजार विहारों के लिये नब्बे हजार (९०,००० घोड़) कोटि खजाना वितरण करते हुए अशोक ने स्थानीय राजाओं द्वारा जम्बुदीप के चौरासी हज़ार नगरों में विहार बनवाये। और पाटलिपुत्र (पुप्पहपुर) के 'अशोकराम' विहार का कार्य अपने आप लिया।[1] इसी गाथा को फहियान ने दूसरे ही शब्दों में लिखा है, इस

[1] महावंश, प्रकरण ५।

वर्णन के अनुसार "अशोक आठ स्तूपों (तोप) को नष्ट कर उनकी जगह चौरासी हज़ार (८४,०००) तोप अथवा स्तूप बनाना चाहता था।"[1] गाथायें जो कुछ भी कहें, किन्तु अशोक से निर्मित कुछ स्तूपों का अवश्य पता लगा है। फलत: काश्मीर और नैपाल में अशोक के स्तूपों का पाया जाना इस विषय के प्रमाण हैं कि ये दोनों देश साम्राज्य के अन्तर्गत थे। कल्हण राजतरंगिणी (ग्रंथ १, १०१, १०७) के अनुसार जैसा कि पहले कह आये हैं अशोक काश्मीर का सम्राट् था। काश्मीर की राजनगरी श्रीनगर का अशोक ने ही निर्माण करवाया था। नैपाल में भी अशोक ने एक और नगर बनवाया था।

ह्वेनसांग को काफिस (काफिरस्तान) में भी अशोक के स्तूप मिले थे। तथा जलालाबाद (उत्तर-पश्चिम में) और उदयन में भी ह्वेनसांग ने अशोक के स्तूपों को देखा था। ताम्रलिपी में भी सम्राट् का स्तूप मिला है इससे सिद्ध होता है कि बंगाल भी साम्राज्य के अंतर्गत था। ताम्रलिपी (बंगाल) प्राचीन काल में एक प्रमुख बन्दरगाह था। दक्षिण के यात्री बहुधा इसी बन्दरगाह से सामुद्रिक यात्रा किया करते थे। ह्वेनसांग को एक और स्तूप समाताता की (ब्रह्मपुत्र का डेल्टा) राजनगरी में भी मिला था। इनके अलावा कई अन्य स्तूप निम्न स्थानों पर पाये गये हैं—

(१) पुण्यवर्धन (उत्तरी बंगाल)।

(२) कर्नसुर्वन (वर्तमान वर्दवान)।

(३) वीरभूम (ज़िले में)।

(४) मुर्शिदाबाद (ज़िले में)।

(५) चोड़ (प्रांत)—ह्वेनसांग को यहाँ एक स्तूप मिला था।

(६) द्रविड़—यहाँ भी ह्वेनसांग ने स्तूप (अशोक का) देखा था। इन स्तूपों से भी साम्राज्य के विस्तार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

---

[1] Legge's—p. 69

महावंश के अनुसार तथा राजनीति के अनुसार भी, जहाँ कहीं स्तूप पाये जाते हैं, उन सब का अधीनस्थ होना अनिवार्य है। राजा अपने अधीनस्थ प्रदेशों में ही स्तूप निर्माण करवा सकते थे।

साम्राज्य के विस्तार अथवा राज्य की सीमाओं को निर्धारित करने के लिये शिलाभिलेखों की अंतरंग साक्षी भी बड़े काम की वस्तु है। इन शिलालेखों में अशोक ने अपने समकालीन राजाओं का उल्लेख किया है। इन लेखों को ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से साम्राज्य का विस्तार पूर्ण रूप से निर्धारित हो सकता है। सीमाओं का निर्णय करने के लिये, द्वितीय, पंचम और त्रयोदश शिलालेख प्रमुख अर्थ के हैं।

द्वितीय शिलालेख गिरनार लिखता है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अपने विजित राज्य में तथा अन्य सीमांत प्रदेशों में जैसे चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र (या सत्यपुत) केरलपुत्र (पुत) और ताम्रपर्णी के प्रदेशों में तथा यवनराज एंटिओकस, और अन्य राजा जो उस एंटीओकस के पड़ोसी राजा हैं (वहाँ), (और) प्रत्येक जगह दो प्रकार की चिकित्साओं—(मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा) का प्रबन्ध करवाया है।"

पंचम शिलालेख मानसेरा में महामात्रों का उल्लेख करते हुए सम्राट् कहते हैं, "विगत काल में धर्ममहामात्र न नियत किये जाते थे (न थे)। किन्तु अभिषिक्त होने के १३वें वर्ष मैंने धर्ममहामात्रों को नियत किया। वे सब सम्प्रदायों (धर्मों) में धर्म की स्थापना और उन्नति के लिये नियत हैं। वे धर्मगामिन् लोगों के सुख और भलाई के लिये नियत हैं। वे यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिकों, पैठानिकों तथा पश्चिमी सीमा-प्रान्त (के लोगों) या (अपरन्ता) के अन्य लोगों के लिये नियत हैं। वे भट और दास वेतनभोगी नौकरों, ब्राह्मण, साधु और गृहस्थों, असहायों और जीर्ण बुड्ढों की भलाई और सुख के लिये नियत हैं। तथा धर्मानुगामिन लोगों की रक्षा के लिये नियुक्त हैं।"

त्रयोदश शिलालेख शाहबाजगढ़ी लिखता है—

"ऐसा कोई जनपद नहीं है जहाँ ये वर्ग (जातियाँ) न पाई जाती हों। जैसे ब्राह्मण, श्रमण, साधु सिवाय यवन जनपद के। ऐसा कोई जनपद नहीं है जहाँ के मनुष्यों की किसी न किसी धर्म में प्रीति न हो। कलिंग (युद्ध) में जितने लोग आहत हुए, निधन किये गये, और बन्दी बनाये गये, यदि उनका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी यदि आहत किया जाता, निधन किया जाता या बन्दी बनाया जाता, तो आज यह देवताओं के प्रिय को असीम दुःखदायक होता। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो बुराई करे उसे भी यदि हो सके तो क्षमा किया जाय। जो वननिवासी देवताओं के प्रिय के विजित राज्य में हैं, उनको भी वह मनाता है और धर्म-मार्ग पर लाना चाहता है कि जिससे देवताओं के प्रिय को पछतावा न हो, उन्हें यह बता दिया गया है कि देवताओं के प्रिय के पछतावे में कितनी शक्ति है। जिससे वे अपने दोषों पर लज्जित हों और नष्ट न हों (मारे न जायें)। देवताओं का प्रिय सर्व जीवों अक्षति, संयम, समता (अपक्षपात) और आनंद का अभिलाषी है। जो धर्म-विजय है (वही) उसे ही देवताओं का प्रिय अच्छा समझता है। यह विजय (धर्म-विजय) देवताओं के प्रिय को यहाँ (अपने विजित राज्य में) तथा सब सीमान्त प्रदेशों में छः सौ योजन तक जहाँ यवन-राज अन्तियोकस तथा अन्य चार राजा, टालिमी, (तुरमय), अन्तिगोनस (अन्तिकिन), मग तथा अलिकसुदर (के राज्य) हैं, तथा नीचे (दक्षिण की ओर) (जहाँ) चोड़, पांड्य, तथा ताम्रपर्णी हैं (यह धर्म-विजय) प्राप्त हुई है।"

इन शिलालेखों से हमें दो प्रकार के राज्यों अथवा राजाओं का पता लगता है। इन दो प्रकार के राज्यों में से कुछ राज्य (राजा) साम्राज्य की सीमाओं पर थे। ये राज्य बहुधा स्वतंत्र वा अर्द्ध-स्वतंत्र थे। अन्य राज्य वे थे जो विजित होने से साम्राज्य में सम्मिलित थे। शिलाभिलेखों में अशोक के समकालीन निम्न राजाओं का नाम दिया

गया है—(१) तुरमय (टालिमी), अन्तिगोनस (अन्तिकिन), मग, अलिकसुदर। ये राजा स्वतंत्र ही थे; इन्हें अशोक के अधीनस्थ न लेना चाहिये।

साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर निम्न राज्य थे—(१) चोड़, (२) पांड्य, (३) सत्यपुत्र (सत्यपुत), (४) केरलपुत्र (केरलपुत) और (५) ताम्रपर्णी के राज्य। अशोक ने स्वयं इन राज्यों को सीमान्त कहा है, अतः ये राज्य साम्राज्य से अलग स्वतंत्र राज्य ही थे। (१३वाँ प्रज्ञापन)

१३वें शिलालेख शाहबाजगढ़ी में निम्न राज्य—यवन, कम्बोज, भोज, पितनिक, आंध्र और पुलिंद[1]—साम्राज्य के अन्तर्भूत दिये गये हैं। किन्तु पंचम शिलालेख में इन्हीं को (राज्यों को) पश्चिमी सीमा पर अवस्थित बतलाया गया है।

साम्राज्य के विस्तार को व्यवस्थित रूप से निर्धारित करने के लिये इन उपरोक्त यवन (वैदेशिक) राज्यों के निर्दिष्ट स्थान का ठीक-ठीक निश्चय करना आवश्यक है। प्रथम यवन-राज्यों को ही लीजिए। ये यवन कौन थे तथा उनके राज्य कहाँ-कहाँ पर थे। यही प्रथम हमको हल करना है। यवन, ये लोग यूनानी (यूनान के Greeks) थे यह तो निश्चय ही है, परन्तु उनके राज्य किन-किन स्थानों पर थे, यही हमको देखना है। एक बात कम से कम सम्राट् के १३वें शिलालेख से स्पष्ट ही है कि वे साम्राज्य में सम्मिलित थे। अतः वे साम्राज्य के किस भाग पर स्थित थे ? क्योंकि निःसन्देह साम्राज्य के अंतर्गत होने से, यह सत्य ही है कि वे ग्रीक या सीरिया के यवन न होंगे। इन यवनों के विषय में श्री आर० के० मुकुर्जी लिखते हैं—"ये यवन निश्चय ही यूनानी होंगे। आयोनियन्स (Ionians) जो अशोक

---

[1] इन राज्यों का महाभारत में भी उल्लेख आया है—महाभारत शांतिपर्व ६५ अध्याय, १७ श्लोक—यवना..गान्धारा...श्चबारचान्ध्र मद्रकाः (आन्ध्र) पुलिन्दा, काम्बोजा........

के साम्राज्य के अपरन्ता प्रान्त में बस गये थे। उनके निर्दिष्ट स्थान का अनुमान कम्बोजों के समीपस्थ किया जा सकता है, जिनके साथ शिलालेख में उनका समागम किया गया है। मनु भी यवन और कम्बोजों का साहचर्य स्वीकृत करता है। कम्बोज काबुल नदी पर अवस्थित थे, तथा यवन भी। यह यूनानी उपनिवेश जैसवाल द्वारा निपुणता के साथ नीसा के सीटी-स्टेट (City State of Nysa) से तुलीकृत (मिलाया गया) किया गया है। सिकन्दर और उसकी सैन्य को, हैलेनिक-रीति-रिवाजों को देख कर, नीसा में घर की अनुभूति मालूम हुई थी। नीसा के अधीश का नाम अकौभी (Akoubhi) था, इस नाम की उत्पत्ति काबुल नदी के वैदिक नाम कुभा से है। लैसन (Lassen) ने इसको इंडूस (Indus) के किसी पश्चिमी प्रांत से, मिलाया है, जिसे सिल्यूकस ने (सन्धि में) अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त को प्रदान किया था। एक बात का और ध्यान रखना चाहिये कि यवन-रथा (Yona-rattha) (यवनों का प्रदेश) उन प्रदेशों में से एक था, जहाँ महावंश के अनुसार अशोक के नेतृत्व में की गई तीसरी बौद्ध सभा द्वारा एक बौद्ध-मिसनरी (बौद्ध-धर्म-प्रचारक-संघ) भेजी गई थी। कैरियस् (Cyrus), डेरियस् (Darius) और जरक्सीज (Xerxes) के समय में ही, तथा जब परशिया के साम्राज्य और हेलास (War between the Persian Empire and Hellas) के मध्य युद्ध हुआ था, तभी यवन, आयोनियन्स या ग्रीक लोग अपने देश को छोड़ कर इधर चले आये थे। भारत की सीमा के बाहर इनका प्रथम उल्लेख पाणिनी के यवनानी-लिपि (IV-i-49) और मज्जीहिमा निकाया (Majjihima Nikaya) के उद्धरण से मिलता है।"[1]

"यवन—उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त पर जो यवन (ग्रीक) बस गये थे। कुछ लोग इस पद में गुजरात में बसे हुए शक आदि को भी

[1] R. K. Mookerjee, Asoka—pp. 168

ग्रहण करते हैं। किन्तु गान्धार और कम्बोज के सान्निध्य से, तथा उस बात से कि गुजरात साम्राज्य का अंग था—यह ठीक नहीं जान पड़ता।" (अशोक की धर्मलिपियाँ—काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा)।

१३वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"कोई ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ ब्राह्मण और श्रमण आदि सम्प्रदाय न हों, सिवाय यवनों (यवन-जनपद) के।" इस उद्धरण से मालूम होता है कि इन यवन-प्रांतों पर आर्य्य-सभ्यता और संस्कृति का अधिक प्रभाव न था तथा ये लोग हैलनिक-सभ्यता (Hellenic-civilization) अर्थात् यूनानी सभ्यता के पोषक और उपासक थे।

पुनः पाँचवाँ शिलालेख मानसेरा लिखता है, "वे (महामात्र) यवनों, कम्बोजों, गांधारों, राष्ट्रिकों, पैठानिकों तथा पश्चिमी सीमा-प्रांत में रहने वाले लोगों या अपरन्ता के अन्य लोगों के लिये नियत हैं।" इस पद से सर्वशः सुप्रकाशित है कि शिलालेख में वर्णित यवन-जनपद अथवा राज्यों से अभिप्राय यूनान या सीरिया के यवन-राज्यों से नहीं है, अपितु, ये राज्य भारत की सीमा पर, यूनानियों से बसाये गये उपनिवेश थे। यूनानियों से उपनिवेशों का बसाया जाना बहुधा पाया जाता है। हैलनिक (Hellenic) सभ्यता को विकीर्ण अथवा प्रस्फुटित करने के उद्देश्य से जगह-जगह प्राचीन यवनों द्वारा उपनिवेश बसाये गये थे। इस रूप में मिश्र का उपनिवेश अग्रगण्य है—यहाँ पर यूनानी सभ्यता को यथेष्ट रूप से उत्कर्ष मिला था। प्रसिद्ध भूमितज्ञ अथवा रेखागणितज्ञ युकुलिड (Eucilid) यहीं पर हुआ था।

आश्वलायन से उच्चारित बुद्ध भगवान् के निम्न वाक्य, "क्या तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमा-प्रांतों में केवल दो वर्ण अथवा सामाजिक वर्ग हैं, आर्य (विशिष्ट-वर्ग) और दास (नौकर), और आर्य दास हो सकता है तथा दास आर्य बन सकता है।" इस विवरण से स्पष्ट है कि बुद्ध और आश्वलायन के आद्य काल से ही तथा सिकन्दर के आक्रमण से कई वर्ष पूर्व, यवन, कम्बोज आदि लोग

उपनिवेश बना कर भारतीय सीमाओं पर आ बसे थे। ये लोग भारतीय संस्कृति से अछूते रहे। भारतीय सभ्यता का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। तथा इस उद्धरण से यह भी मालूम होता है कि यवन, और कम्बोज दोनों समीपवर्ती प्रांत थे। यवन और कम्बोजों का साहचर्य, दोनों शब्दों का साथ ही प्रयुक्त होने से स्पष्ट है।

श्री भंडारकरजी इस बात को अंगीकार करते हैं कि सिकन्दर के आने से पहले ही यवन लोग, कोकिन और इंड्स नदी के मध्य उपनिवेश स्थापित कर रहा करते थे।

यवन शब्द की उत्पत्ति—यवन शब्द का मूल आयोनियन (Ionian) है। आयोनियन जाति ही सर्वप्रथम व्यापारियों के रूप में बाहर निकली थी। परशियन लोग इन्हें यवन कह कर पुकारते थे, तथा पीछे जो ग्रीक लोग आये उन्हें भी ये लोग यवन ही कहने लगे। क्योंकि यदि यूनानी लोग सिकन्दर के साथ ही आये होते तो उन्हें यवन (Ionians) न कहा जाता। क्योंकि वे आयोनियन्स (Ionians) न थे। फलतः यदि यवन लोग कोफन और इंडस के मध्य में रहा करते थे, तो वह प्राचीन जगह–जिसके अवशेष शाहबाजगढ़ी के निकट, जहाँ पर अशोक का एक शिलालेख मिला है, तथा जिसे ह्वेनसांग पो-लु-शा (Po-Lu-Sha) लिखता है अशोक के बाहरी प्रांतों का प्रमुख स्थान था। अतः यवन साम्राज्य उत्तर-पश्चिमी भाग में, कोफन और इंड्स के मध्य, कम्बोज और गान्धार के समीपस्थ था।

कम्बोज और गान्धार—कम्बोजों का प्रदेश यवनों के पास ही स्थित था। यह हम मालूम कर ही चुके हैं। जहाँ कहीं भी महाभारत, बुद्ध के वार्त्तालाप तथा शिलालेखों में–सभी जगह यवनों, कम्बोजों और गान्धारों का साथ ही उल्लेख दिया गया है। इन विवरणों से तीनों का सान्निध्य और साहचर्य स्पष्ट विदित होता है। जर्मन विद्वान हुल्स—कम्बोजों और गांधारों को—यूनानी, काबुली तथा उत्तर-पश्चिमी

पञ्जाबी कहता है। इस वृत्त से भी यवनों और कम्बोजों का सान्निध्य प्रकट होता है।

काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित अशोक की धर्मलिपियाँ प्रथम खंड, पृष्ठ ५१ नोट—६, गांधार और कम्बोजों के प्रति निम्न उल्लेख देता है: "गांधार, कम्बोज—पूर्वी अफगानिस्तान से सिंधु नदी तक के पश्चिमी हिमालय और पश्चिमोत्तर पंजाब के वासी जिनकी भाषा कहीं-कहीं ईरानी सी थी—वर्तमान कंदहारी और काबुली।"

कम्बोजों के बारे में श्री भंडारकर लिखते हैं—

"द्रोणपर्व में कम्बोजों की राजनगरी राजपुर का नाम आया है। यदि यह राजपुर ह्वेनसांग से वर्णित "हो-लो-शी-पू-लो" है, जिसको कनिंघम ने काश्मीर के दक्षिणी भाग पर अवस्थित राजौरी ठीक ही स्वीकृत किया है, तो कम्बोजों का प्रांत ठीक तौर पर निश्चित किया जा सकता है। अतः कम्बोजों का प्रांत राजौरी के ही आस-पास था तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रांत का हजारा ज़िला भी इसी में मिला हुआ था। इसके अलावा "मानसेरा" भी जहाँ पर अशोक के चतुर्दश शिलालेख की एक प्रति प्राप्त हुई है, इसी कम्बोज-प्रदेश के अंतर्गत रहा होगा।" इन सब विवरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि कम्बोज यवनों के पास ही अवस्थित थे। इनका प्रदेश उत्तर-पश्चिमी सीमा पर था। तथा संभवतया ये लोग, काबुली, गांधारी, और उत्तर-पश्चिमी पंजाबी तथा काश्मीरी थे।

नाभक, नाभपन्ति, या नाभाक के नाभपन्ति, इनके प्रति बुलेर वैवर्त पुराण से एक उद्धरण देता है। इस पद में नाभकपुर नाम के एक नगर का उल्लेख आया है। यह नगर उत्तरा-कुरुओं के अधीन था। इस विवरण से अनुमान किया जा सकता है कि नाभपंति या नाभक लोग उत्तर-पश्चिम में बसी हुई, हिमालय की कोई जाति थी। ये लोग कम्बोजों के पड़ोसी थे। पाँचवें शिलाभिलेख मानसेरा में नाभाक की जगह गान्धार आया है, किन्तु १३वें शिलाभिलेख में नाभाक—

कम्बोज और पितनिक के मध्य आया है। अतः श्री भंडारकर का कहना है कि "इसी हेतु हमें नाभपंतियों को एक ओर यवन और कम्बोजों के मध्य में और दूसरी ओर भोज तथा पितनिकों के मध्य स्थित करना चाहिए।" फलतः नाभकों का प्रदेश उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश और भारत के पश्चिमी तट के मध्य कहीं पर था।

राष्ट्रिक-पैठानिकों के बारे में भंडारकर निम्न उल्लेख देते हैं—

"अगन्तुर निकाय में राष्ट्रिक-पैठानिकों को गौण शासक के रूप में दिया गया है। इस शब्द का अर्थ—"वंशक्रमानुगत या मारुसी अथवा जो निज सत्व का अधिकारी है"—से किया गया है। अतः शिलालेख के राष्ट्रिक-यवनिकों को सम्मिलित रूप में ही लेना चाहिए। राष्ट्रिक और पैठानिक अलग-अलग दो शब्द नहीं हैं। राष्ट्रिक-पैठानिक का अर्थ है—वह जो किसी राष्ट्र था प्रान्त का वंशक्रमानुगत (पितृक्रमागत) उत्तराधिकारी अथवा शासक है। हो सकता है कि आद्य काल में उसका पूर्वज किसी सम्राट् द्वारा शासक (अधिपति) नियुक्त किया गया हो। भारतवर्ष में ऐसे शासकों की कमी न थी। दक्षिण के लेखों से मालूम होता है कि वहाँ पर ऐसे कई सामन्त या शासक थे। इन्हीं को महारठि भी लिखा है। बम्बई के थाना और कोलाबा जिलों तथा पूना के आस-पास के स्थानों पर ये सामंत और महारठि शासन करते थे। १३वें शिलालेख के भोज-पितनिक और पाँचवें शिलालेख के राष्ट्रिक भी इसी प्रकार के शासक थे।"

हुल्स लिखता है कि राठि, राष्ट्रि से अभिप्राय कठियावाड़ के लोगों से है। क्योंकि रुद्रदामन के जुनागढ़-लेख्य में उसके शासक (Governor) का नाम राष्ट्रीय (Rastriya) दिया गया है।

किन्तु श्री भंडारकर के मतानुसार पितनिक किसी राष्ट्र विशेष से अभिप्राय नहीं रखता। अपितु उसका अर्थ वंशक्रमानुयायी (उत्तराधिकारी से) से है जो भोज और राष्ट्रिकों के आगे विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु यह धारणा कुछ कमज़ोर-सी मालूम होती है,

क्योंकि हमें विभिन्न प्रकार के पितनिकों का संदर्भ, जैसे—राठिक-पिति-निकान, और राठिकानाम-पितनिकानं, तथा १३वें शिलाभिलेख में सयुक्त भोज-पितनिकेसु और पितिनिकेसु मिलता है। बुलेर ने "विदर्भ" को भोजों का प्रदेश कहा है। किन्तु हुल्स उनके प्रदेश को कहीं पश्चिम की ओर स्थित कहता है। भोजों का एक सम्राट् काश्मीर के राजा का समकालीन था, जैसा कि कल्हण लिखता है। संभव है कि कोशल और महाकोशल की तरह राष्ट्र और महाराष्ट्र भी रहे हों। यद्यपि राष्ट्र अब केवल शिलालेख में ही अवशिष्ट है। अलवर का एक हिस्सा अभी तक राठ कहलाता है। तथा काठियावाड़ और मालवा का मध्य-भाग भी राठ कहलाता है। सीमाप्रांत में तथा उत्तर गढ़वाल में भी राठ आरट्ठ जाति पाई जाती है, किन्तु इनसे यहाँ पर कोई तात्पर्य्य नहीं है। क्योंकि पैठानिक से अभिप्राय गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठानपुर से है (बुलेर)। अतः ये नाम उन जातियों के हैं। संभवतया ये जातियाँ महाराष्ट्र (दक्षिण) के पड़ोसी प्रदेशों में रहती थीं। ये लोग अशोक के शासन में पूर्ण रूप से सम्मिलित न थे।[1]

अपरन्ता—संस्कृत साहित्य में, पश्चिमी भारत के लिये, राशि रूप में प्रयुक्त हुआ मालूम पड़ता है। पुराण में भारतवर्ष के निम्न पाँच भाग किये गये हैं—(१) मध्यदेश (मध्यभारत Central India), (२) उदीची (North), (३) प्राच्य (पूरब), (४) दक्षिणापथ (दक्षिण) और (५) अपरन्ता (पश्चिम)। इन पाँच विभागों को काव्य-मीमांसा इस प्रकार देती है—

(१) पूरबदेश—वाराणसी से पूर्ववर्त्ती प्रदेश।

(२) दक्षिणापथ—माहिशमति से दक्षिण की ओर विस्तृत (फैला हुआ) प्रदेश।

---

[1]दक्षिण में आन्ध्र और सत्तवाहन काल के लेखों में महा-रथी और महा-भोज सामन्तों के रूप में उल्लेखित किये गये हैं।

(३) उत्तरापथ—पृथुदाका के उत्तर ओर या थानेश्वर के पश्चिम का प्रदेश।

(४) अन्तर्वेदी—मध्यदेश, विनासेन और प्रयाग, गंगा और यमुना के मध्य का प्रदेश।

(५) पाश्चात्य देश—पश्चिमी प्रदेश, जिसे पुराणों में अपरन्ता कहा गया है जिसके अन्तर्भूत निम्न प्रदेश दिये गये हैं—देवसभा, सौराष्ट्र, दासरका (मालवा), भावन, भृगुकच्छ, कच्छक्रीया, आनर्त्ता (गुजरात) अरबुदा (आबु पहाड़ के पास), यवन आदि। इस यवन आदि से मालूम होता है कि सम्राट् के शिलालेख में आये हुए—यवन, कम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक सभी अपरन्ता के अन्तर्गत थे। पाँचवाँ शिलालेख मानसेरा इस पक्ष को पुष्टि करता है। यह शिलालेख लिखता है, "वे (धर्ममहामात्र) सब धर्मों (सम्प्रदायों) के लिये नियुक्त हैं। वे धर्म की स्थापना और वृद्धि के लिये हैं तथा धर्मगामिन लोगों के सुख और हित के लिये हैं। वे यवनों, कम्बोजों, गांधारों, राष्ट्रिकों, पैठानिकों, और जो कोई भी पश्चिमी सीमा-प्रांत या अपरन्ता के लोग हैं उनके (हित और सुख के लिये) लिये नियत हैं।" अतः यवन, कम्बोज आदि लोगों का प्रदेश पाश्चात्य प्रदेश अथवा अपरन्ता के नाम से विख्यात था। महावंश के अनुसार इस अपरन्ता को, तीसरी बौद्ध महासभा द्वारा, एक धर्म-मिसनरी (बौद्ध-धर्म-प्रचारक-संघ) भेजी गई थी। पालि साहित्य के अनुसार अपरन्ता की राजनगरी शुरपराका वर्त्तमान थाना जिले का सोपारा, जहाँ पर चतुर्दश शिलाभिलेखों की एक प्रति मिली है, थी। श्री जयसवाल ने अपरन्ता और अन्ता दो विरोधी शब्द लिये हैं—उनके अर्थानुसार "अन्ता" साम्राज्य के अंतर्भूत लोग थे और "अपरन्ता" वे लोग थे जो साम्राज्य के बाहर बसे थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र शाम शास्त्री प्रकरण दो २, ५०, "पश्चिमी प्रदेशों के हाथी अथवा अपरन्ता के हाथी, मध्यम प्रकार के होते हैं।" अतः कौटिल्य पश्चिम भारत के लिये अपरन्ता का प्रयोग करता है। इसी ग्रंथ भाग

२ के २४वें प्रकरण में वारिष का उल्लेख करते हुए कहा गया है, "जङ्गल-प्रदेश में वर्षा का नाप १६ द्रोण है, जलाद्र प्रदेशों (अनुपानं) में इससे आधा अधिक, और जो मुल्क (प्रदेश) खेती के योग्य हैं (वहाँ २४ द्रोण), आसाम का प्रदेश में १३½ द्रोण, अवन्ती में २३ द्रोण और पश्चिमी प्रदेशों (अपरन्ता) में बहुत ज्यादा पानी बरसता है।" ११६, भाष्यकार शास्त्री ने अपरन्ता को "कोनकन" प्रदेश से मिलाया है।

अपरन्ता को पश्चिमी सीमांत प्रदेश के रूप में लेना चाहिये। गिरनार शिलालेख में यह पद दिया गया है, "इध राज विसयम्हि यो" अर्थात् "जो राज्य (राजा) साम्राज्य के अंतर्गत हैं, किन्तु पूर्ण शासन में नहीं।" दूसरे शिलालेख में इन (अपरन्ता) के लिये 'विजितसि' आया है—"सवता विजितसि देवानां पियसा पियदसिसा लाजिने"। अतः संभवतया "अपरन्ता" पश्चिमी सीमांत प्रदेश के यवन ग्रीक आदि थे, ये सम्राट् अशोक के पड़ोसी राज्य थे, जिन्हें १३वाँ शिलालेख साम्राज्य के अंतर्गत कहता है, किन्तु जो पाँचवें शिलालेख के अनुसार स्वतंत्र सीमांत प्रदेश कहे गये हैं। इसी अपरन्ता का एक यूनानी तुहसाष्पा सम्राट् अशोक के गिरनार-प्रांत का शासक (Governor) था।[१] मालूम पड़ता है कि अपरन्ता के लोग सम्राट् के प्रभुत्व का आदर करते थे, स्वतंन्त्र रहते हुए भी वे अशोक के लोहा को मानते थे, तथा उनकी भव्य शक्ति को देख कर भयभीत थे। ये लोग हमेशा सम्राट् के स्नेहाभिलाषी थे। अत: ये लोग सम्राट् के अधीनस्थ (विजित, १३वाँ शिलालेख) थे। किन्तु सम्राट् से उनको पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। अशोक उनकी राजनीति आदि में हस्तक्षेप न करते थे; फलतः विजित होते हुए भी वे स्वतंत्र सीमांत पड़ोसी प्रान्त थे। देखिए कलिंग शिलालेख द्वितीय "सीमांत प्रदेशों के प्रति मेरी यही इच्छा है कि वे समझें कि सम्राट् की अभिलाषा है कि वे मुझसे भय न खायें, किन्तु मुझ पर विश्वास रखें

[१]Rudardaman's inscription—Ep. Ind. VIII, pp. 46-7.

कि उन्हें मेरे द्वारा सुख ही मिलेगा दुःख नहीं, वे यह भी समझ लें कि जितना वह उन्हें क्षमा कर सकता है वह क्षमा करेगा, कि वे मेरे द्वारा धर्म पर चलने के लिये प्रोत्साहित किये जायेंगे, जिससे वे इस लोक और परलोक दोनों का सुख लाभ कर सकें।" इस वृत्त से सम्राट् की सीमांत-नीति (Frontier policy) प्रत्यक्ष सुप्रकाशित है।

आन्ध्र, कृष्णा और गोदावरी नदी का मध्यवर्ती प्रदेश, वर्तमान आन्ध्र, आन्ध्रों का निवास-स्थान (प्रांत) था। किन्तु आन्ध्रों का यही मूल स्थान था, इसका निर्णय करना कठिन है। मौर्य्य राजाओं के समय में उनका कौन-सा प्रांत था, इसका निर्णय निश्चयात्मक रूप से नहीं किया जा सकता। बुद्ध-जातक के अनुसार तेलवाहा नदी पर स्थित आन्ध्रपुरा, आन्ध्र की राजनगरी थी। श्रीभंडारकर ने इस तेलवाहा नदी को तेल या तेलगिरी नदी से मिलाया है। ये नदियाँ मद्रास और मध्य-प्रदेश की सह-सीमाओं पर बहती हैं। "फलतः प्राचीन आन्ध्र-प्रान्त में—जैपुर, मद्रास-प्रेसीडेन्सी, विजिगापट्टम के ज़िले, तथा मध्य-प्रदेश के निकटवर्त्ती ज़िले (प्रान्त) सम्मिलित थे। तथा सम्भवतया आन्ध्र के अन्तर्गत निज़ाम के राज्य का दक्षिणी हिस्सा और वर्तमान तेलंगाना के अनुरूप कृष्णा और गोदावरी के ज़िले भी शामिल थे।"

श्री डाक्टर भंडारकर की इस धारणा का मैं पूर्ण रूप से अनुमोदन करता हूँ। डाक्टर भण्डारकर ने यथार्थ ही आन्ध्र का इतना विस्तृत विस्तार सूचित किया है। मेघास्थनीज ने अपने वर्णन में लिखा है कि "मौर्य्यकाल में आन्ध्र मामूली शक्तियों में से न था। विशाल राष्ट्रों में आन्ध्र का भी प्रमुख स्थान था। आन्ध्र का राष्ट्र यदि मौर्य्य राष्ट्र से अधिक न था, तो कम भी न था। विजयी मौर्य्य चन्द्रगुप्त की विश्वविजयनी सैन्य का यदि प्रथम स्थान था, तो द्वितीय स्थान आन्ध्र की सैन्य ही आक्रान्त किये थी।" अतः निश्चय ही आन्ध्र एक अति विशाल और शक्तिशाली प्रदेश था, जिसका विस्तार कृष्णा नदी के मुहाने तक था। मौर्य्य-साम्राज्य के सूर्य्य के क्लांत होने

पर (ढलने पर), सम्राट् अशोक की मृत्यु के पश्चात्, इन आंध्रों ने, एक शक्तिपूर्ण वैभवशाली राज्य की स्थापना की थी। इस आन्ध्र साम्राज्य ने ४०० वर्ष की दीर्घ आयु तक शासन किया।

पुलिन्द—हुल्स इन्हें पूर्वीय कहता है। वायुपुराण में पुलिन्दों का उल्लेख "विन्ध्यमुलीया" (विन्ध्याचल के नीचे रहने वाली जाति) के साथ आया है। महाभारत में इन्हीं का स्थान "चेदी" के समीपस्थ दर्शाया गया है। आन्ध्र और पुलिन्दों का शिलालेख में साहचर्य है, दोनो प्रांतों का साथ ही उल्लेख आया है। इससे मालूम होता है कि आन्ध्रों की भाँति पुलिन्द भी अवश्य पूर्वीय लोग थे—जैसा हुल्स ने भी कहा है। ये लोग अशोक के साम्राज्य के दक्षिणी-पूर्वी या पूर्वीय भाग पर रहते थे। अतः प्रकाशित होता है कि रूपनाथ भी—मध्य-प्रदेश के जबलपुर ज़िले में—जहाँ पर अशोक के गौण शिलाभिलेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है, साम्राज्य के अन्तर्गत रहा होगा।

ये पूर्व निर्दिष्ट राज्य अशोक के पूर्णतया शासनाधीन न थे, अपितु उन्हें पूर्ण आंतरिक स्वातंत्र्य प्राप्त था। इनमें से कोई राज्य पूर्ण रूप से स्वाधीन थे तथा किसी को अर्द्ध-स्वतंत्रता प्राप्त थी। उनकी स्वतंत्रता सनियम थी, सम्राट् ने स्वयं इन सीमांत राज्यों के प्रति कहा है, "जहाँ तक वह उन्हें क्षमा कर सकता है क्षमा करेगा।" (कलिंग शिलालेख द्वितीय)। अर्थात् जब तक ये धर्म-पथ पर चलेंगे, स्वतंत्र रहेंगे। इन सीमावर्ती राज्यों का मौर्य-राजागण भली प्रकार ध्यान रखते थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय इन सीमांत प्रदेशों की देख-भाल के लिये अन्तपाल नियुक्त थे। कौटिल्य लिखता है, "साम्राज्य की सीमा पर गढ़ निर्माण करवाना चाहिये। ये गढ़ अन्तपाल के रक्षण में होंगे। उनका कार्य साम्राज्य के द्वार की रक्षा करनी होगी।"[1]

---

[1] Kautilya Arthasastra—R. Shama Shastry—Book II, Ch. I, 46.

समासतः अशोक के साम्राज्य में समस्त उत्तरापथ तथा पश्चिमोत्तर भाग शामिल था। साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम की यह सीमा थी।

अब हमें दक्षिणी साम्राज्य का विस्तार कहाँ तक था, यह निर्धारित करना है। अशोक के शिलालेखों में एक विचित्रता पाई जाती है। वह यह कि चतुर्दश शिलालेख जब कि वाह्य-प्रान्तों के राजनगर में मिले हैं, गौण-शिलालेख साम्राज्य की सीमाओं पर, जो सम्राट् के निज-साम्राज्य से स्वतन्त्र तथा अर्द्ध-स्वतंत्र राज्यों को पृथक करते हैं—पाये गये हैं। चतुर्दश शिलाभिलेखों की दो प्रति (धौली और जौगुडा) दूरस्थ प्रान्त की राजनगरी तोसाली में उपलब्ध हुई है। शिलालेखों की तीसरी प्रति सौराष्ट्र की राजनगरी जुनागढ़, प्राचीन गिरनार में पाई गई है। चौथी प्रति बंबई के पास सोपारा में मिली है, किन्तु गौण-शिलाभिलेख, राजनगरियों में नहीं, अपितु सीमांत पर पाये जाते हैं। बहुत से ऐसे घने जंगलों में मिले हैं, जहाँ पर कोई प्राचीन अवशेष तक नहीं पाया जाता। ये गौण-शिलालेख अशोक तथा वाह्य राजाओं के राज्य की सीमाओं को दो भागों में विभाजित करते हुए मालूम होते हैं। इन सीमांत प्रांतों के शासक "अंता" कहलाते थे। अंता संस्कृत शब्द है, अंता = प्रत्यन्तेषु, अंत = प्रत्यन्त, = सीमांत = प्रदेश (प्रदेशों)। अंता दो तरह के थे, प्रथम वे जिनके राज्य भारत के भीतर ही कहीं पर स्थित थे, और दूसरे वे जो भारत के (वाह्य) बाहर थे। देखिए द्वितीय प्रज्ञापन कालसी—

"सवता विजितसि देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने, ये च अंता अथा चोडा, पंडिया, सतिपुत्तो, केललपुत्तो तंबपंनि।"

प्रथम श्रेणी के अंतों (अंता = शासक) में निम्न राज्य दिये हैं—"चोड़, पांड्य; सत्यपुत्र, केरलपुत्र, और ताम्रपर्णी।" यहाँ पर ध्यान रखिए कि सत्यपुत्र और केरलपुत्र द्वितीय प्रज्ञापन (कालसी) में

एकवचन में, तथा चोड़ और पांड्य बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं। इस बहुवचन से सम्राट् का अभिप्राय क्या चोड़ और पांड्य जातियों या मनुष्यों से है ? किन्तु ऐसा होना संभव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसी प्रज्ञापन में सत्यपुत्र और केरलपुत्र का एकवचन में प्रयुक्त किया जाना इस बात को लक्षित करता है कि सम्राट् का अभिप्राय यहाँ पर जातियों (मनुष्यों) से नहीं, अपितु राज्यों (शासकों—अंता) से है। फलतः अशोक के समय दो चोड़ और पांड्य राज्य थे। टौलिमी ने भी दो चोड़ राज्यों का उल्लेख किया है। प्रथम चोड़ राज्य शोरटाई (Soretai) था। इस राज्य की ओरथरा राजधानी थी। यह "शोरा" तामिल "चोरा" से समीकृत किया जा सकता है। शोरटाई के लिये शोरनागा भी लिखा है (टौलिमी) अत: यह शोर-नागा, चोर-नागा भी हो सकता है, अस्तु वह राजा जिसकी राजनगरी ओरथरा थी नागकुल का होगा। और चूँकि उसका प्रदेश, चोड़ (प्रदेश) था अतः वह चोर = चोड़-नाग हुआ। कनिङ्घम ने ओरथरा को त्रिचनापली के समीपस्थ उदैपुर से मिलाया है। अतः यही दक्षिणी चोड़-राज्य था।

उत्तरी चोड़-राज्य, बेटीगा और ऐडिस्थरौस पहाड़ियों के बीच के प्रदेश में अस्थिरवासी (Sorai Nomads) शोराई रहा करते थे। आरकेटौस उनकी राजनगरी थी। इस आरकेटौस को आर्कट के साथ मिलाया गया है। शोराई लोग अस्थिरनिवासी (Nomadic tribe) थे। अपितु वह एक आदिम जाति थी, जिन्हें आर्य लोग घृणा से—शोर अथवा चोर, (लूटेरे या डाकू) कहा करते थे! अतः निर्धारित है कि दो चोड़ साम्राज्य थे। (१) दक्षिणी चोड़-राज्य, और (२) उत्तरी चोड़-राज्य। दक्षिणी चोड़ की राजधानी ओरथरा (उदैपुर) थी और उत्तरी चोड़ की राजनगरी आरकेटौस अथवा आर्कट के नाम से प्रख्यात थी।

पांड्य—टौलिमी ने इनके लिये पाण्डिनोई लिखा है। पाण्डिनोई के राजनगर (Capital) का नाम मोदोरा, वर्तमान मदुरा (मद्रास

प्रेसिडेन्सी) था। टौलिमी के अनुसार पांड्यों का प्रदेश, दक्षिण में त्रिनीभेली और उत्तर में काम्बेटर के समीपस्थ पर्वतीय भूमि तक विस्तृत था। टौलिमी (Ptolemy) ने एक ही पांड्य-राज्य का उल्लेख किया है। किन्तु "पांड्य" शिलालेख द्वितीय (कलिङ्ग) में बहुवचनांत है। क्या तब अशोक के समय दो पांड्य राज्य थे? बराहमिहिर इस बात को प्रकाशित करता है कि द्वितीय शताब्दी में उत्तर-पांड्य अलग राज्य था। इससे सर्वथा लक्षित होता है कि निश्चय दक्षिण पांड्य भी अलग राज्य था। इन्हीं प्रमाणों पर निर्णय किया जा सकता है कि अशोक के समय में भी दो पांड्य-राज्य रहे होंगे।

सत्यपुत या सत्यपुत्र—वि० स्मिथ ने 'सत्यपुत्र' के प्रदेश को, काम्बेटौर ज़िले के सत्यमंगलम् तथा पश्चिमी घाट, मैसूर का सीमांत (देश) मालाबार, काम्बेटौर और कुर्ग के प्रदेशों से समीकृत किया है। मैसूर के गैजलहाटी-दर्रे पर, पहले इसी नाम का एक नगर अवस्थित था। यह नगर उस समय युद्ध-कौशल का एक प्रमुख महत्त्व का नगर था। यह प्रदेश साम्राज्य के अंतर्गत न था।

चन्द्रगुप्त के समय भद्रबाहु से महादेशांतर गमन द्वारा, यह प्रदेश अधिवासित हुआ था। दुर्भिक्ष की आशंका से ही भद्रबाहु और उसके शिष्य १२ वर्ष के लिये—यह दुर्भिक्ष १२ वर्ष का पड़ा था—दक्षिण में सत्यमंगल-प्रदेश को गये थे। भद्रबाहु चरित्र में दुर्भिक्ष का उल्लेख इस प्रकार आया है–

"अथै कस्मिन दिने भद्रो भद्रबाहुः समाययौ।
श्रेष्ठिनौ तिदास्यास्य कायस्थित्यै निकेतने।
तत्र शून्ये गृहे चैथो विद्यते केवलं शिशुः।
झोलिकान्तर्गत षष्ठि दिवस प्रमितस्ददा।
गच्छ-गच्छ वचोऽवादीत तच्छु त्वा, मुनिनी द्रुतम्।
निमितज्ञा ननोऽज्ञासी न्मुनि रुत्पातमद्रुतम्।
शरद्द्वा दशपर्य्यन्तं दुर्भिक्षं मध्य मण्डले॥"

अतः इस १२ साल के दुर्भिक्ष के फलस्वरूप (बृहत्चारनं) महत्देशांतर गमन हुआ था।[1] J.R.A.S. 1918, p. 541, लिखता है, "सत्यपुत का प्रदेश वर्तमान कांचीपुर था।" ह्वेनसांग लिखता है कि यहाँ अशोक के स्तूप विद्यमान थे। इस प्रदेश का दूसरा नाम सत्यव्रत भी था। J.R.A.S—412 इस प्रदेश का नाम सत्यभूमि कहता है। यह प्रदेश केरल के उत्तर में था, जैसा कि तामिल साहित्य में मिलता है। श्री राधाकुमुद मुकुर्जी लिखते हैं कि "अन्य अक्षर, पुत्र (पुत) भूमि (प्रदेश) या जन्मभूमि के पुत्र का द्योतक है।"[2] यदि इसे सत्य समझा जाय तो निश्चय ही अनुमान किया जा सकता है कि मूल रूप में केरल और सत्य नाम की जातियाँ उत्तरी भारत में रहा करती थीं। तथा उत्तर भारत से हो ये जातियाँ दक्षिण पहुँचीं और वहाँ उपनिवेश बना कर रहने लगीं। इस प्रकार प्राचीन काल में ये केरलपुत्र और सत्यपुत्र के नाम से प्रख्यात हुईं। जातियों के नाम पर प्रदेश का नाम पड़ना आश्चर्य का विषय नहीं है, प्राचीन काल में बहुधा ऐसा हुआ करता था। अस्तु कह सकते हैं कि सत्यपुत्र में निम्न प्रदेश शामिल थे काम्बेटौर, मालाबार, पश्चिमी घाट और मैसूर की सीमाएँ (कांचीवरम के आसपास का प्रदेश), तथा कुर्ग।

केरल-चेरा, या मालाबार, अतः मालाबार समुद्र-तट का प्रदेश "केरलपुत्र" का था। पेरिप्लस के लेखक के समय मोजिरिस (Mouziris) वर्तमान करांगनौर (Kranganur) केरलपुत्र राज्य की राजधानी थी। किन्तु टौलिमी ने इसको राजनगरी को कारोरा के भीतरी भाग में स्थित कहा है। कारुर (Karur) वर्तमान काम्बेटौर ज़िले में अमरावती पर अवस्थित है।

इन विचित्र विवरणों के कारण केरलपुत्र-राज्य की निश्चयात्मक रूप से सीमा निर्धारित करना कठिन है। किंतु संभवतया पूर्व निर्दिष्ट

[1]J. R. A. S. 1919, p. 564n. [2]R. K. Mookerji's, Asoka, p. 132.

स्थान पर ही ये लोग रहा करते थे। परन्तु यह सर्वथा विदित होता है कि इन दक्षिणी-राज्यों (चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, और केरलपुत्र) की सीमाएँ आपस में मिली हुई थीं तथा दक्षिण का वह भाग जो अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित न था, इन्हीं चार राज्यों में परस्पर बँटा, हुआ था।

इसी अनुषंग में एक बात और ध्यान देने की है, वह यह कि, सम्राट् ने अपने शिलालेख में एक और प्रदेश अटवी या आटव्य का उल्लेख किया है। १३वें शिलाभिलेख में सम्राट् कहते हैं—

"गुरुमतं वो देवनं प्रियस यो पि च
अपकरेयति छमितवियमते वो देवनं प्रियस य
शको छमनये य पि च देवनं प्रियस
विजिते योति न पि अनुनेती
अनुनिझपेति अनुतपे पि च प्रभवे देवनं प्रियस
वचुति तेष किति अवम पेयु
न च ञयसु इदति हि देवनं प्रियो ॥"

(शाहबाजगढ़ी)

"देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है, वह भी क्षमा के योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके। जो जंगली जातियाँ (अटवी) सम्राट् के साम्राज्य के अंतर हैं, उनको भी वह मनाता और धर्म-मार्ग पर लाना चाहता है। वह उन्हें इस बात का ध्यान करवाता है, कि सम्राट् के पछतावे (अनुतपे) में भी कितनी शक्ति (प्रभवे = प्रभाव) है। जिससे वे लज्जित हों और नष्ट न होने पावें।"

इस ऊपरी निर्देश से प्रकाशित होता है कि यह जंगली जाति अटवी पूर्णतया सम्राट् के शासनाधीन न थी। यद्यपि अशोक से वह विजित हो चुकी थी। इससे प्रकट होता है कि आटव्य राज्य अर्द्ध-स्वतन्त्र था, या ये लोग विद्रोही बनकर शासन के उल्लंघन करने का

प्रयत्न किया करते थे। शायद इसी शासन-उल्लंघन करने को सम्राट् ने अपकार करना कहा है। यही कारण है कि सम्राट् की सहृदयता उन्हें शान्ति-पथ पर, बिना किसी रक्तपात के लाना चाहती है। अतः सम्राट् उन्हें मना कर, धर्म की शिक्षा दे कर, वशीभूत करने का उपक्रम करते हैं, किन्तु मालूम होता है कि जब वे इतने पर भी न माने और राजविद्रोही हों, शासन-अतिक्रम करते ही गये, तो सम्राट् को अंततः उन्हें वाग्दण्ड देना पड़ा, अतः सम्राट् उच्चारते हैं, अटवी जाति की निर्भर्त्सना करते हुए कहते हैं—"अनुनिझपेति अनुतपे पि च प्रभवे देवनं प्रियस।" सम्राट् उन्हें धर्म-पथ पर लाना चाहते हैं, (ध्यान रहे) सम्राट् के पछतावे में पूर्ण शक्ति है, अर्थात् यदि अटवी जाति भली प्रकार आचरण करेगी, तो उनके साथ अच्छा बर्ताव किया जायेगा, उनके पूर्व दोष क्षमा कर दिये जायँगे, नहीं तो सम्राट् की प्रभापूर्ण शक्ति उन्हें दबावेगी।" इस प्रभापूर्ण शक्ति का अन्वय सम्राट् कलिंग हत्याकांड से कराते हैं, जिससे सम्राट् की असीम शक्ति का सर्वशः निर्देश होता है। इस भाँति जंगली जाति को आक्रोस करते हुए, सम्राट् अपने दण्ड देने की शक्ति का परिचय दे, उन्हें लज्जित करते हैं, कि उनके कल्याण के हित और नष्ट न करने के अभिप्राय से ही, उनके अपकारों को शक्ति भर क्षमा किया गया है, किन्तु यदि उत्तरोत्तर यही क्रम रहा तो उन्हें भली तरह दण्ड दिया जायेगा।

अटवी राज्य का अधिपति अटाविका कहलाता था।[1] कौटिल्य के समय अटवी का शासन, विशेष अधिकारी अटवीपाल के अधीन था। कौटिल्य ने दो प्रकार की विजयों का उल्लेख किया है—(१) प्रथम आटवी-विजय, अथवा जंगली जातियों को विजित करना और (२) द्वितीय ग्रामादि-विजय, अर्थात् निश्चित प्रदेश गाँव आदि को विजय करना।[2]

---

[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र—प्रकरण १६, १, (शाम-शास्त्री)

[2] कौटिल्य अर्थशात्र, प्रकरण ५, ग्रंथ-भाग १६वाँ (शाम-शास्त्री)

पुराण में इस जंगली जाति आटव्य का, पुलिन्दों, विन्ध्यमूलीय और वैदर्भों के साथ उल्लेख किया गया है।

एक ताम्र-पत्र में, परिव्राजक राजा हस्तिन को, दाभाला राज्य के सहित अट्ठारह (१८) जंगली राज्यों (अटवी-राज्य) का अधिपति लिखा गया है। दाभाला दाहाला का रूपान्तर विदित होता है। इस दहाला से अर्थ बुन्देलखण्ड से है।

गुप्तकाल में भी प्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्त ने अट्ठारह छोटे-छोटे अटवी राज्यों को विजय किया था। मालूम होता है कि अटवी-राज्य बघेलखण्ड से ले कर ठीक उड़ीसा के समुद्र-तट तक विस्तृत था। अतः यही कारण है कि गौण-शिलाभिलेखों की दो प्रतियाँ रूपनाथ, मध्यप्रदेश के जबलपुर ज़िले में और सहसराम बिहार के शाहाबाद ज़िले में—पाई गई हैं। यह रूपनाथ और सहसराम अटवी प्रदेश के पूर्वी और पश्चिमी सरहद या सीमा पर अवस्थित थे। धौली और जौगडा, शिलालेखों में सम्राट् अपने कर्मचारियों को, सीमाप्रांत के राज्यों को क्षमा, प्रेम और सहानुभूति की नीति के निर्देश करने का आदेश देते हैं। उड़ीसा के पास स्वतन्त्र या अर्द्ध-स्वतंत्र अटवी राज्य के सिवाय, मौर्य्य-साम्राज्य से समीपस्थ और कोई राज्य न था।

सारांश में समस्त भारतवर्ष, केवल दक्षिण के उस थोड़े से भाग को छोड़ कर जो चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र के पास रहा, अशोक के शासनाधीन था।

सम्राट् अशोक ने शिलालेखों में बहुत से अपने समकालीन राजा अथवा राजाओं का उल्लेख करते हुए उनके नाम भी दिये हैं। १३वाँ शिलाभिलेख शाहबाजगढ़ी लिखता है—

"अंतेषु अषषु पि योजन शतेषु यत्र अंतियोको
नम योन राज परं च तेन अंतियोकेन
चतुरे रजनि तुरमये नम अंतकिनि
नम मक नम अलिकसुदरे नम निचं ॥"

अतः निम्न राजा अशोक के समकालीन थे—(१) अंतियोक (यवन-राज), (२) तुरमय, (३) अंतकिन, (४) मग और पाँचवाँ अलिकसुन्दर या अलिकसुदर।

अंतियोक—अंतियोक, सिकन्दर महान् के प्रगल्भ जनरल सिल्यूकस का नाती (पौत्र) था। सीरिया, बैकट्रिया और पश्चिमी ऐसियाई प्रदेशों का यवन-अधिपति यही अंतियोक था। यह साम्राज्य, मौर्य-राष्ट्र का पड़ोसी साम्राज्य या राष्ट्र था। उसने २६१ से २६४ ई० पूर्व तक राज्य किया। शिलालेख द्वितीय में भी इसका उल्लेख आया है।

तुरमय—यह मिश्र का अधिपति द्वितीय टौलमी फिलाडेलफौस (Ptolemy II Philadelphos) था। संभवतः इसने २८५ ई० पू० से लेकर २४७ ई० पूर्व तक शासन किया। यह मौर्य-साम्राज्य से यथेष्ट दूरी का राज्य था।

अन्तिकिनि या अंतकिन—बुलेर इसे यूनानी नाम अंतिनिनेस से मिलाया है। पर चूँकि इस नाम का कोई राजा नहीं मिलता अतः अन्तकिन को विद्वानों ने सफलता के साथ अंतिगोनूस गोनाटस (Antigonos Gonetas) से मिलाया है। यह अंतिगोनूस मैसिडोनिया (Macedonia) का राजा था। इसका काल २७८—२७६ ई० पूर्व से २३६ ई० पूर्व के लगभग है।

मग, या मक—मग टौलमी फिलाडेलफौस मिश्र के राजा का भाई था। वह कैरीन का अधिनायक था। कैरीन (Cyrene) मिश्र के पश्चिम में है। इसका राज्यकाल ३०० बी० सी० (ई० पू०) से लेकर २५२ ई० पू० के लगभग पड़ता है।

अलिकसुन्दर या अलिकसुदर—इस राजा के प्रति विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान् अलिकसुदर को एपिरस (Apirus) का राजा सिकन्दर कहते हैं (२७२-२५८ ई० पू०), और कोई उसे कौरिन्थ (Corinth) का राजा ऐलिकजेण्डर कहता है। जिसका

समय लगभग २५२ से २४६-४४ ई० पूर्व के दिया गया है।[1] इन राजाओं की तिथि (Cambridge History of India, Vol. I, p. 502 से ली गई है।

अन्तियोक, शिलाभिलेख के कथनानुसार अशोक के साम्राज्य का निकटवर्ती राज्य था। शेष अन्य चार राजा, अंतियोकस् के समीपस्थ और अशोक के राज्य से दूरस्थ थे। प्रमाण के लिये कालसी प्रज्ञापन को देखिये—

"......नाम योन पलं चा तेना अंतियोगेन, चतालि लजोन, तुलमदे नाम अन्तिकिने।" प्रथम अन्तियोग (अंतियोकस) कहा गया है और तत्पश्चात् उससे परे जो अन्य चार राजा हैं उनका उल्लेख हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि और राज्यों से, अंतियोकस का राज्य साम्राज्य के निकटवर्ती था।

क्या इन वाह्य वैदेशिक राजाओं के साथ सम्राट् अशोक का कोई संबंध स्थापित था—यही हमको देखना है। हम इस बात को पहले से ही जानते हैं कि सिल्युकेडियन साम्राज्य और मौर्य्य-साम्राज्य के मध्य परस्पर दूतों का आवागमन आरंभ हो चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य्य के समय मेघास्थनीज, सिल्यूकस का दूत बनकर भारत आया था। मेघास्थनीज बहुत समय तक मौर्य्य दर्बार में रहा। यहाँ पर रहकर, मेघास्थनीज ने जो भारत का वर्णन लिखा है, वह इतिहासज्ञों के लिये अमूल्य ऐतिहासिक काम की वस्तु है।

यह भी सुप्रकाशित है कि मौर्य्य-सम्राट् बिन्दुसार ने, एशिया माइनर के अधिनायक एंटिओकस को, सूखे अजीर, अंगूरी मदिरा तथा यूनानी सोफिस्ट को ख़रीद कर, भेजने के लिये लिखा था।[2] मिश्र के राज़ा टौलमी फिलाडेलफौस (२८५-२४७ ई० पू०) ने, जो अशोक का

---

[1] J. R. A. S. 194, p. 944-45

[2] Ancient India and invasion of Alexander, p. 409, McCrindle.

समकालीन था तथा जिसका नाम १३वें शिलालेख में अन्य "मग" आदि चार राजाओं के साथ आया है, बिन्दुसार के समय में, अपना एक राजदूत × डैयोनिसियस (Dionysious) मौर्य्य-दर्बार में भेजा था।[1] यह दूत बहुत काल तक बिन्दुसार के दर्बार में रहा। मेघास्थनीज की भाँति इस राजदूत ने भी भारत का विवरण लिखा था। प्लिनी (Pliny) ने डैयोनिसियस के इस विवरण से बहुत कुछ संदर्भ किये हैं। किन्तु खेद है कि डैयोनिसियस का लिखा भरात का विवरण अब जीवित नहीं, न जाने वह कहाँ अभाग्यवश खो गया।

स्ट्रेबो लिखता है कि, सिल्यूकस ने, डिमैकस (Deimachus) को राजदूत बना कर, चन्द्रगुप्त मौर्य्य के पुत्र अमिट्रोकेटस (बिन्दुसार) के राजदर्बार में भेजा था। (हुल्स—अशोक के शिलाभिलेख)। अतः सर्वशः स्पष्ट है कि मौर्य्य-काल में (सम्राट् अशोक के पूर्वजों के समय), वैदेशिक राजदूतों का आवागमन स्थापित था। किन्तु क्या अशोक-काल में भी यह प्रथा नित्य रही? अथवा क्या अशोक का इन वाह्य राजाओं के साथ किसी प्रकार का संबन्ध स्थापित था? यदि था, तो उसका कोई माध्यम अवश्य होना चाहिये। समाट् और वैदेशिक राज्यों के बीच की दीर्घ दूरता क्या पारस्परिक सङ्गम में बाधक न थी? १३वाँ शिलालेख इन दोनों प्रश्नों को हल कर देता है। वह लिखता है—"नम योन राज परं च तेन अंतियोकेन, चतुरे रजनि तुरमये नम अंतिकिनी, नाम मक नम अलिकसुदरो नम निचं.....................
...............देवनं प्रियस ध्रमनुशति अनुवटंति यत्र पि,...........
...............देवनं प्रियस दुत न व्रचंसि ते........................।"
अर्थात् "यवन नाम अंतियोक और उससे परे जो और चार अंतिकिनि, मक (मग), तुरमय, अलिकसुन्दर नाम के राजा हैं......देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं, और जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं भी जा पाते हैं—वहाँ भी धर्मानुशासन पर आचरण किया

[1] Pliny.

जाता है।" "देवताओं के प्रिय के दूत" पर से सिद्ध होता है कि अशोक के समय में भी वैदेशिक राज्यों में दूत भेजने की प्रथा नित्य थी। अशोक के दूत यवन राजाओं (अन्तिकिन, मक, तुरमय, अलिकसुन्दर) के राज्य में हमेशा 'धर्म प्रचार' के लिए वहाँ जाते थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः वैदेशिक (यवन) राज्यों के साथ अशोक का धार्मिक संबन्ध स्थापित था। दूतों का काम इन राज्यों में धर्म का प्रचार करना था।[1]

सम्राट् अशोक के राज्यकाल की तिथि—सम्राट् अशोक के राज्य-प्राप्ति की तिथि का निर्णय करने के लिए उनके समकालीन (यवन) राजाओं की तिथि का अध्ययन आवश्यक है। इन्हीं यवन-राजाओं की तिथि के आधार पर अशोक की तिथि का ठीक निर्णय किया जा सकता है। अशोक की तिथि का निर्णय कई प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम अशोक के समकालीन यवन राजाओं के आधार पर, जिनका समय हमें ज्ञात ही है। पहले हमें यह जानना होगा कि द्वितीय तथा त्रयोदश शिलाभिलेख किस समय लिखे गये?

श्री सेनार्ट का मत है, जिसका अन्य अंग्रेज़ी विद्वानों ने भी समर्थन किया है, कि ये दोनों लेख सम्राट् के राज्याभिषेक के १४वें वर्ष अभिलिखित हुए थे। किन्तु हाल ही में एक बङ्गाली विद्वान श्री हरित-कृष्ण देव एम० ए० ने यह प्रकाशित किया है कि द्वितीय और त्रयोदश शिलालेख राज्याभिषेक के २७वें वर्ष प्रेषित हुए थे।

यदि यह मानें कि ये दोनों शिलालेख अभिषिक्त होने के २७वें वर्ष प्रकाशित किये गये थे, तो इस तारीख़ को उस समय के अनुरूप होना चाहिये जब कि पाँचों यूनानी राजा जीवित थे। यदि १२वें शिलालेख का अलिकसुन्दर, ऐपिरस का राजा अलिकसुन्दर लिया जाय तो इस वर्ष को २७२ ई० पू० से लेकर २५८ ई० पू० के मध्य आना चाहिये। किन्तु यदि हुल्स के मतानुसार वह कौरिन्थ का राजा अलिकसुन्दर है तो इस साल को २५२ से २४४ ई० पू० के मध्य आना

[1]कलिङ्ग शिलालेख द्वितीय (जौगडा)

चाहिए। चूँकि जिस १३वें शिलालेख में उपरोक्त राजा का वर्णन आया है वह सम्राट् के २७वें वर्ष प्रकाशित हुआ था; अतः अशोक का वह वर्ष जब उन्होंने इन यवनों का उल्लेख किया २५२ ई० पू० है, फलतः अशोक का राज्याभिषेक २७६ ई० पू० में हुआ होगा।

अब दूसरी प्रकार से लीजिए—कैरीन के राजा मक का समय ३००-२५० ई० पू० है। २५० ई० पू० में इस राजा की मृत्यु हुई थी। इस मग का शिलालेख (त्रयोदश) में उल्लेख आया है, इससे प्रकाशित होता है कि ये यवन-राजा लगभग २५० ई० पू० तक अशोक के समकालीन थे। इस निधन की खबर पाटलिपुत्र तक पहुँचने में, वस्तुतः मार्ग की असुविधा अथवा वर्त्तमान सुविधाओं के अभाव के फलस्वरूप १-२ वर्ष के लगभग लगा हो, अतः यह खबर अशोक ने २४६ ई० पू० के पाई होगी। किन्तु यह भी निश्चित है कि त्रयोदश शिलालेख प्रकाशन के समय वह जीवित ही था, क्योंकि शिलालेख ने उसका उल्लेख दिया है। फलतः इस शिलालेख के प्रकाशन का समय २५१-२५२ होना चाहिये। और जैसा कि बङ्गाली विद्वान् द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट हो चुका है कि त्रयोदश शिलालेख अभिषेक के २७वें वर्ष प्रकाशित हुआ था, इसलिये अशोक के राज्यकाल की तिथि (जब अशोक सिंहासनारूढ़ हुए थे) क़रीब-क़रीब २७८, २७६ के पड़नी चाहिये।

तीसरे प्रकार से हम अशोक के राज्याभिषेक की तिथि का निर्णय प्रथम अशोक के दादा प्रगल्भ श्री चन्द्रगुप्त के समय को निर्धारित कर सकते हैं। चन्द्रगुप्त की तिथि जानने के लिये हमें निम्न संदर्भों पर ध्यान देना चाहिये—

Appinus says "(Selecus) crossed Indus and waged war on Sandrocottios, king of the Indians who dwelt about it, until he made friends and entered into relations of marriage with him."

अर्थात् "(सिल्यूकस) ने इन्डस को पार कर सैन्ड्राकोटस् भारतीय राजा के विरुद्ध जो यहीं रहा करता था—पर चढ़ाई की। यावत् वह मित्र बना और उसके साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित किया।"

According to Strabo, Selecus ceded to Chandragupta a tract of land to the west of the Indus, and received in exchange five hundred elephants.

अर्थात् "स्ट्रोबो के अनुसार सिल्यूकस ने इन्डस के पश्चिम प्रदेश का एक टुकड़ा चन्द्रगुप्त को भेंट किया, और बदले में पाँच सौ हाथी पाये।"

पुनः "सैन्ड्राकोटस् भारत पर उस समय शासन करता था, जिस समय सिल्यूकस अपने भावी उत्कर्ष के निर्माण में संलग्न था। सिल्यूकस ने, सैन्ड्राकोटस् के साथ सन्धि कर ली, और पूरब में अपने कार्यों की व्यवस्था ठीक कर, अन्टीगोनस् के विरुद्ध युद्ध में संबद्ध हो गया।" (ई० पू० ३०२)[१]

यह सुप्रकाशित ही है कि चन्द्रगुप्त ही सैन्ड्राकोटस् था। आगे फिर देखिए—सिल्यूकस नैकेटर (३१२-२८० ई० पू०) लगभग ३०२ ई० पू० के, इपिसस की लड़ाई से पूर्ववर्त्ती साल, कैपोडोकिया में पहुँचा। यहाँ से भारतवर्ष पहुँचने में कम से कम दो ग्रीष्म व्यय करने पड़े होंगे। अतः सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि का वर्ष ३०४ के ग्रीष्म में और कम से कम शरद (जाड़ों) में पड़ेगा। अतः सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त की सन्धि ३०४ ई० पू० में हुई थी, जिस समय सिल्यूकस ने मेघास्थनीज को मौर्य्य दर्बार में भेजा था।[२]

पुराणों में भी चन्द्रगुप्त का उल्लेख है—

The poseud—prophetic account of the Purana runs thus : "Kautilya or Chanakya will establish King Chandragupta in the Kingdom. Chandragupta will be king 24 years, Bindusara 25 years, Asoka 36 years."[३]

[१] Ancient India by Megasthenese and Arian, p. 7.

[२] J.R.A.S. 1914, Ch. XVI, p, 345, [३] Oxford 1913, p. 28.

पुराणों के इस उल्लेख का महावंश समर्थन करता है—

"Kalasoko had ten sons : these brothers (conjointly) ruled the Empire righteously, for twenty-two years. Subsequently there were nine : they also according to their seniority righteously reigned for twenty-two years. Thereafter the Brahman Chanakya in gratification of an implacable hatred born towards the ninth surviving brother, called Dhana-Nando, having put him to death, he installed to the sovereignty over the whole of Jambudipo, a descendant of the dynasty of Moryian sovereigns endowed with illustrious and beneficient attributes, surnamed Chandragupto." (Mahavamsa—George Turnour, Ch. V).

फलतः पुराणों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने २४ वर्ष तक राज्य किया। अर्थात् ३२३ से २९९ ई० पू० तक के लगभग राज्य किया। और चूँकि पुराणों के अनुसार बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक शासन किया इसलिए बिन्दुसार का शासन काल २९९ ई० पू० से लेकर २७५-२७४ ई० पू० तक रहा। अतः सिद्ध है कि अशोक को २७४ ई० पू० में राज्य मिला, हस्तगत हुआ। यहाँ पर महावंश लिखता है—"अशोक अपने धर्म और अद्वितीय प्रतिभा के कारण, पूर्ण शक्तिशाली था। अपने निन्यान्बे भाइयों का निधन कर वह जम्बुद्वीप का एकछत्र अधिपति बन बैठा।[1] ....राज्यारोहण के चार साल बाद, इस अद्वितीय प्रतिभाशाली सम्राट् ने पाटलिपुत्र में अपना अभिषेक-उत्सव किया।"

अतः विदित है कि राज्यारोहण के चार वर्षों के पश्चात् सम्राट् अशोक का अभिषेक हुआ, यदि यह ठीक समझा जाय तो अशोक के अभिषेक की तीथि २६९-२६८ ई० पू० में पड़ती है। किन्तु शिला-लेखों से स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार से हम २७९ ई० पू० पर ही पहुँचते

[1] यह गलत सिद्ध हो चुका है (देखिये प्रथम प्रकरण, इसी पुस्तक में)

हैं। शिलालेखों की सत्यता अधिक प्रमाणयुक्त होनी चाहिये, इसलिये यदि हम २६९ ई० पू० के अतिरिक्त २७९ ई०पू० को ही सम्राट का अभिषेक काल मानें, तो हमसे अधिक भूल न होने की सम्भावना है।

तीसरा प्रकरण

अशोक की शासन-व्यवस्था

दूसरे प्रकरण में हम मौर्य्य-राष्ट्र की सीमाओं का उल्लेख कर आये हैं। अतः हमें पूर्णतया मालूम है कि अशोक के समय मौर्य्य-साम्राज्य एक अत्यन्त विस्तृत साम्राज्य था।

अशोक के शासन-काल के पहले १३ वर्षों के प्रति हमें कुछ मालूम नहीं है। अशोक का यह समय बौद्ध-धर्म ग्रहण करने से पहले का है। इस समय का यदि कुछ उल्लेख मिलता है तो सिंहल की बौद्ध-कथाओं से ही, जो अशोक को, जैसा कि हम प्रथम ही निर्देष कर आये हैं, चंडाल, दुराचारी के घृणित नामों से पुकारते हैं। गाथायें कहती हैं, एक दिवस क्रोध में आकर, उसने अपने ही हाथों से तलवार लेकर पाँच सौ (५००) मन्त्रियों का बध कर डाला। दूसरे दिन उसने पाँच सौ (५००) स्त्रियों को जीवित ही जलवा डाला, क्योंकि इन स्त्रियों ने प्रासाद के "अशोक" वृक्ष से पत्तियाँ तोड़ कर सम्राट् अशोक का परिहास किया था। ये कहानियाँ निरी गप्प हैं।

अतः कहने का आशय यही है कि अशोक के प्रति इस समय का हमें कुछ ज्ञान नहीं। सम्राट् के जीवन का यह काल अप्रकाशित है। तथा यदि सम्राट् के प्रति हमें कुछ मालूम है तो उन्हीं के शिलालेखों से, और शिलालेख हमें इस काल का कोई परिचय नहीं दिलाते। इसलिये निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सम्राट् इस समय किस प्रकार शासन करते रहे होंगे। मेघास्थनीज़ से हमें मालूम है कि चन्द्रगुप्त के समय राजनगरी की शासन-प्रणाली क्या थी, अतः इसी विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि कम से कम अशोक के शासन-काल के प्रथम दिवसों में भी शासन का वही रूप रहा होगा।

मौर्य्य शासन का उल्लेख करते हुए मेघास्थनीज ने लिखा है कि बाज़ार, नगर, सैन्य आदि के शासनार्थ अलग अलग कर्मचारी नियत थे। नदियों की देखभाल करने के लिये तथा भूमि की पैमाइश करने के हेतु भिन्न कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। राजस्व वसूल करने के लिये भी अलग प्रकार के अध्यक्ष हुआ करते थे। कुछ राजकर्मचारियों का कार्य सड़क बनवाने का था, इन कर्मचारियों को प्रत्येक १० स्टेडिया, पर अलग-अलग रास्तों तथा दूरी का निर्देष करने के हेतु स्तंभ भी गाड़ने पड़ते थे।

पाटलिपुत्र का शासन ३० सदस्यों की एक कमीशन द्वारा होता था। यह कमीशन ६ सभाओं अथवा परिषदों में, विभाजित थी—प्रत्येक सभा में पाँच सदस्य हुआ करते थे। पहली सभा का कार्य दस्तकारी की देखभाल करना था। दूसरी सभा विदेशियों की आवभगत और देखभाल करने के लिये थी। यदि कोई विदेशी आदमी बीमार हो जाय तो इस सभा को उसका इलाज करना होता था, और यदि वह मर जाय तो उसकी मृत-क्रिया भी इसी सभा को करनी पड़ती थी। तीसरी सभा को जन्म और मरण का लेखा रखना पड़ता था। चौथी सभा तिजारत और व्यापार की देखभाल करने के लिए नियत थी—यह सभा तौल की भी जाँच किया करती थी। पाँचवीं सभा को बने हुए माल की बिक्री का प्रबन्ध करना होता था। छठीं सभा का कार्य बिके हुए माल पर चुङ्गी वसूल करना था—इस चुङ्गी की दर १० प्रति सैकड़ा थी। चुङ्गी न देने पर चोरी की तरह अंगभंग तथा फाँसी तक का भी दण्ड दिया जाता था।

इसी भाँति सेना के शासन के लिए भी ३० सदस्यों की एक कमीशन नियत थी। यह कमीशन ६ सभाओं अथवा परिषदों में बँटी हुई थी—प्रत्येक सभा में ५ सदस्य होते थे। ये ६ सभायें या परिषदें—(१) जल-सेना, (२) बैलगाड़ी, (३) पैदल, (४) अश्वारोही (५) रथ (War-chariots) (६) हाथी (Elephants)

आदि के प्रबन्ध का कार्य करती थीं (Ancient India by Megasthenese and Arian, McCrindle pp. 86-87) इसके अलावा मेघास्थनीज ने दर्बार का वर्णन भी दिया है। प्राच्य सम्राटों की भाँति ही मौर्य्य दर्बार का वैभव था। सम्राट् के अतिरिक्त राजकर्मचारी भी सोने की पालकी में बैठकर दर्बार में आते थे। राजकीय सवारी के साथ सजी-धजी स्त्रियाँ भी हुआ करती थीं। धनुष वाली स्त्रियाँ और दर्बारी निरंतर सम्राट् की परिचर्या में लगे रहते थे। शिकार के समय भी ये स्त्रियाँ साथ रहा करती थीं। इन स्त्रियों का कार्य लोगों को राजकीय मार्ग पर चलने से रोकना था। राजमार्ग पर अतः कोई नहीं चल सकता था और यदि कोई बिना आज्ञा के राजमार्ग पर चला जाय तो उसे फाँसी का दण्ड दिया जाता था। पशुओं जैसे घोड़े बैल आदि की बहुधा लड़ाई हुआ करती थी—सम्राट् इन लड़ाइयों को बहुत पसन्द करते थे। इसी प्रकार की लड़ाई आदि के उत्सव मनाने को अशोक ने अपने शिला-लेख में बुरा "समाज" कहा है।

मौर्य्य शासन-व्यवस्था को समझने के लिए कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी यथेष्ट सहायता की वस्तु है। किन्तु हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि कौटिल्य के विधान के अनुरूप ही मौर्य्य चन्द्रगुप्त तथा अन्य मौर्य्य-सम्राटों ने शासन किया होगा। अर्थशास्त्र यद्यपि चन्द्रगुप्त के परम सहायक और मंत्री कौटिल्य का लिखा है, किन्तु वह सब नृप-तियों के मार्गदर्शन के लिये है, अतः यह कहना कठिन है कि मौर्य्य-राजाओं ने दृढ़ता के साथ कौटिल्य की नीति पर ही शासन-कार्य किया था, किन्तु निःसंदेह इतना अवश्य कह सकते हैं कि मौर्य्य-राजाओं की नीति पर अर्थशास्त्र का यथेष्ट प्रभाव रहा और संभवतया इसी के आदर्श को लेकर मौर्य्य-राजाओं ने शासन का विधान किया।

कौटिल्य या शासन की शासन-नीति—मौर्य्य शासन-विधान का कुछ ज्ञान करने के लिए—संक्षेप में यहाँ पर कौटिल्य की नीति

उद्धृत की जाती है। शासन के अर्थ चाणक्य ने निम्न अवयव बतलाये हैं—

(१) राजा—राजा को प्रजा के हित सब कार्य पराक्रम सहित करना चाहिये (जैसा अशोक ने किया)।

(२) प्रिवी-कौंसिल—सहकारिन्-सभा या परिषद् (अथवा मंत्री-परिषद्)।

(३) विभाग—जैसे गुप्तचर-विभाग, राजदूत-विभाग आदि।

(४) छः सभायें—जिन छः सभाओं का मेवास्थनीज ने उल्लेख किया है, उनके प्रति कौटिल्य से हमें कुछ परिचय नहीं मिलता।

(५) चुङ्गी—बिके हुए माल पर चुङ्गी एकत्रित करने को अध्यक्ष नियत थे। (मेघास्थनीज ने भी इसका उल्लेख किया है)।

(६) जन्म और मरण की गणना—इस कार्य के लिए "नागरक" नियत होते थे। इस नागरक को जनगणना का लेखा रखना पड़ता था कि कौन-कौन पैदा हुआ और कौन मरा।

(७) राजशुल्क—विदेशी मदिरा जो कपिसा अथवा अफ़ग़ानिस्तान से तथा यवन-प्रदेशों से भारत आती थी—उस पर "कर" वसूल करने के लिए कराध्यक्ष हुआ करते थे।

(८) दण्ड्य-संहिता या पिनल कोड (Penal Code)—दण्ड बहुत कड़ा दिया जाता था। दण्ड निष्ठुरता इतनी अत्यधिक थी कि यदि कोई सरकारी आदमी आठ पण के मूल्य तक की कोई वस्तु चुरा ले तो उसे फाँसी का दण्ड दिया जाता था। तथा यदि कोई अन्य आदमी—जो राजकर्मचारी न हो—४० से लेकर ५० पण तक चुरा ले तो उसे भी मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।

(९) सत्य की परख—किसी दण्डी से सत्य बुलाने अथवा किसी बात को उससे क़बूल कराने के लिए कई प्रकार से कष्ट देना न्याय-संगत माना जाता था—अपितु यह विधान स्वच्छंदतापूर्वक काम में लाया जाता था।

यहाँ पर निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि अशोक ने भी कौटिल्य-नीति का एकदम पालन किया या उसकी नीति को एकदम छोड़ ही दिया ; किन्तु अशोक की शासन-नीति जैसी कि शिलालेखों से मिलती है—बहुत कुछ उलट-फेर के साथ यही थी। वस्तुतः अशोक ने भी अपने दादा और पिता की पूर्वनीति पर ही काम किया यद्यपि राजनीति के पूर्व-नियमों में कुछ परिवर्तन तथा सुधार-कार्य अवश्य किया गया—जैसा कि शिलालेखों से मालूम होता है।

अशोक का शासन—(शिलालेखों के आधार पर)—पूर्व की भाँति मौर्य्य-साम्राज्य कई प्रान्तों में बँटा हुआ था। अशोक राजकुमार अवस्था में उज्जैन तथा तक्षशिला का भी प्रान्तीय शासक रह चुका था। अतः इसी नीति का अनुसरण करते हुए सम्राट् अशोक ने भी शासन की सुभीता के लिए मौर्य्य-राष्ट्र को विभिन्न प्रान्तों में बाँट रखा था।

प्रान्तों के शासन के लिए प्रान्तीय शासक अथवा उप-शासक (Viceroys) नियुक्त थे। इन प्रान्तों में से कुछ प्रान्त अत्यधिक राजनैतिक महत्त्व के थे। अतः ऐसे प्रान्तों के लिए राजकीय घराने के कुमार नियत किये जाते थे। इन प्रमुख प्रान्तों की संख्या चार थी। ये प्रान्त नीचे दिये जाते हैं—

(१) गान्धार—इस प्रान्त की राजनगरी तक्षशिला थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय—जैसा कि ग्रीक इतिहासज्ञों से मालूम होता है, तक्षशिला सुस्थित और समृद्धिशाली नगर था। इसी का राजा अम्भीक हुआ, जिसने मेसिडोनियन् प्रभुता को अंगीकार किया था। मध्य एशिया के साथ व्यापार करने का यह प्रमुख वाणिज्यस्थान अथवा केन्द्र था। तक्षशिला आर्य-विद्या का भी प्रमुख स्थान रह चुका था, संभवतया सिकन्दर के आगमन से ५० वर्ष पूर्व— अद्वितीय व्याकरणाचार्य—"पाणिनी" यहाँ पढ़ाया करता था। इस नगर के खंडहर वर्तमान रावलपिंडी तहसील के साहधरी गाँव से मिलते-जुलते हैं। तक्षशिला बौद्ध-धर्म के प्रमुख तीर्थ-स्थानों में से एक

था। कहा जाता है कि इसी नगर में बुद्ध भगवान ने अपने सिर का दान किया था। इसके पश्चात् तक्षशिला इतिहास से ओझल हो जाता है और अन्ततः २०वीं शताब्दी में खोद कर फिर उसका पता लगता है।

यह प्रान्त सीमान्त था—अतः व्यापार का केन्द्र होने तथा सीमांत प्रदेश होने के कारण इसका अशोक के समय यथेष्ट राजनैतिक महत्त्व था। इसलिये इसका शासक भी राजकुमार था।

(२) कलिङ्ग—यह प्रान्त सम्राट् अशोक ने हाल ही में विजय किया था। अतः यह प्रदेश भी कम राजनैतिक महत्व का न था। नव-विजित प्रदेश होने के कारण उसके लिए एक क्षमणशील तथा विश्वस्त शासक की आवश्यकता थी, जिससे प्रजा में शान्ति स्थापित रहे और कहीं विद्रोह न होने पावे। अतः इस प्रान्त का शासन भी राजकुल के कुमार के पास था।

(३) उज्जैन—यह प्रान्त न सीमान्त था और न नवीन विजय किया हुआ ही प्रदेश; किन्तु अशोक के समय यह प्रान्त व्यापार का मुख्य केन्द्र था। अतः यह प्रान्त भी राजकुमार द्वारा नियंत्रित किया जाता था। प्राचीन काल में यह "अवन्ती" के नाम से विख्यात था। आज भी अवन्ती का स्थान प्रमुख तीर्थ-स्थानों में से है। आर्य भौगोलिकों के अनुसार उज्जैन का वही महत्त्व है जो ग्रीनविच (Greenwich) का अंग्रेजों में है।

(४) दक्षिणी प्रान्त—अन्तिम प्रमुख प्रदेश दक्षिण के चोड़ और पांड्य राजाओं की सीमाओं को छूता हुआ दक्षिण का दूरस्थ प्रान्त था। स्वतन्त्र राज्यों के पास स्थित होने के कारण यह प्रान्त भी राजनैतिक दृष्टि से यथेष्ट महत्त्व का प्रदेश था। अतः इस प्रान्त का शासन भी राजकुल के 'आर्य्यपुत्र' के अधीन था। इस प्रदेश की राजनगरी सुवर्णगिरी थी।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने की है—अशोक के शिलालेखों में पूर्वनिर्दिष्ट तीन प्रान्तों के शासकों के लिये 'कुमार' नाम आया है। किन्तु सुवर्णगिरी के शासक को ब्रह्मगिरी (गौण-शिलालेख प्रथम) में आर्य्यपुत्र कहा गया है। मालूम होता है कि 'आर्य्यपुत्र' कुमारों के अतिरिक्त पद में बड़ा था। महाभाग में आम्रपाली लिच्छिवी राजाओं के लिये 'आर्य्यपुत्र' शब्द का प्रयोग करती है। इससे मालूम होता है कि आर्य्यपुत्र, कुमारों के अतिरिक्त 'राजाओं' के लिये प्रयुक्त किया जाता था। इसी तरह भास अपने नाटक स्वप्नवासवदत्ता में उदयन को तीन बार 'आर्य्यपुत्र' से संबोधित करता है। अतः प्रकाशित है कि 'आर्य्यपुत्र' का पद कुमारों से बढ़ कर था, जिससे यह मालूम होता है कि 'आर्य्यपुत्र' युवराज था (देखिए—श्री भंडारकर,-अशोक पृष्ठ—५५--५७)।

पूर्वनिर्दिष्ट प्रमुख प्रान्तों को छोड़ कर और भी प्रान्त थे। ये प्रान्त अधिक राजनैतिक महत्ता के न थे। अतः इन प्रान्तों का शासन राजकुमारों के पास न था। परन्तु इन प्रान्तों के शासकों के प्रति शिलालेखों से भी हमें कुछ नहीं मालूम होता। किन्तु रुद्रदमन के जुनागढ़ लेख से विदित होता है कि सौराष्ट्र का शासक अशोक के समय यवनराज तुहषास्प के पास था तथा उनके दादा के समय पुष्पगुप्त उसका शासक रहा था[१]। सौराष्ट्र प्रदेश का एक यवन क्यों शासक था? इस प्रश्न का निरूपण करते हुए श्री भंडारकर कहते हैं कि जिस प्रकार अकबर के समय हिन्दू मानसिंह और बीरबल प्रांतों के शासक हो सकते थे तो फिर अशोक के समय में विदेशी यवन के अधिपति होने में क्या आश्चर्य? हाँ, हो सकता है यह सम्राट् की एक राजनीतिक चाल हो जिससे वे अपने देश में बसे हुए यवनों को भी पूरे हकों को देकर ख़ुश करना चाहते हों। श्री भंडारकरजी

---

[१]Ep. Indica, VIII pp. 46-47.

के 'मानसिंह' वाले उदाहरण से यदि अनुमान को संकट में डाला जाय तो यह भी कह सकते हैं कि शायद सम्राट् तथा तुहषास्प यवनराज के मध्य कुछ सम्बन्ध हो चला था। इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि हम जानते हैं कि यवन सिल्यूकस की पुत्री स्वयं अशोक के प्रतापी पितामह चन्द्रगुप्त को ब्याही थी। तीसरा कारण स्वयं अशोक की विश्व-प्रेम-भावना और अपक्षपात हो सकता है। जग्निमित्रं ही उनका पावन सिद्धांत था। उनके तथा अन्य जीवों, मानवों के मध्य कोई अंतर न था, उन्हें तो शासन के लिये एक योग्य और कुशल व्यक्ति की आवश्यकता थी; चाहे वह किसी भी जाति, रंग और श्रेणी का हो।

यह विश्व-भावना ही सम्राट् अशोक के अद्वितीय होने का कारण है। उनकी महानता आदर्शवादी होने में नहीं, किन्तु मनसिज आदर्शों तथा मनोगत भावों के प्रत्यक्षीकरण में है। उनका वाह्य-शून्यवाद (Idealism) अकृत्रिम तथा काल्पनिक ही न था वरन् उनके संकल्पों में इष्टसिद्धि एवं कृतार्थता थी।

प्रान्तीय कुमारों के अधिकार—ये प्रांतीय कुमार-उपशासक (Kumar Viceroys) बहुधा स्वतंत्र ही हुआ करते थे। उनकी शक्ति सम्राट् से संकलित न थी। उन्हें यथेष्ट स्वतंत्रता प्राप्त थी—उज्जैनी और तक्षशिला के कुमारों को अपने आप महामात्र नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त था। प्रति तीसरे वर्ष शासन की देखभाल और जाँच करने के लिये कुमार-शासकों को इन्हें (महामात्रों) प्रांतों में दौरा करने को भेजना पड़ता था (पृथक कलिंग शिलालेख)। किन्तु तोषाली प्रांत के कुमार को यह अधिकार न प्राप्त था, जब कि और प्रांत के कुमार-उपशासक स्वयं महामात्रों को नियुक्त करते थे, तोषाली के महामात्रों की नियुक्ति स्वयं सम्राट् ही करते थे। अस्तु जबकि उज्जैनी और तक्षशिला के प्रान्त कुमार-शासकों के पूर्ण अधिकार में थे; तोषाली

का प्रान्त कुमार तथा महामात्रों के सम्मिलित शासन के आधिपत्य में था; जिसका पूर्ण नियन्त्रण पुनः सम्राट् के हाथों में था। सुवर्णगिरी का शासक—जिसके द्वारा सम्राट् (अशोक) ने कुछ आज्ञायें वा अनुशासनों को इसिला के महामात्रों को भेजी थीं—अन्य कुमार उप-शासकों के पद से बढ़ कर था। शिलालेखों में सर्वत्र 'कुमार' ही राजघराने के शासकों के लिये प्रयुक्त हुआ है, किन्तु प्रथम और द्वितीय शिलालेख में कुमार की जगह 'आर्यपुत्र' आया है। इससे मालूम होता है कि इन दो शब्दों (कुमार और आर्य्यपुत्र) में कुछ पद-सूचक भिन्नता है। कलिङ्ग लेख तोषाली, उज्जैनी तथा तक्षशिला के उपराजों को कुमार लिखता है केवल मैसूर के दो गौण शिलालेख सुवर्णगिरी के उपशासक को 'आर्यपुत्र' लिखते हैं, जिससे मालूम होता है कि 'आर्यपुत्र' 'कुमार'-पद से उच्च पद का सूचक है। एक ही पद के लिये दो विभिन्न शब्दों का प्रयुक्त होना कुछ असंगत सा लगता है। अतः यहाँ पर श्री भंडारकरजी का मत ही श्रेयस्कर विदित होता है—उनकी सम्मति के अनुसार 'आर्य्यपुत्र' युवराज था। सम्राट् के अनंतर साम्राज्य का अधिकारी भी यही युवराज होता था।

यहाँ पर इतना और कह देना होगा कि तोषाली प्रान्त को छोड़ कर अन्य प्रान्तों का पूर्ण भार और शासन कुमारों के ही स्कंध पर था। उनके शासन-कार्य में सम्राट् कुछ भी हस्तक्षेप न करते थे। जब समाट् को कुमार-उपशासकों के अधीनस्थ विभाग या उप-विभागों के महामात्रों को कोई अनुशासन भेजना होता था तो ये आज्ञायें वा अनुशासन सम्राट् कुमारों के द्वारा ही महामात्रों को भिजवाते थे। 'इसिला' के महामात्रों को 'आर्य्यपुत्र' द्वारा ही आज्ञायें प्रेषित की गई थीं।

किन्तु जो प्रान्त सीधे सम्राट् के अधीनस्थ थे, वहाँ के प्रांतों तथा उप-विभागों के शासकों को सम्राट् स्वयं आज्ञायें भेजते थे—जैसे

कौसाम्बी तथा सारनाथ के महामात्रों को सम्राट् ने सीधा सम्बोधन किया है। इन महामात्रों को सम्राट् स्वतः आज्ञायें देते हैं न कि कुमार-उपशासक के माध्यम द्वारा अनुशासनों को भिजवाते हैं।

राज्य के प्रान्तों के शासन का उत्तरदायित्व कुमार-उपशासक, तथा महामात्र दोनों पर था। अस्तु जब सम्राट् कभी प्रांतों को आज्ञायें प्रेषित करते थे तो वे आज्ञायें कुमार तथा महामात्र दोनों के संयुक्त नाम पर भेजी जाती थीं। इसी प्रकार कुमार-शासक भी जब कभी अपने अधीनस्थ महामात्रों को आज्ञा भेजते थे, तो ये आज्ञायें कुमार अपने और महामात्र दोनों के सम्मिलित नामों से प्रेषित करवाते थे। अतः प्रांतों के शासन का उत्तरदायित्व कुमार तथा महामात्र दोनों पर था।

राज्य के अन्य कर्मचारी—इतने विशाल राज्य के शासन-कार्य के लिये अन्य भी कई राजकर्मचारी रहे होंगे—इसमें कोई भी सदेह नहीं। परन्तु उन सबका ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है। हाँ, तीसरे शिलालेख से हमें अवश्य तीन और राजकर्मचारियों का पता लगता है—(१) प्रादेशिक (प्रादेसिके, पाडेसिके), (२) रज्जुक, (३) युक्ता[1]।

इन विभिन्न राजकर्मचारियों को कौन कौन कार्य करना होता था इसी को जानने की अब हम कोशिश करेंगे। पहले युक्त को ही लीजिए।

'युक्त' यह शब्द कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी प्रयुक्त हुआ है, तथा साथ ही कौटिल्य अर्थशास्त्र में 'युक्त' के अधीनस्थ सहायता देने वाला 'उपयुक्त' (राजकर्मचारी) भी आया है। अर्थशास्त्र से प्रमाण देते हुए श्री० एफ० डब्लू० थौमस का कहना है कि ये युक्त राज्य के गौण अथवा प्रमुख कर्मचारी थे।[2] मनुस्मृति में भी युक्त शब्द आया है—

"प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेयुक्तैरधिष्ठितम्।
मांस्तत्र चौरान् गृह्णीयस्तान् राजे भेन घातयेत्॥

मनुस्मृति ८१३४

[1]मम युता लज्जुके पादिसके—तृतीय शिलालेख (कालसी) [2]J. R. A. S. (The Edicts of Asoka ch. XIV).

"खोया हुआ धन पुनः प्राप्त होने पर 'युक्त' के पास रहना चाहिये। कोई भी व्यक्ति चोरी में सम्मिलित हुआ विदित होने पर राजा को उसे हाथी द्वारा मरवा डालना चाहिये।" इस कथन द्वारा 'युक्त' के कार्य पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, मालूम होता है 'युक्त' लोगों को पुलिस अथवा नगर-रक्षण का कार्म भी करना पड़ता था।

कौटिल्य लिखते हैं—

"मत्स्या यथान्तस्सलिले चरन्तो ज्ञातुं न शक्या सलिलं पिवन्तः।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः ज्ञातुं शक्या धन माददानाः।"
(कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृष्ठ ७०२। ६)।

"जिस प्रकार यह ज्ञात करना कठिन है कि पानी के भीतर की मछली पानी पी रही है या नहीं, उसी तरह यह मालूम करना भी कठिन है कि 'युक्त' धन हड़प रहे हैं या नहीं?" इस कथन से मालूम होता है कि युक्त लोग कोषाध्यक्ष्य थे, उनके पास हिसाब (account) का कार्य था। इन युक्तों को राजस्व संग्रह करना पड़ता था तथा ये ही लोग कोष के अध्यक्ष भी होते थे। ऊपर कहा है कि श्री थौमस 'युक्त' को अमुख्य वा गौण कर्मचारी लिखता है, किन्तु कौटिल्य के कथनानुसार ये युक्त राज्य के प्रमुख कर्मचारियों में से थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र २। ६७ लिखता है, "राजकोष में खयानत होने पर, निम्न व्यक्ति—जैसे निधायक (खजान्ची), निबन्धक, प्रतिग्राहक, दायक, मंत्री, वैवर्त्तकार, इन सब की अलग से परीक्षा होनी चाहिये। अगर इनमें से कोई भी झूठ कहे तो उसे वही दण्ड मिलना चाहिये जो कि प्रमुख कर्मचारी 'युक्त' को—जिसने अपराध किया है—दिया जायेगा।" फलतः ये युक्त लोग राज्य के प्रमुख कर्मचारियों में से थे। अस्तु, कोष की अध्यक्षता तथा कर वसूल करने के साथ साथ इन युक्तों के पास जिले का शासन भी सुपुर्द था—जैसी कि श्री भंडारकरजी तथा थौमस की सम्मति है। फलतः युक्त राजस्व एकत्र करने वाले, जिले के शासक (collectors) नगर का रक्षण-कर्त्ता तथा आमदरफ़्त का हिसाब

रखने वाले (accountants) थे। शिलालेख में भी 'युक्त' प्रथम आया है, इससे भी मालूम होता है कि 'युक्त' प्रमुख कर्मचारियों में से थे।

राजस्व एकत्र करने वाले इन 'युक्त' और 'उपयुक्त' कर्मचारियों के बहुत पीछे तक विद्यमान रहने का हमें उल्लेख मिलता है। राष्ट्रकूट महाराज गोविन्द चतुर्थ (६३० ई०) ने अपने शिलालेख में ग्रामकूट, महत्तर आदि राजकर्मचारियों के साथ साथ युक्त तथा उपयुक्त कर्मचारियों का भी उल्लेख किया है। गुप्तकाल में भी संभवतः इन्हीं युक्त और उपयुक्त कर्मचारियों को 'आयुक्त' और 'विनियुक्त' कहा गया है जैसा कि सम्राट् समुद्रगुप्त के शिलालेख से मालूम होता है। श्री सेनार्ट और बुलेर के अनुसार 'युक्त' का अर्थ—विश्वसनीय तथा 'कर्तव्य-परायण' से है (Senart, 1. P. 78)। (Buhler Z.D. M. G. XXXVII pp. 106, 8) किन्तु श्री सेनार्ट तथा बुलेर के इस पक्ष का विद्वानों ने समर्थन नहीं किया है।

प्रदेसिक—श्री थौमस कहते हैं प्रदिसिका का कार्य "कार्यनिर्वाहक (executive officer) राजस्व एकत्र करना तथा नगर-रक्षण (Police) था। ये प्रदेसिक अपने प्रमुख प्रदेस्तिर (जो राजा के मंत्रीमंडल का सदस्य होता था।) के अधीनस्थ होते थे।[1] किन्तु कर्न, बुलेर और सेनार्ट का कहना है कि प्रदेसिक स्थानिक शासक (Provincial Governors) व दैसिक प्रधान होते थे। बुलेर इनको ठाकुर, रावल, राव, आदि का पूर्वज मानता है।[2]

श्री भंडारकर, कर्न के पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं कि प्रदेसिक प्रान्तीय शासक होते थे। (Bhandarkar's Asoka, pp. 59)। किन्तु मेरी सम्मति में श्री थौमस का पक्ष ही प्रबल है और प्रदेसिका का वही अर्थ होना चाहिये जैसा कि थौमस कहते हैं। प्रदेशिका की व्युत्पत्ति प्रदेश से है जिससे प्रभावित होकर

---

[1] J.R.A.S., pp. 384—5, 1914. [2] Z.D.M.G. XXXVII 106

निःसंदेह बहुत से विद्वानों ने उन्हें प्रदेश का शासक करार कर दिया। परन्तु यदि कौटिल्य के अर्थशास्त्र को अच्छी तरह देखा जाय तो विदित होगा कि प्रदेशेना का अर्थ रिपोर्ट या आवेदन भी है।

अर्थशास्त्र लिखता है, "वैदेहकव्यञ्जनो वा सार्थ प्रमाण राज्ञः प्रेषयेत्। तेन प्रदेशेन राजा शुल्काध्यक्षस्य सार्थ प्रमाण मुपादिशेत्।" यहाँ पर तेन प्रदेशेन का अर्थ होता है, उसकी रिपोर्ट पर अथवा आवेदन पर। अतः प्रदेसिका की व्युत्पत्ति इस प्रदेशे(न) से भी प्रमाणित हो जाती है। इससे मालूम होता है कि प्रदेसिक का कार्य रिपोर्ट सुनना तथा रिपोर्ट पर कार्यवाही करना था। फलतः इस प्रदेसिका का कार्य विशेषतः कार्य निर्वाहक (Executive officer) के रूप में लेना चाहिये। इसके अलावा नगर-रक्षण तथा राजस्व उगाने का कार्य भी उनके सुपुर्द था। संभवतः अशोक के शिलालेख का 'प्रदेशिका' (शब्द) कौटिल्य के 'प्रदेशेता' के अनन्यरूप—(Idealical) है। अस्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार प्रदेसिका अथवा 'प्रदेसितर' का निम्न कार्य था—"गोप (village accountant) और स्थानिक (district officer) के कार्य का निरूपण अथवा अवेक्षण करना तथा गाँव और जिले के आफ़िसरों की कार्यवाही की जाँच-पड़ताल करना, तथा मुख्यतः धर्म्म-कर 'बलि' को उगाना था। उन्हें यह भी अधिकार था कि वे पिछले अवशिष्ट कर को बलपूर्वक एकत्र कर लेवें। वे दुष्ट अफसरों को दंड भी दे सकते थे।" कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रकरण—३५, भाग २, श्लोक—१४२।

रज्जुक—जातकों में रज्जुक का कार्य नापने, तथा सीमा निर्धारित करने का दिया है। जनार्दन भट्ट की राय है कि रज्जुक लिपिकार थे।[1] "अशोक की धर्म-लिपियाँ" काशी नागरी

---

[1]जनार्दन भट्ट, अशोक, पृष्ठ १२९।

प्रचारिणी सभा की सम्मति में "रज्जुक राज्य के भूमिकर और प्रबंध के प्रधान अधिकारी होते थे। यह नाम या तो भूमि की पैमाइश करने की रज्जु (रस्सी, जरीब) उनका लक्षण होने से पड़ा है, या राज्य की डोर उनके हाथ में रहने के उपचार से पड़ा है। ये प्रदेशिकों से उच्चकोटि के होते थे।" श्री भंडारकर के अनुसार "रज्जुक न्यायाधीश और पैमाइश के प्रमुख कर्मचारी थे।" बुलेर (Buhler) भी रज्जुक का सम्बन्ध रज्जु (रस्सी) से मिला कर उन्हें कर और पैमाइश के अधिकारी (officer) कहता है (Ep. Indica Volume II, p, 4664.) डाक्टर थौमस की भी राय है कि रज्जुक स्थानिक शासक के समेत पैमाइश तथा बन्दोबस्त और सिंचाई के आफिसर थे।[1]

रज्जुक अथवा रज्जु का संभवतः "राजा" शब्द से सानिध्य है। अतः "पाली" के अनुरूप इस शब्द का अर्थ महामात्य या महामात्र हो सकता है। तथा वे अधिकारी जिनके पास जीवन और मृत्यु की शक्ति हो। अथवा जिन्हें दण्डी को फाँसी एवं मुक्त करने दोनों की शक्ति प्राप्त हो।"[2] चाइलड्स की यह सम्मति ही मेरी राय में ठीक जँचती है। महावंश में भी राजा के लिए "राजको" प्रयुक्त हुआ है। यह राजको शब्द रज्जुक के संपर्कित है। अतः विदित होता है कि रज्जुक उच्च पदाधिकारी थे; एवं वे उपशासकों के अनुरूप प्रांतीय शासकों में से थे, जैसा कि चतुर्थ-स्तंभ-लेख से सर्वथा स्पष्ट है, यह लेख लिखता है, "रज्जुक को मैंने सैकड़ों हज़ारों प्राणियों के ऊपर शासन के लिये नियत किया है। मैंने रज्जुक को शासन और दंड का पूर्ण अधिकार दे दिया है।" इस वृत्त से सुप्रकाशित है कि रज्जुक हज़ारों प्राणियों पर शासन करते थे तथा उनकी शक्ति पूर्ण तथा स्वतंत्र थी, एवं उन्हें शासन और दंड का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। इसके अतिरिक्त जनपद की पूर्णतया देखभाल सुख और दुःख की

[1] J.R.A.S., 1914, The Edicts of Asoka.

[2] Childers, R. K. Mukerjee's Asoka, pp. 1334.

चिंता एवं इहलोक और परलोक दोनों की जनपद के लोगों के हित सुव्यवस्था करना भी उन्हीं का कार्य था (४ स्तंभ-लेख)। अतः प्रकाशित है कि सम्राट् और उप-शासक (viceroys) की भाँति ही रज्जुक का कार्य था अर्थात् सम्राट् और उपशासकों के अनुरूप ही रज्जुक का स्थान था।

रज्जुक के उच्च-पद का विश्लेषण आगे चल कर स्वयं चतुर्थ स्तम्भ-लेख ही कर देता है। इस लेख में सम्राट् कहते हैं, "जिस तरह कोई आदमी अपने बच्चे को किसी प्रवीण धाय को सौंप कर, यह विचार के निश्चिंत हो जाता है कि "प्रवीण धाय मेरे बच्चे का अच्छी प्रकार पालन करेगी"---इसी भाँति मैंने रज्जुकों को प्रजा के पालन, सुख एवं हित के लिए नियुक्त किये हैं।" इस कथन की उपमा से रज्जुक के कार्य तथा उच्च-शासन पद पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। अशोक का रज्जुक पर पूर्ण भरोसा था और इसीलिए रज्जुक पूर्णतया शासन-व्यवहार अथवा नियम या दण्ड के व्यवहार करने में स्वतन्त्र था। धाय को अपना बच्चा सौंपकर जैसे कोई पिता निश्चिन्त हो जाता है, उसी तरह रज्जुक को प्रजा का शासन देकर सम्राट् निश्चिंत हो जाते हैं। अतः सर्वशः प्रकाशित है कि निज कुमारों तथा भाइयों की भाँति ही सम्राट् रज्जुक पर विश्वास रखते थे, अतः रज्जुक का स्थान उप-शासकों के सन्निकट था, एवं ये प्रान्त के स्वतंत्र शासक थे।

इसी स्तंभ-लेख में पुनः सम्राट् कहते हैं---"मैंने रज्जुकों को स्वतंत्रता प्रदान की है। क्यों? इसीलिए कि वे भय-रहित, सन्देह-रहित, और भ्रांति-रहित हो अपने कार्य में लगे अथवा न्याय और शासन कार्य करें।"

पाँचवें शिलालेख के अनुरूप न्याय-विधान और शासन की त्रुटियों को सुधारने का कार्य अथवा अधिकार धर्म-महामात्र को दिया गया था। किन्तु इस चतुर्थ स्तंभ-लेख से प्रकाशित है कि धर्म-महामात्रों का वह कार्य अब रज्जुकों को दे दिया गया था। अतः स्पष्ट है कि

रज्जुकों को धीरे-धीरे उच्च अधिकार प्राप्त हो गये और अन्त में वे स्वतंत्र प्रान्तीय शासक बन बैठे।

यहाँ पर यह ध्यान रखना होगा कि चतुर्थ स्तंभ-लेख का अनुशासन अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष का है, जब कि प्रथमतः "रज्जुक"---तृतीय शिलालेख में अन्य दो कर्मचारियों अर्थात् युक्त तथा प्रादेशिक के साथ आया है; किन्तु उस समय रज्जुकों को चतुर्थ स्तंभ-लेख के अधिकार प्राप्त न थे। यह तृतीय स्तम्भ-लेख अभिषेक के १२वें वर्ष प्रकाशित हुआ था, अतः स्तंभ-लेख के अधिकार रज्जुक को तृतीय शिलालेख के १३ वर्ष पश्चात् प्राप्त हुए थे, उससे प्रथम वे केवल साधारण राजकर्मचारी ही रहे होंगे, क्योंकि यदि पहले से ही उनको न्याय एवं दंड की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती तो फिर से चतुर्थ-स्तंभ-लेख में उनके अधिकारों को निर्देश करने की कोई आवश्यकता न थी। अतः कह सकते हैं कि पूर्वनिर्दिष्ट विद्वानों ने रज्जुक का जो अर्थ लगाया, उस समय उन्होंने चतुर्थ स्तंभ-लेख पर ध्यान न दिया। यदि चतुर्थ स्तम्भ-लेख की अवहेलना न की जाती तो सर्वशः विदित हो जाता कि रज्जुक प्रांत के एक उत्तरदायी एवं स्वतंत्र शासक थे जिनका पद उप-शासक कुमारों के बाद स्थिर किया जाना चाहिये।

हम ऊपर कह आये हैं कि पाँचवें शिलालेख में जो अधिकार आदि धर्म-महामात्रों को प्राप्त थे, वे अब रज्जुक को ही दे दिये गये। अतः ध्यान रहे, कि रज्जुक (युक्त और प्रादेसिक) का कार्य केवल शासन संबंधी अथवा ऐहिक सुख की लोगों के हित व्यवस्था करना ही न था, अपितु जैसा स्तम्भ-लेख से स्पष्ट है, उन्हें लोगों के हित धर्म एवं पारलौकिक हित तथा सुख की व्यवस्था भी करनी पड़ती थी। इसे हम अशोक का सुधार-कार्य कह सकते हैं क्योंकि उनसे पहले धर्म और स्वर्ग का किसी ने कोई कार्य न किया और न करवाया। यही कारण है कि सम्राट् के तृतीय-शिलालेख में रज्जुक आदियों को शासन कार्य के अतिरिक्त धर्मानुशासन के अर्थ दौरा करने का आदेश देते

हैं। क्योंकि सम्राट् का ध्येय ही प्रजा को हर प्रकार से सुख पहुँचाना था। अतः वे कहा करते थे, "नास्ति हि क्रमतर सत्रलोक हितेन" सर्व लोकहित से बढ़कर और कोई कार्य अथवा कर्म नहीं है। सम्राट् की महानता थी कि वें चारु शासन के सुख-दान के अतिरिक्त पारलौकिक सुख का भी पूर्ण रूप से विधान करना चाहते थे। उनकी पावन वाणी थी, "इ अ च प सुखयमि परत्र च स्वग्रं अरथेतु ति"। "कुछ प्राणियों को इहलोक में सुख पहुँचा सकूँ जिससे वे दूसरे लोक में स्वर्ग प्राप्त कर सकें।" अतः प्रकाशित है कि सम्राट् के राजकर्मचारियों को स्वर्ग और शासन दोनों के सुख की प्रजा के अर्थ व्यवस्था करनी होती थी।

कलिंग के पृथक शिलालेख में एक और राजकर्मचारी का नाम आया है। कलिंग-शिलालेख (धौली) लिखता है, "देवानांप्रिय के वचनानुसार (अथवा आदेश के अनुसार) तोषाली के महामात्र और नगर-व्यवहारिकों को ऐसा आदेश दिया जाय (अथवा कहा जाय)।" नगर-व्यवहारिक के श्री जयसवाल जी ने दो टुकड़े किये हैं, नगर और व्यवहारिक, इसी पक्ष का समर्थन करते हुए सत्यकेतु विद्यालंकार जी कहते हैं, "निःसंदेह नागरकों का कार्य व्यवहार होने से बन्धन करते थे और व्यवहारिकों का कार्य शासन होने से वे दंड देते थे।" किन्तु हमें ऐसा कहना कुछ हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। इसका क्या अर्थ कि एक बन्धन करे और दूसरा दंड दे ? यह हमें उचित नहीं जान पड़ता। नगर-व्यवहारिक, महामात्र कौटिल्य के पुर-व्यवहारिक के संपर्किन है (कौटिल्य अर्थशास्त्र १,१२)। इस नगर-व्यवहारिक को एक ही शब्द में लेना चाहिये। जौगडा प्रज्ञापन में 'महामाता नगल व्यवहाल' प्रयुक्त हुआ है इसी भाँति नगर के अधीश के लिये कौटिल्य ने नागरिक महामात्र शब्द का प्रयोग किया है। (कौटिल्य अर्थशास्त्र ४, ५)।

इससे ज्ञात होता है कि नगर-व्यवहारिक के लिये महामात्र शब्द अथवा उपाधि का प्रयोग किया जाता था। जिस प्रकार समाहर्त्ता

जनपद का अधीश था उसी भाँति नगर का अधीश नागरिक (कौटिल्य अर्थशास्त्र ३५, ३६) अथवा नगर-व्यवहारिक या महामात्र नगर-व्यवहारिक हुआ करता था। नगर का अर्थ 'पुर' से है और 'व्यवहार' का अर्थ शासन या "व्यवस्था" से है। अतः सुप्रकाशित है कि नगर-व्यवहारिक से तात्पर्य उस राजकर्मचारी से है जिसके पास नगर के शासन का भार सौंपा गया हो, अर्थात् नगर का शासक नगर-व्यवहारिक कहलाता था।[1]

कलिङ्ग-शिलालेख प्रथम—(धौली) में सम्राट् कहते हैं—"जो कुछ भी मैं ठीक या हितकर समझूँ, उसे मेरी कामना है कि किसी प्रकार कार्य रूप में लाऊँ और भली प्रकार पूरा कर सकूँ। इस अर्थ की सिद्धि के लिये मैं मुख्य उपाय शिक्षा देना अथवा अनुष्ठि समझता हूँ। तुम लोग (अथवा नगर-व्यवहारिक) अनेकों सहस्रों प्राणियों के ऊपर नियत हो, क्यों? इसीलिये कि तुम सर्व मनुष्यों से प्रेम करो या सब मनुष्यों के प्रेम को पा जाओ। सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं"......आदि। इस लेख में सम्राट् अशोक ने राजा एवं शासक के कर्त्तव्य का निर्देश किया है, सम्राट् नगर-व्यवहारिक अथवा शासकों को जतलाना चाहते हैं कि वे स्मरण रखें कि वे "प्रजा अथवा मेरे पुत्रों के साथ स्नेह का बर्ताव करें क्योंकि 'मनु' कहता है—

"स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्त्तेत पितृवन्नृपु" (सातवाँ अध्याय ८०) अतः सम्राट् के नगर-व्यवहारिकों को इस भाँति आदेश एवं अनुशासन करने से मालूम होता है कि उन पर शासन-व्यवस्था का यथेष्ट उत्तरदायित्व था और इसी उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभाने के हेतु ही सम्राट् उनको इस तरह निर्देश कराते हैं। इसके सिवा "बहूसु पान-साहसेसु आयुता"–(धौली-कलिङ्ग शिलालेख) अर्थात्

[1]व्यवहार-समता तथा दण्ड-समता के भंग करने पर रज्जुक को नगर-व्यवहारिकों के शासन-कार्य की भी देखभाल करनी पड़ती थी, जिससे फिर कभी न्याय एवं दण्ड-समता भंग न हो सके।

"तुम बहुत से प्राणियों के ऊपर शासन के लिये आयुक्त हो", से भी सर्वथा स्पष्ट है कि इन नगर-व्यवहारिकों का शासन-क्षेत्र एवं कार्य यथेष्टतया विस्तृत था, तथा जनपद के शासकों के अनुरूप ही उनका शासन आदि कार्य में पद एवं हाथ था।

इसके अनन्तर १२वें शिलालेख में तीन और राजकर्मचारियों के नाम दिये गये हैं; (१) धर्म-महामात्र, (२) स्त्रीध्यक्षमहामात्र, और "व्रजभूमिक"।

सम्राट् अशोक बौद्ध हुए थे, इन्होंने शाक्यमुनि के नियोगों को अपनाया था, इसीलिये कि भगवान् गौतम की भाँति वे संसार के सुख-दुःख का कारण समझना चाहते थे, एवं जिससे विश्व-शान्ति स्थापित हो सके, जिससे संसार के प्राणी सुख प्राप्त कर सकें, उसी वस्तु को अशोक ढूँढ़ना चाहते थे, और वे अपने इस अन्वेषण में सफलीभूत भी हुए। उन्हें प्रकाशित हो गया कि सम्पूर्ण सुख और दुःख के मूल में "धर्म और अधर्म" ही हैं, मनु भगवान् भी कहते हैं—"अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्। धर्मार्थप्रभवं चैव सुख संयोगमक्षयम् ॥६४॥ अध्याय--६वाँ।" अर्थात् अधर्म से दुःख और धर्म से ब्रह्म का साक्षात्कार, होने से अक्षय ब्रह्मसुख मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत: इसी "धर्म" के हित सम्राट् ने सर्व प्रकार से पराक्रम तथा उद्योग किया, क्योंकि वे सब के हित एवं सुख के अभिलाषी थे। सम्राट् के अपने प्यारे शब्द थे, "सवभूतानां, अछतिं च, सयमं च, समचेरां च, मादवं च"--- अर्थात् "मैं (अशोक) सर्व प्राणियों के हेतु, परित्राण, इन्द्रियजय, मनः-शान्ति एवं सुख का अभिलाषी हूँ।" अतः इसी अर्थ के लिए चारु शासन व्यवस्था समेत वे प्रजा में "धर्म" का भी प्रचार करने की युक्ति विचारने लगे, प्रथमतः इस सुपथ का आलोक तृतीय शिलालेख में दीख पड़ता है। सम्राट् कहते हैं, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है कि अभिषिक्त होने के १२वें वर्ष मैंने इस प्रकार

आज्ञा दी कि मेरे विजित राज्य में युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक प्रति ५वें वर्ष, जिस प्रकार और शासन सम्बन्धी कार्य के लिए दौरा करते हैं, उसी तरह बारी-बारी से धर्म-प्रचार के लिए भी दौरा किया करें।" किन्तु इसके अनन्तर, सम्राट् ने "धर्म" की अभिवृद्धि तथा प्रचार के लिए एक नवीन प्रकार के अधिकारी ही नियत कर दिये; सातवाँ स्तंभ-लेख कहता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि विगत काल में राजाओं की यह इच्छा थी कि किस प्रकार धर्म की प्रजा में उन्नति हो। किन्तु लोग धर्म के अनुरूप न बढ़ सके। इस पर............मुझे यह विचार आया......कैसे लोगों को धर्म पर आचरण कराया जा सकता है?............किस तरह धर्म के अनुरूप मैं उन्हें (लोगों अथवा प्रजा को) बना सकता हूँ।... इसलिए मैंने विविध धर्मानुशासन प्रेषित किये हैं।.........मेरे पुरुष......धर्म का उपदेश कर प्रचार करेंगे। रज्जुकों को भी जो सैकड़ों हज़ारों प्राणियों के लिये नियत हैं, मैंने आज्ञा दी है कि धर्मयुक्त लोगों को इस प्रकार (धर्म के प्रति) उत्साहित करो। देवताओं का प्रिय कहता है कि यह ज्ञात करके (धर्म-प्रचार के हेतु), मैंने धर्म-स्तंभ स्थापित किये, महामात्रों (धर्म-महामात्रों) की नियुक्ति की, तथा धर्म-लिपियाँ लिखवाईं।" अतः इस वृत्त से सर्वथा स्पष्ट है कि धर्म-प्रचार के हेतु ही प्रथमतः सम्राट् अशोक ने धर्म-महामात्रों को नियत किया था। पाँचवें शिलालेख में सम्राट् स्वयं धर्म-महामात्रों का वर्णन देते हुए उनके कार्य्यों का उल्लेख करते हैं। पाँचवाँ शिलालेख कहता है, "विगत काल में धर्म-महामात्र न नियत किये जाते थे (अथवा धर्म-महामात्र न थे) किन्तु अभिषिक्त होने के १३वें वर्ष मैंने धर्म-महामात्रों को नियत किया। वे सब सम्प्रदायों (धम्मों) में धर्म की स्थापना और उन्नति के लिये नियत हैं। वे धर्म-महामात्र लोगों के सुख और भलाई के लिये नियत हैं। वे यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिकों, पैठानिकों तथा पश्चिमी सीमाप्रान्त या अपरन्ता के लोगों

के लिये नियत हैं। वे भट, दास, वेतनभोगी नौकरों, ब्राह्मण, साधु, गृहस्थों, असहायों और जीर्ण बुड्ढों की भलाई और सुख के लिये नियत हैं। तथा धर्मानुगामिन् लोगों की रक्षा के लिये नियत हैं। वे बन्धन (कैद करने) प्राणदण्ड देने, बाधाओं से रक्षा करने, स्वतंत्र करने (मुक्त करने) के लिये, जिसके बहुत से बाल-बच्चे हों, जो विपत्तियों से ग्रसित हो या बुड्ढा हो उनके हित के लिए नियत हैं। ये धर्म-महामात्र यहाँ तथा बाह्य दूरस्थ नगरों में मेरे तथा भाइयों और बहिनों के अंत:पुर और मेरे अन्य सम्बन्धियों के यहाँ सर्वत्र नियत हैं। जो मेरे विजित प्रदेश में धर्म के कार्य में लगे हैं, (धर्म युक्तेसु) जो धर्मरत हैं, जो धर्म के अभिलाषी हैं; या धर्म में अधिष्ठित हैं, या दान के कर्म में रत हैं, (उन सबके हित) धर्म-महामात्र नियत हैं।" सम्राट् के इस अनुशासन से स्पष्ट है कि धर्म-महामात्र उन्होंने ही प्रथम नियत किये थे तथा उनके कार्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत था एवं उनके अधिकार उपशासक तथा सम्राट् के अधिकारों के बराबर थे, उन्हें प्रत्येक मनुष्य, राजकीय परिवार, तथा प्रत्येक सम्प्रदाय की देखभाल और धर्म-हित की उचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। साथ ही सातवें स्तंभ-लेख से विदित होता है कि उन्हें संघ का कार्य भी करना पड़ता था तथा इन धर्म-महामात्रों को, ब्राह्मण, आजिविक, निरग्रंन्थ और गृहस्थों की भी देखभाल करनी होती थी। विदित होता है कि दूसरे शिलालेख में दिये गये समाज हित कार्य के संपादन का भार भी इन्हीं महामात्रों पर था। समासतः ये धर्म-प्रचार के लिये नियत किये गये थे, वे शासन की क्रूरता तथा अन्याय एवं अत्याचारों की शान्ति के लिये नियत थे, उन्हें सम्राट् और राजकीय परिवार के दान-कर्म आदि की व्यवस्था करनी पड़ती थी (सातवाँ स्तम्भ-लेख), तथा वे सर्व मनुष्यों एवं संप्रदायों के हित के लिये नियत थे।

अतः स्पष्ट है कि प्रजा का धर्म-युक्त एवं एकमात्र धर्म से पालन करना सम्राट् अशोक राजा का मुख्य कर्त्तव्य मानते थे। कह

सकते हैं कि सम्राट् का युग सत्ययुग था जब कि "धर्मेणैव प्रजाः सर्वा-रक्षन्ति परस्परम्" (महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व १४, ५६)। धर्म से ही परस्पर प्रजा की रक्षा की जाती थी।

स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र---हुल्स (Hultzsch) इन महामात्रों को गणिक-अध्यक्ष-महामात्र कहता है, अर्थात् वे महामात्र जो राज-कर्मचारियों के ऊपर अध्यक्ष नियत थे, किन्तु हुल्स के इस मत का समर्थन करने में हम असमर्थ हैं। हमें पाँचवें शिलालेख से सुप्रकाशित है कि राजकीय हरम अथवा अवरोध के हित धर्ममहामात्र पहले से ही नियत थे। इन धर्ममहामात्रों को सम्राट् के निज अवरोध एवं भाइयों और बहिनों के अवरोध तथा अन्य सम्बन्धियों के अवरोध में धर्म-कार्य करना होता था। (देखिए—पाँचवाँ शिलालेख तथा सातवाँ स्तंभ-लेख)। यह भी साथ ही स्मरण रखना चाहिये कि धर्म-महामात्रों की योजना अभी-अभी स्वयं सम्राट् ने ही की थी, अतः हरम में अथवा स्त्रियों में धर्म का कार्य सम्पादन करने वालों तथा अन्य सम्प्रदायों, मनुष्यों आदि में धर्म-कार्य करने वाले महामात्रों को पहले एक ही नाम से संबोधित किया गया, किन्तु १२वें शिलालेख में आकर सम्राट् का धर्म-महामात्र का भाव परिपक्व हुआ, और उन्होंने हरम में कार्य करने वाले एवं हरम के अर्थ नियत किये जाने वाले महामात्रों का स्त्रीध्यक्ष-महामात्र नाम रख कर, उन्हें धर्म-महामात्रों से भिन्न कर दिया। साथ ही इस नाम से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि हरम के समेत सम्राट् प्रजा की समस्त स्त्रियों एवं संघ में रहने वाली भिक्षुणियों में भी धर्म-प्रचार तथा धर्म-कार्य के लिये अलग से महा-मात्र नियत करने का विचार कर रहे थे, अतः इसी विचार को कार्य रूप में परिणित कर उन्होंने स्त्रियों के धर्म-कार्य के हित धर्म-महामात्रों का एक अलग विभाग स्थापित किया, जिसका अध्यक्ष स्त्रीध्यक्ष-महा-मात्र कहलाने लगा।

वचभूमिका या व्रजभूमिका (शाहबाजगढ़ी, "व्रचम"--मानसेरा)—

प्रथम विद्वानों ने "व्रच" को वर्च पढ़कर उसका अर्थ "मल" करके यह निष्कर्ष निकाला कि सम्राट् "शौचागार" में भी प्रजा के आवेदन सुना करते थे, (अशोक की धर्म-लिपियाँ, काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा) किन्तु यह धारणा पीछे हास्यजनक प्रतीत हुई। वस्तुतः व्रज का अर्थ चरागाह है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी व्रज शब्द आया है। अर्थशास्त्र के अनुसार व्रज का अर्थ "गाय, भैंस, बकरी, भेड़, घोड़े, ऊँट आदि के झुण्ड अथवा पशुशाला से है (कौटिल्य अर्थशास्त्र पृष्ठ ६०), और भूमिक यहाँ पर "पद" का निर्देशक है, अतः विदित होता है कि व्रज-भूमिक राजकीय चरागाह और पशुओं के अध्यक्ष थे। अनुमानतः पाँचवें शिलालेख में वर्णित गोष्ठ—(जहाँ जाकर के कभी-कभी सम्राट् अपने अवकाश का समय व्यतीत किया करते थे)—ही राजकीय पशुशाला थे।[1] कुछ विद्वानों की धारणा है कि व्रजभूमिक, व्रजभूमि अर्थात्—मथुरा और वृन्दावन के निवासी थे। तथा सम्राट् ने इनको तीर्थयात्रा और धर्म-प्रचार के हेतु नियत किया था, साथ ही व्रजभूमिक को पशुओं और वनिक-पथ की भी देख-रेख करना था। व्रजभूमिक को पशुओं की देख-रेख अथवा देखभाल करनी पड़ती थी, इसमें तो कतिपय संदेह नहीं है। शिलालेखों के अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि सम्राट् का रक्षण तथा पालन कार्य मनुष्यों तक ही सीमित न था, वे तो सर्वप्राणियों का—चाहे मनुष्य चाहे पशु—मंगल चाहते थे और यही अशोक ने किया भी (देखिए—द्वितीय शिलालेख, ६वाँ शिलालेख, सातवाँ स्तंभ-लेख, दूसरा स्तंभलेख)। अतः सरलता के साथ अनुमान किया जा सकता है कि जिस प्रकार धर्म-महामात्र रज्जुक प्रभृत धर्मचारी मनुष्यों के रक्षण-कार्य तथा सुख की व्यवस्था करने के हेतु नियत किये गये थे, उसी प्रकार व्रजभूमिक को भी पशुओं के रक्षण तथा सुख-विधान करने का कार्य सौंपा गया था। इससे स्पष्ट है कि व्रजभूमिक, धर्म-महामात्र और

[1] श्री भण्डारकर, अशोक, पृष्ठ ६२।

स्त्रीध्यक्षमहामात्र के अनुरूप ही धर्म के हित पशुओं के अध्यक्ष नियत किये गये थे। १२वें शिलालेख में सम्राट् ने उनके नियत किये जाने का कारण धर्म की सारवृद्धि दिया है। सम्राट् के धर्म का अध्ययन करने से विदित हो जायगा कि सम्राट् का धर्म प्रच्छन्न था, वह सांप्रदायिक नियमों से बद्ध न था, अपितु सब धर्मों का सार ही उनका परम धर्म था एवं उनके धर्म का प्रमुख सिद्धांत—सर्वलोक हित तथा अक्षतिं सर्वभूतानां—था। अतः यदि हम यह अनुमान करें कि व्रजभूमिक धर्म-महामात्रों आदि की भाँति पशुओं के हित तथा कल्याण के लिये नियत किये गये थे तो अप्रासंगिक न होगा। इससे सर्वथा स्पष्ट है कि पशुओं के हित का कार्य, जैसे चिकित्सालय खोलना, औषधि का यथोचित प्रबंध करना (२ शिलालेख) पेड़ तथा कुञ्ज लगवाना, पानी पीने के स्थान बनवाना आदि (सातवाँ स्तभं-लेख)—इन्हीं व्रजभूमिक को करना पड़ता था, और ये ही लोग इस कार्य के अध्यक्ष अथवा पशुओं के अध्यक्ष नियत किये गये थे।

महामात्र—सेनार्ट का कहना है कि उच्च पदाधिकारियों के लिये ही "महामात्र" का प्रयोग किया जाता था। महामात्र की सेनार्ट ने व्याख्या की है—"महति मात्रा यस्य" जिसका स्थान ऊँचा हो, वह = महामात्र (J.R.A.S. pp. 386, 1914)। ये महामात्र जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट हो चुका है—धर्म-प्रचार के लिये थे। इन महामात्रों में धर्म-महामात्र तथा स्त्रीध्यक्ष-महामात्र का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। इनके अतिरिक्त अंता अथवा सीमांत प्रदेशों में धर्म-कार्य करने के लिये एक और प्रकार के महामात्र नियत किये गये थे—इनका नाम अंत-महामात्र है। अन्ता का अर्थ अंत (boarder) अथवा सीमांत प्रदेशों से है। अतः अंत-महामात्र वे धर्म-प्रचारक महामात्र थे जो अंता अर्थात् सीमांत प्रदेशों में धर्म-कार्य किया करते थे। किन्तु बुलेर की सम्मति में अंत-महामात्र सीमांत-रक्षक (Wardens of the Marches) है। बहुत से विद्वान् अन्त-महामात्र को

कौटिल्य के अन्त-पाल से मिलाते हैं जिसका अर्थ भी—(अंत = सीमा, पाल = रक्षा अर्थात्) सीमा के रक्षकों से लिया जाता है। कौटिल्य के ये अंत-पाल (boundary-guards) साम्राज्य के द्वार की रक्षा करने के लिये नियत किये जाते थे। इन लोगों के पास गढ़ अथवा क़िले भी हुआ करते थे (देखिए—कौटिल्य अर्थशास्त्र, २-४६)। किन्तु अशोक के शिलालेखों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अन्त-महामात्र, "सीमांत-रक्षक" न थे और उन्हें कौटिल्य के अंत-पाल से मिलाना भूल करना है।

अन्त-महामात्रों के स्थान अथवा कार्य का निरूपण करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि सम्राट् की सीमांत-प्रदेशों के प्रति क्या नीति थी। पृथक कलिङ्ग शिलालेख द्वितीय—जौगुडा लिखता है—

"अविजित अन्ता (सीमांत निवासी) प्रश्न कर सकते हैं कि राजा (अथवा सम्राट् अशोक) का हमारे प्रति क्या इच्छा (अथवा भाव) है? अंतों (सीमांत लोगों या प्रदेशों) के प्रति मेरी केवल यह इच्छा है कि वे मुझ से भय न खायँ, किन्तु मुझमें विश्वास रखें कि वे मेरे द्वारा दुःख के अलावा सुख ही पायेंगे। वे यह भी समझ रखें कि राजा (अथवा अशोक) जो कुछ क्षमा किया जा सकता है—वह क्षमा करेगा। मैं अपने धर्म-नियमों से उन्हें धर्म सिखलाऊँगा (अथवा धर्म-पथ पर आचरण कराने का उद्योग करूँगा) जिससे वे इहलोक और परलोक दोनों को प्राप्त हो सकें।"

इस वृत्त से स्पष्टत: प्रकाशित होता है कि सम्राट् की सीमान्त प्रदेशों के प्रति क्या नीति थी। सम्राट् अशोक निःसन्देह सीमान्त-वासियों के धर्मोत्कर्ष के अतिशय अभिलाषी थे। सम्राट् सीमान्त-वासियों को आश्वासन देते हैं कि उनकी नीति अतिक्रम (aggression) की नहीं है किंतु स्नेह की है। अतः इस स्नेह के वश में होकर सम्राट् चाहते हैं कि वे सीमान्त-वासी दोनों लोकों (अर्थात् इहलोक और परलोक) में सुख का उपभोग करें। परन्तु यह कैसे हो सकता है—

केवल इच्छा भर होने से कोई कार्य संसार में नहीं हो सकता, अतः उसके लिये व्यवस्था तथा परिश्रम दोनों की बड़ी आवश्यकता है। अब यह सवाल रह जाता है कि अशोक ने इस हेतु क्या व्यवस्था की? इसका उत्तर सम्राट् के ही शब्दों में "धर्म" पर आचरण करने दिया जा सकता है। सम्राट् ने स्वयं कहा है, "मैं अपने धर्म-नियमों से उन्हें धर्म-पथ पर आचरण कराने का उद्योग करूँगा।"

अतः अब हमें यह मालूम (विदित) करना है कि सम्राट् ने किस प्रकार उन्हें धर्माचरण करना सिखलाया। प्रथम स्तंभ-लेख लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष, मैंने यह धर्मलिपि लिखाई। बिना धर्म-कामता, परीक्षा, अनुज्ञा, भय, और बिना उत्साह के इहलोक और परलोक (स्वर्गलोक) को पाना कठिन है। किन्तु निःसंदेह मेरे धर्मानुशासन के कारण, धर्माचरण तथा धर्मानुष्ठि में दिन-दिन बढ़ती हुई है, और होगी। तथा छोटे बड़े और मध्यम पद वाले मेरे पुरुष भी धर्मानुशासन पर आचरण करेंगे, और लोगों (अर्थात अपनी प्रजा) से भी उन पर आचरण करवायेंगे। इसी प्रकार मेरे अन्त-महामात्र भी कार्य कर रहे हैं।" इस वृत्त में अन्त-महामात्रों का उल्लेख आया है, जिससे मालूम होता है कि अन्त-महामात्र, धर्म-कामता तथा धर्म पर आचरण कराने धर्मानुष्ठि तथा धर्म-प्रचार करने का कार्य कर रहे थे। इस स्तंभ-लेख से वस्तुतः बिलकुल भी संदेह नहीं रह पाता कि अन्त-महामात्र, पुरुषों तथा धर्म-महामात्रों के सदृश धर्म के लिये नहीं नियुक्त थे। इस स्तंभ-लेख में पुरुषों और अन्त-महामात्र दोनों का साथ उल्लेख हुआ है—जब कि कार्य रूप में दोनों के कार्य की समानता अथवा सदृशता भी भली प्रकार प्रकाशित की गई है। अतः सरलता के साथ कहा जा सकता है कि द्वितीय शिलालेख में उल्लेखित नीति के अनुसार अन्त-महामात्र विजित राज्य से बाहर अर्थात् सीमांत प्रदेशों में धर्म-प्रचार कार्य आदि के लिये नियत किये गये थे,

क्योंकि विजित राज्य में अथवा अशोक के निज साम्राज्य के अन्तर्गत धर्म-प्रचार का कार्य "पुरुष" कर ही रहे थे।

अतः हमारी सम्मति में अन्त-पाल और अन्त-महामात्र को अलग अलग लेना चाहिये। वस्तुतः कह सकते हैं कि अन्त-महामात्र केवल सीमांत प्रदेशों में धर्म-प्रचारक महामात्र थे—जैसा कि प्रथम स्तंभ-लेख से सर्वशः प्रकाशित होता है।

पुरुष—जैसा कि ऊपर कह चुके हैं "पुरुष" का कार्य विजित राज्य अथवा साम्राज्य के अन्तर्भूत धर्म-प्रचार करना था। ये पुरुष तीन श्रेणियों में विभाजित थे—छोटे, बड़े और मध्यम अथवा (१) उत्तम श्रेणीवाले, (२) मध्यम श्रेणीवाले और (३) निचली श्रेणीवाले।

"पुरुष" के प्रति चतुर्थ स्तम्भ लेख में भी उल्लेख आया है। इस चतुर्थ स्तम्भ-लेख में सम्राट् कहते हैं—"रज्जुकों को मैंने सैकड़ों, हज़ारों प्राणियों के ऊपर शासन के लिये नियत किया है। क्यों? इसीलिये कि रज्जुक सुनिश्चित और विश्वस्त होकर अपने कार्य में प्रवृत्त हों।............रज्जुक मेरी आज्ञा में तत्पर हैं। जो लोग सम्राट् की इच्छा और अनुशासन को जानते हैं, वे पुरुषों की आज्ञा का पालन करेंगे। वे अर्थात् पुरुष जनपद के लोगों को उत्साह देकर रज्जुकों को धर्म और राजा के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठ होने में उत्साहित करेंगे।" चतुर्थ स्तम्भलेख के कथन से स्पष्टतया विदित होता है कि "पुरुष", रज्जुकों के कार्य का निःसंदेह निरीक्षण किया करता था तथा उनके कार्य में शिथिलता पाने पर उन्हें कार्य करने के लिये निर्देश भी करता था। अतः कहा जा सकता है कि पुरुषों का स्थान रज्जुकों से ऊपर था। किन्तु निःसंदेह रज्जुकों से उच्च स्थान रखनेवाले पुरुष उत्तम श्रेणी के होंगे।

परिषद्—तीसरे शिलालेख में "परिषद" का प्रयोग किया गया है। तीसरा शिलालेख कहता है, "माता-पिता की सेवा करना स्तुत्य है, मित्रों के प्रति उदारहस्त होना श्लाघनीय है, परिचित लोगों, संबंधियों,

ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति दानशील होना प्रशंसित है। जीवों की हिंसा न करना प्रशंसनीय है, बहुत व्यय न करना और बहुत संचय न करना अच्छा है। परिषद् भी युक्त को मेरे धर्मानुशासन के अर्थ और अभिप्राय के अनुसार जाँच करने की आज्ञा देगी!" इस शिलालेख में सम्राट् परिषद् को आदेश देते हैं कि वह युक्त आदि धर्म तथा शासन के कर्मचारियों को प्रजा में अहिंसा, सेवा-दान तथा अल्प व्यय और अल्प सञ्चय आदि गुणों का प्रचार करने के हित सहायता दे तथा उनको इस धर्मानुशासन का प्रजा में प्रचार करने के लिये आदेश किया करे। अतः प्रकाशित है कि इस परिषद् का कार्य राज-कर्मचारियों के कार्य की देखभाल करना था तथा साथ ही राज्य के कर्मचारियों से सम्राट् द्वारा प्रेषित हुई आज्ञाओं का पालन भी करना था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी परिषद् का वर्णन किया गया है। इस परिषद् का आशय मंत्री-परिषद् से है। इस परिषद् का कार्य था कि जो काम आरंभ न हुआ हो उसे आरंभ करे, जो कार्य आरंभ हो चुका हो उसे पूरा करे, और जो पूरा किया जा चुका हो उसमें सुधार कार्य करे तथा अनुशासनों का (अन्य राज्य के कर्मचारियों से) पूर्णता से पालन करावे, (ग्रंथ-भाग प्रथम, प्रकरण १५)।

इस विवरण से प्रकाशित है कि कौटिल्य की मंत्री-परिषद् की भाँति ही अशोक की परिषद् को कार्य करना पड़ता था, अतः कह सकते हैं कि अशोक का परिषद् से तात्पर्य मन्त्री-परिषद् है। ६वें शिलालेख में भी परिषद का उल्लेख आया है, इस लेख में सम्राट् कहते हैं, "यदि कभी संयोगवश दान देने वाले या विज्ञप्ति सुनाने वाले अधिकारियों को जो कोई आज्ञा मैं मौखिक दूँ तथा अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर जो अधिकार दिया जाय (मुझसे) यदि उस पर संदेह, तर्क-वितर्क, विमर्श (मतभेद या समीक्षा) हो तो परिषद् बिना देर किये, कहीं भी सर्वत्र सब समय पर मुझे सूचित करे (इस विषय की सूचना देवे)।

इस वृत्त से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट् जो मौखिक आज्ञायें तथा अधिकार दान, कर्मचारियों अथवा महामात्रों को देते थे उनको प्रथम परिषद् में विचारने के लिये रखा जाता था। यदि परिषद इन मौखिक आज्ञाओं को सम्राट् द्वारा प्रेषित हुई समझती तो उन आज्ञाओं का पालन हो सकता था अन्यथा नहीं—अर्थात् परिषद् का महामात्रों पर किसी प्रकार का संदेह अथवा मत-भेद होने पर, आज्ञायें सम्राट् द्वारा निर्णय होने के उपरान्त ही कार्य में परिणत की जाती थीं। अतः सर्वथा स्पष्ट है कि परिषद् महामात्र और सम्राट् के मध्य संयोजक का कार्य करती थी। तथा परिषद को अधिकार था कि संदेह होने पर सम्राट् की मौखिक आज्ञाओं को रोक कर, कार्य रूप में परिणित होने से पहले सम्राट् द्वारा निर्धारित करा लेवे। यह परिषद् कार्य-निर्वाहक सभा (Executive body) थी।

श्री सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं कि परिषद् अथवा मंत्री-परिषद्, सम्राट् पर नियन्त्रण करती थी। इसके प्रमाण-स्वरूप अशोकावदान से वे एक कहानी को उद्धृत करते हैं। संक्षेपतः कहानी का आशय है कि सम्राट् अशोक एक समय कुर्कुटाराम विहार को धन-दान करना चाहते थे। पर वे दान न दे सके, "क्योंकि उस समय कुनाल का पुत्र अर्थात् अशोक का पौत्र सम्प्रति युवराज था। उससे आमात्यों ने कहा, "कुमार! राजा अशोक को सदा थोड़े ही रहना है। उनका थोड़ा ही समय बाकी है। यह द्रव्य कुर्कुटाराम विहार को भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही आश्रित है। इसलिये मना कर दो।" कुमार ने भाण्डागारिक को राजकोष से दान देने के लिये मना कर दिया। अतः सम्राट् को इच्छानुसार धन दान करने के लिए न मिल सका।" क्या इस कहानी से सम्राट् के ऊपर मन्त्री-परिषद् का नियंत्रण होना साबित होता है? कहानी से स्पष्ट है कि मन्त्रियों ने अशोक के नाती को बहका कर, तथा समझा कर उसी के द्वारा राजकोष से सम्राट् अशोक को दान के अर्थ

धन लेने से रोका। अतः प्रकाशित है कि सम्राट् के दान-कार्य पर परिषद् का कोई नियंत्रण न था और यदि परिषद् को सम्राट् पर नियंत्रण करने की शक्ति होती तो उसे युवराज सम्प्रति को बहकाने अथवा सम्मति देने की क्या आवश्यकता थी? क्यों न मन्त्री-परिषद् सम्राट् के इस "दान" को व्यर्थ समझ कर स्वयं उसका विरोध करती? यदि परिषद् में समाट् के समक्ष सीधे कोई विरोध उपस्थित करने की शक्ति न थी, तो यह कहना बिलकुल निरर्थक है कि परिषद् अथवा मन्त्री-परिषद् सम्राट् पर नियन्त्रण करती रही होगी। वस्तुतः परिषद् पर समाट् का नियंत्रण था और यदि ६वें शिलालेख के अनुसार परिषद् सम्राट् की मौखिक आज्ञाओं पर हस्तक्षेप कर सकती थी, तो वह किसके अधिकार से? यह अधिकार स्वयं सम्राट् का परिषद् को दिया हुआ था, तथा इस अधिकार का यह भी तात्पर्य न था कि परिषद् सम्राट् की आज्ञाओं पर हस्तक्षेप करे, किन्तु आज्ञाओं के बिना हस्ताक्षर अथवा मौखिक होने के कारण यदि परिषद् को यह सन्देह हो कि महामात्रों को दी हुई ये आज्ञायें सम्राट् की ही प्रेषित की हैं अथवा नहीं, तो जाकर सम्राट् से ही उनकी सत्यता का निर्णय करा ले। बस इतना ही परिषद् को अधिकार था। किन्तु यदि विद्यालंकार जी की उद्धृत कथा कुछ समय के लिये सत्य मानी जाय तो उससे केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अन्तिम वृद्धावस्था के समय, सम्राट् (अशोक) पदच्युत कर दिये गये थे तथा उनके अधिकार सम्राट् के अपने ही पौत्र सम्प्रति द्वारा अपहरण कर लिये गये थे। इसी कारण सम्राट् ने निराशा और घृणापूर्ण शब्दों में कहा था—"ऐश्वर्य धिगनार्य"—ऐश्वर्य के लिए धिक्कार। इसके अतिरिक्त अशोकावदान यह भी लिखता है कि सम्राट् ने जब आमात्यों और पौत्र को बुलाकर पूछा कि "इस समय राज्य का कौन स्वामी है?" तो मन्त्रियों ने कहा, "आप ही स्वामी हैं" इस पर कथा लिखती है कि अशोक ने आँसू बहाते हुए कहा

कि—"मुझसे तो राज्य छीन गया है।" मालूम होता है अशोकावदान की कथा को प्रमाण रूप में देते हुए भी विद्यालंकार जी कथा के आशय की अवहेला कर गये, अन्यथा अशोक के कथन को उन्हें अधिक प्रमाणित लेना चाहिये था। निःसंदेह पिता आदि से राज्य का अपहरण किया जाना अशोक के समय कोई नई बात न थी। सम्प्रति से पहले अजातशत्रु ने भी अपने पिता को पदच्युत किया था तथा इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण इतिहास में प्रबलता के साथ पाये जाते हैं। कारागार में हाँफते हुए शाहजहाँ की पुकार—"या अल्लाह तेरी रजा।" आज भी ताजमहल की शुष्क निश्वास में प्रतिध्वनित हो रही है।

दौरा या निरीक्षण-कार्य—सम्राट् अशोक का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था, और इस विस्तृत साम्राज्य की अशोक नित्य देख-रेख करना चाहते थे। इस देख-रेख अथवा निरीक्षण करने के दो आशय थे—प्रथम यह कि प्रजा को सब जगह सुशासन मिल रहा है या नहीं, क्योंकि अशोक एक उत्तरदायी सम्राट् थे, वे अपनी प्रजा को बच्चों के समान प्यार करते थे, और अपने को प्रजा का ऋणी समझते थे, अतः सुन्दर, न्याययुक्त शासन-व्यवस्था का सम्पादन कर वे अपने को उऋण करना चाहते थे। अतः शासन का निरीक्षण करने के लिए सम्राट् ने महामात्रों को नियत किया, पृथक कलिङ्ग शिलालेख प्रथम में अशोक कहता है "नगर-व्यवहारिक तथा महामात्र नित्य इस कार्य का उपक्रम करते रहें कि बिना किसी कारण के मनुष्यों को बन्धन में न रखा जाय, न उन्हें कष्ट दिया जाय और प्रत्येक पाँचवें वर्ष (मैं) एक महामात्र को नियत करूँगा, जो कार्य करने में न तो कठोर होगा और न क्रूर होगा, किन्तु जो धीरता से कार्य करेगा, क्यों? इसलिये कि शासन-कर्त्तागण इस बात का विचार रख मेरी आज्ञा अथवा अनुष्ठि के अनुसार कार्य कर रहे हैं, या नहीं। उज्जैन से भी ये कुमार-शासक

इसी अर्थ के लिये ऐसे ही अधिकारियों के एक वर्ग को नियत करे और तीन साल से अधिक न व्यतीत होने दे। ऐसा ही तक्षशिला में किया जाय।

जब ये महामात्र दौरे पर जायँ, तब वे अपने कर्त्तव्य को निभाते हुए, इस बात का भी निश्चय करें या देखभाल रखें कि शासकवर्ग सम्राट के अनुशासन का पालन कर रहे हैं।"

इस शिलालेख से स्पष्टः प्रकाशित है कि प्रत्येक पाँचवें वर्ष महामात्र सम्राट द्वारा दौरे पर इसीलिये भेजे जाते थे कि वे शासकवर्ग के शासन का निरीक्षण किया करें और देखें कि ये शासकगण ठीक तरह से सम्राट् के आज्ञानुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। अतः प्रकाशित है कि शासकवर्ग अथवा राजकर्मचारियों के शासन-कार्य का निरीक्षण करने के लिये ही सम्राट ने "दौरे" की प्रथा प्रचलित की। सम्राट् शासनकर्त्ताओं के निजी अत्याचारों से भली प्रकार परिचित थे, इसलिये उन्हें नित्य शासकों पर संदेह बना रहता था। सम्राट् का सुशासन के प्रति इतना अधिक विचार था क्योंकि सम्राट् स्वयं कहते हैं कि—"इस कर्त्तव्य (अर्थात् सुशासन) के संपादन से दो लाभ हैं, अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति और राज-कर्त्तव्य से उऋणता पा जाना।"

इसी तरह शासन का निरीक्षण करने के लिये उज्जैन, तक्षशिला आदि के कुमार-शासकों को भी प्रति तीसरे वर्ष महामात्रों को "दौरे" पर भेजना पड़ता था।

सारनाथ स्तंभ-लेख में भी सम्राट् ने स्थानिक महामात्रों को अपने प्रान्त के अंतर्गत "दौरा" करने का अनुशासन दिया है।

शासन का निरीक्षण करने के अलावा धर्म-प्रचार के हेतु भी "दौरा" हुआ करता था। क्योंकि सम्राट् प्रजा को ऐहिक सुख के साथ स्वर्गिक सुख का भी उपभोग करवाना चाहते थे।

पृथक—कलिंग शिलालेख द्वितीय (जौगुडा) में सम्राट् कहते हैं, "जिस प्रकार मेरी अभिलाषा है कि मेरे पुत्र इहलोक और परलोक दोनों

में सुखी हों, ऐसे ही मैं सर्व-मनुष्यों के प्रति अभिलाषा करता हूँ।" अतः सुशासन द्वारा ऐहिक सुख का प्रबन्ध कर, अब सम्राट् को प्रजा के स्वर्गीय सुख की चिन्ता हो आई, अतः इसी स्वर्गीय सुख का विधान करने के हेतु सम्राट् ने धर्म-प्रचार के लिये "दौरा" प्रथा क़ायम की।

तीसरा शिलालेख कहता है, "मेरे विजित राज्य में युक्त, रज्जुक और प्रादेसिक प्रति पाँचवें वर्ष जिस प्रकार और शासन संबंधी कार्य के लिये दौरा करते हैं उसी तरह बारी-बारी से धर्म-प्रचार के लिये भी दौरा किया करें।" अतः स्पष्ट है कि युक्त, रज्जुक तथा प्रादेसिक आदि को शासन का निरीक्षण करने के सहित धर्म-प्रचार के हेतु भी "दौरे" पर जाना पड़ता था। संक्षेपतः सुशासन तथा धर्म के संस्थापन के हेतु ही दौरा-प्रथा प्रचलित की गई थी।

पैतृकीय शासन---महाभारत (शान्ति पर्व राजधर्म प्रकरण ५६) कहता है, "राजा का प्रजा से वही सम्बन्ध है जैसा माँ का अपने बच्चों से, अतः माँ की तरह राजा को प्रजा के हित व्यक्तिगत स्वार्थ का बलिदान करना चाहिये।" राजा के पैतृक-गुणों का महाभारत, कौटिल्य, मनु आदि ने स्वच्छंदता-पूर्वक अभिनन्दन किया है। सम्राट् अशोक का चरित्र भी इन्हीं पैतृक-गुणों से भरा हुआ था। सम्राट् अशोक भी सारी प्रजा को अपने बच्चों के समान प्यार किया करते थे तथा नित्य अपनी प्रजा के ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिये पराक्रम में लगे रहते थे, (देखिए पृथक कलिंग शिलालेख, प्रथम-द्वितीय---सव मुनीषि मि प्रजा")। सम्राट् का प्रजा के प्रति यह स्नेह प्रशंसनीय है, उनके शब्द हैं---"कटवय मते हि में सर्वलोक हिते" (मानसेरा) अर्थात् "सर्व लोक का कल्याण मेरा कर्त्तव्य है। प्रजा के प्रति उनकी निरंतर दो भावनाएँ रही हैं---"हिद च कानि सुखामीय पलत च स्वगं आलधयितु" अर्थात् प्रजा को इस लोक में शासन द्वारा सुख पहुँचाऊँ, जिससे वे परलोक में भी स्वर्ग प्राप्त कर सकें---(कालसी ६वाँ शिलालेख)। अतः सर्वथा प्रकाशित है कि इन्हीं पैतृक भावनों से परिपूर्ण सम्राट

का शासन था। इस पैतृक-शासन का विधान करने के लिये सम्राट उपशासकों को भी आदेश किया करते थे।

सम्राट् प्रजा तथा सर्वलोक का कल्याण करने के लिये निरंतर इसी पैतृक भावना से प्रेरित होकर पराक्रम किया करते थे—यद्यपि उन्हें यह भली भाँति मालूम था कि "कल्याणं द्रकुले" अर्थात् कल्याण करना कठिन है। यही कारण है कि सम्राट् निरंतर राजकर्मचारियों को इसके लिये उत्साहित किया करते थे। इस कल्याण के हेतु सम्राट् अपक्षपात तथा न्याय-समता को अत्यन्त आवश्यक समझते थे। एक समय सम्राट् को जब यह मालूम हुआ कि तोषाली के व्यवहारिकों ने निरपराध प्रजा को अन्याय से पीड़ित किया है तो सम्राट् ने उन्हें अच्छी तरह दंड देकर रोष भरे शब्दों में झिड़कते हुए कहा—"तुमने मेरे शब्दों का तात्पर्य नहीं समझ पाया, सारी प्रजा मेरे निज बालक हैं और उनके कल्याण की शुभेच्छा ही मेरी एक अभिलाषा है। तुम अपने को ईर्ष्या द्वेष, आलस्य और असहिष्णुता से बचाओ तथा प्रसक्ति, प्रशांति क्षमा-शीलता आदि गुण ग्रहण करो!" क्योंकि सम्राट् कहते हैं—"गुरुमतं वो देवनं प्रियस यो पि च अपकरेयति छमितिवियमते।" देवताओं के प्रिय का गुरुमत है कि जो अपकार भी करे उसे क्षमा कर दिया जाय। अतः सम्राट् ने नगर-व्यवहारिकों को आदेश देते हुए कहा कि अपने शासन का कर्त्तव्य "पालन न करने से महत् अपयश होता है।...... इसको न स्वर्ग सिद्धि होती है और न राजकीय कृपा मिलती है।" और पालन करने से "स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा राज कर्त्तव्य से उऋणता मिलती है।" निःसन्देह अशोक का राज्य ऐतिहासिक रामराज्य था। तथा पूर्व-निर्दिष्ट (धर्म) महामात्रों की प्रथम नियुक्ति ही सम्राट् का प्रथम सुधार कार्य था।

द्वितीय सुधारणा सम्राट् के अपने ही शब्दों में देखिये—"बहुत काल व्यतीत हुआ कि प्रत्येक समय राज-कार्य और राजा से प्रजा की विज्ञप्ति नहीं होती थी। इसलिये मैंने ऐसा प्रबन्ध किया जिससे प्रत्येक

समय, चाहे मैं खाता हूँ, चाहे अंतःपुर में होऊँ, चाहे महल में होऊँ, चाहे यात्रा में रहूँ, चाहे वाटिका में भ्रमण करता होऊँ, सर्वत्र कहीं भी प्रतिवेदक मुझे प्रजा के कार्य की सूचना देवें, आवेदन करें।" फलतः प्रतिवेदक का नियत किया जाना तथा प्रत्येक समय प्रजा के कार्य के लिये सम्राट् (अशोक) का उद्यत रहना ही सम्राट् का दूसरा सुधार कर्म था। यदि संसार के राजाओं की एक सूची (List) तैयार की जावे तो विदित हो जायेगा कि किस प्रकार न्याय (Law) राजा की दाढ़ी की सघनता में लेटा फुत्कारें भरता था या कभी वक्ष पर रेंगता फिरता था, और प्रजा उस भयङ्कर न्याय की उष्ण फुत्कारों से भयार्त्त हो दूर भाग उठती थी। किन्तु अशोक की महानता इसी में है कि उसने 'सम्राट्' को कभी भी एक हिंस्र जानवर के रूप में न लिया किन्तु उसे मालूम था कि वह प्रजा का प्रथम सेवक और रक्षण करने वाला पिता है। प्रजा की सेवा के लिये सम्राट् हमेशा तत्पर रहते थे, कोई बात नहीं चाहे वे उस समय अन्तःपुर में रंगरेलियां मना रहे हों।

कितनी महत् विशाल आत्मा इस कुटिल जगत में अवतरित हुई थी—कितने महान् थे उनके कार्य, वे करुणा की मूर्ति सदेह पृथ्वी पर स्नेह की जलधारा से संसार में तप्त जीवन को सींचने आई थी। संपूर्ण कर्मयोग से ही निबद्ध वह चरित्र था। सम्राट् ने कहा था और वह अभी भी हमारे हृदय में प्रतिध्वनित हो रहा है—

"ये तोषे उटनसि" मुझे उद्योग। (प्रजा का कार्य करने में) करने में ही सन्तोष है। और वे फिर कहते हैं—"अथ्रसंतिरणये च कटविय मते हि मे सव्रलोकहिते"—सर्वलोक मंगल-कल्याण ही मेरा कर्त्तव्य है, कर्म है।"

पुनः सुनिये—"नास्ति हि क्रमतर सव्रलोक दिनेति"—सर्वमङ्गल से बढ़कर अधिक उपादेय कार्य कोई नहीं।

प्रजा के महत् स्नेह भार से आक्रांत मस्तक फिर भी चुप नहीं होता, और वह कहता है—

"यं च किंचि परक्रमयमि अहं किति भुतनं अनणियं येहं, इ अ च प सुखयमि परत्र च स्पग्रं अरधेनु ति से एतये अथ्ये इये धमलिपि लिखित चिरहितिकं होतु।"

"जो कुछ भी मैं कार्य करता हूँ, वह किसलिये ? इसलिए कि मैं जीवधारी (प्रजावर्ग) के ऋण से उऋण हो सकूँ, जिससे मैं उन्हें इस लोक में सुखी करूँ—और (जिसमें) वे परलोक में स्वर्ग प्राप्त कर सकें। इसी हेतु यह धर्मलिपि लिखवाई—चिरस्थायी होवे।" सम्राट् इतने से ही संतुष्ट न हुए, वे चाहते थे मेरे अनन्तर भी प्रजा सुखी रहे—और सो कहते हैं—

"तपं च मे पुत्र नतरे......परक्रमंते, सव्रलोक हितेन दुकरे चु खो, अनत्र अग्रेन परक्रमेने" (मानसेरा ६वाँ शिलालेख)।

"सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के हित मेरे पुत्र और पौत्र इसी प्रकार उद्योग करें—(अनुशरण करें)। मङ्गल कार्य करना यद्यपि बिना अविरल परिश्रम के कठिनतर है।"

ये ही थे सम्राट् अशोक और ऐसे थे उनके प्रजा के प्रति स्नेह के उद्गार जिन्हें राजनीतिक शब्दों में ऐतिहासिक सुधार के नाम से भी संबोधित कर सकते हैं।

तीसरा सुधार 'रज्जुक' के पद की वृद्धि करना था। अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष उन्हें न्याय और दंड की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई थी। उन्हें हर प्रकार प्रजा के कल्याण का ध्यान रखना होता था—जिससे प्रजा को इहलोक तथा परलोक दोनों की प्राप्ति हो सके। 'रज्जुक' के इस तरह दो कार्य थे—प्रथम ऐहिक, मङ्गल (प्रजा का) और द्वितीय प्रजा की आध्यात्मिक उन्नति। उन्हें प्रजा को पूर्ण न्याय देकर सम-व्यवहारता का नित्य ध्यान रखना होता था।

यहाँ पर कोई पूछ सकता है कि सम-व्यवहारता से सम्राट् का क्या तात्पर्य था। यद्यपि निश्चयात्मक रूप से इस पर कुछ कहना अत्यन्त कठिन है, फिर भी यदि मेरा अनुमान ठीक हो तो संभवतः

समव्यवहारता से यही तात्पर्य हो सकता है कि न्याय में भेद होने से उच्छृंखलता न आ सके, सब के साथ न्याय-पक्ष में एकसा व्यवहार हो, यह न हो कि यदि दंडी, जिसने दंड किया है—किसी बड़े आदमी सेठ या पदाधिकारी का संबन्धी हो, तो न्यायाधीश उसे मुलाहज़ा फ़रमा कर रिहाई दे दे। किन्तु वही गुनाहगार एक ग़रीब हो, कोई उसका पूछने वाला न हो—जैसा कि अब भी जारी है— ख़ूब कड़ी यातनाओं से सताया जाय। और चाहे वह संदिग्ध अपराधी बेगुनाह भी हो तब भी ग़रीब समझ बेपूछे पीड़ित किया जाय, यदि आज तक के न्याय-इतिहास को उठा कर देखें तो मालूम होगा कि न्याय दूसरे शब्दों में अन्याय ग़रीबों के लिये ही रहा है। न्याय की सम-व्यवहारता (Uniformity) बड़े धन और बड़े जन के समक्ष हमेशा से भंग होती आई है। किन्तु सम्राट् ऐसा नहीं चाहते थे। वे पक्षपात के कट्टर विरोधी थे—उन्हें इससे घृणा थी। गाथाओं से मालूम होता है कि सम्राट् ने अपने गुनाहगार भाई महेन्द्र का भी कतई पक्ष न लिया। वे नहीं चाहते थे कि न्याय के समक्ष भाई का अस्तित्व अन्याय का कारण हो, न्याय की समव्यवहारता को नष्ट कर दे। नगर-व्यवहारिकों को भी न्याय की सम-व्यवहारता को भंग करने पर ही कोसा गया था, क्योंकि उन्होंने कई निरापराध ग़रीब लोगों को अन्याययुक्त दंड दिया था। इसी सम-व्यवहारता को सम्हालने के लिये 'रज्जुक' नियत किये गये थे।

चतुर्थ स्तंभ-लेख लिखता है, "वे मनुष्य जो बन्धन में हैं जिनका पहले ही न्याय हो चुका है, जिन्हें प्राणदंड की सज़ा मिल चुकी है उनको मैंने तीन दिन का विश्राम मंजूर किया है। इन तीन दिनों के भीतर, उन (कैदियों) के संबन्धी 'रज्जुक' को फिर से न्याय करने का ज़ोर देंगे, और यदि कोई 'रज्जुक' से अपील करने वाला न हो, तो वे कैदी दान देंगे अथवा उपवास करेंगे जिसमें वे स्वर्ग (परलोक) को प्राप्त हो सकें। क्योंकि मेरी इच्छा है कि वे

फाँसी होने पर दूसरे लोक (स्वर्ग) को प्राप्त हो सकें।" फलतः सम्राट् का का यह एक और महत् सुधार कर्म था। उन्हें फाँसी वाले दंडियों के सुख का भी पूर्ण विचार था। वे उनको भी स्वर्ग भिजवाना चाहते थे, इसी हेतु मालूम होता है अवकाश के इन तीन दिनों तक सरकार की ओर से इन फाँसी वालों के लिये दान देने का प्रबन्ध किया गया था। महाराज का प्राणियों तथा न्याय पर स्वाभाविकतया सम-स्नेह था।

इस विवरण से साथ ही यह भी विदित होता है कि अशोक के समय दण्ड-संहिता (Penal code) में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया गया था। इस समय "दंड" की कड़ाई अत्यधिक न थी। तथा इस काल में "दण्ड" का वह उग्र रूप जाता रहा जो चन्द्रगुप्त के समय में था, जब कि चोरी के लिये भी फाँसी अथवा, अंग-भंग की सज़ा दी जाती थी। किन्तु अशोक ने दण्ड की कठोरता, को अमानुषिक समझा, इसी से १३वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—कि "मेरे पुत्र और परपौत्र शस्त्रों द्वारा विजय करने का विचार न करें। उन्हें उदारता, सहिष्णुता, तथा दण्ड-मृदुता (अथवा दण्ड-लघुता) में आनन्द मानना चाहिये।" इसी भाँति कलिङ्ग शिलालेख धौली भी लिखता है कि राजकर्मचारियों को दंड देते समय "मध्य-मार्ग ग्रहण करना चाहिये अर्थात् दण्ड की सरलता करनी चाहिये।"

सेना—बहुत से लोगों की धारणा है कि सम्राट् अशोक ने कलिङ्ग-युद्ध के बाद सेना को हटा दिया; किन्तु इस बात का हमें कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। सम्राट् के शिलालेख भी इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डालते, किन्तु १३वें शिलालेख में सम्राट् सैन्य के स्थित रहने का कुछ आभास अवश्य देते हैं। उपद्रवी अटवी अथवा बन-निवासियों को अपनी अपार शक्ति का परिचय देते हुए सम्राट् कहते हैं—"उन्हें यह समझा दिया गया है कि सम्राट् के अनुताप अथवा पछतावे में भी कितनी शक्ति है, जिससे वे अपने कार्यों पर लज्जित हों और मारे न जायँ।" सम्राट्

के अन्तिम शब्दों से यहाँ पर साफ़ मालूम पड़ता है कि अटवी लोग यदि फिर भी उपद्रव करते रहे तो उनकी भी कलिङ्गवाली दशा हो जायगी। अतः प्रकाशित है कि अटवीयों का दमन करना बिना सैन्य के संम्भव नहीं हो सकता। इससे कह सकते हैं कि सम्राट् के पास सैन्य-विभाग भली प्रकार मौजूद था और संभवतया उसका शासन उसी प्रकार किया जाता रहा जैसा चन्द्रगुप्त के समय में मेघास्थनीज के वर्णन से मालूम होता है।

सिंचाई—सिंचाई का काम भी इस समय मेघास्थनीज तथा कौटिल्य के वर्णनानुसार ही किया जाता रहा होगा। ऐसे ही तिज़ारत, दस्तकारी आदि का काम भी कौटिल्य तथा मेघास्थनीज के दिये हुए विधान के अनुसार ही किया जाता होगा, यद्यपि शिलालेखों से हमें इन विषयों के प्रति कोई प्रमाण नहीं मिलता।

सड़क—सम्राट् अशोक के समय मार्ग का सुचारु रूप से निर्माण किया जाता था। अशोक के मार्ग घने वृक्षोंकी छाया से ढँके रहते थे। कहा जाता है कि पाटलिपुत्र से लेकर, तक्षशिला को एक सीधी सड़क जाती थी। सर जौन स्ट्रैको (Sir John Strachey India, Ch. XIV) दृढ़ शब्दों में कहते हैं कि "No Indian Prince ever made roads" अर्थात् किसी भारतीय राजा ने कभी सड़कें नहीं बनाईं। किंतु यह धारणा अनर्थक है, कौटिल्य मार्गों का निर्देश करता है तथा यात्रियों की सुभीता के लिये मील अथवा स्तंभ गाड़ने को भी कहता है। देहातों में भी बनाई गई सड़कों और बटिया अर्थात् नहीं बनाई गई सड़कों या स्वतः बनी सड़कों में अन्तर माना जाता है।

अन्य सार्वजनिक कार्य—सार्वजनिक कल्याण के लिये सम्राट् ने क्या किया यह द्वितीय शिलालेख से प्रत्यक्ष मालूम होता है। यह लेख लिखता है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी के विजित प्रदेशों में तथा जो सीमांत प्रदेश हैं, जैसे चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के प्रदेशों में, तथा अंतियोक (एंटिओकस) नाम के यवन

राजा तथा जो अन्य राजा उनके समीपस्थ हैं, उनके यहाँ सब स्थानों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दोनों प्रकार की चिकित्सा का प्रबंध किया है—मनुष्य की चिकित्सा और पशु की चिकित्सा। मनुष्य तथा पशुओं के लिये उपयोगी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं हैं वहाँ-वहाँ वे ले जाई गईं और लगाई गईं। इसी प्रकार मनुष्य तथा पशुओं के हेतु जहाँ फल और मूल नहीं वहाँ-वहाँ वे लाए गये और बोये गये, तथा मार्ग में कुँए खुदवाये और पेड़ लगवाये।"

इस प्रकार सम्राट् अशोक के समय दोनों प्रकार की चिकित्साओं का प्रबंध था जिनके लिये अच्छे चिकित्सकों की अवश्य आवश्यकता रही होगी। किंतु मौर्य-काल में अच्छे चिकित्सकों की बिलकुल कमी न थी। बुद्ध के समय काशी और तक्षशिला के चिकित्सा विश्वविद्यालय बहुत प्रसिद्ध थे। (Horule Studies in the medicine of Ancient India)। क्टेसियस एक ग्रीक चिकित्सक ने अपनी 'इण्डिका' में लिखा है कि भारतीयों को शिरदर्द, दन्तशूल, अक्षिशोथ, मुखपाक और व्रण नहीं होते (४०० ई० पू०)। नियार्कस के अनुसार सिकन्दर भारत में अपने साथ भारतीय चिकित्सकों को रखता था (Surgical instruments in Ancient India) इन विवरणों से पता चलता है कि सम्राट् अशोक के समय से पहले ही भारत में अच्छे वैद्य उपलब्ध थे। सम्राट् के दादा के समय भी चिकित्सा पर ख़ूब ध्यान दिया जाता था। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय स्त्रियाँ भी रोगियों की सेवा के लिये रखी जाती थीं। (कौ० अर्थ—शास्त्र १०)। मालूम होता है कि सम्राट् अशोक के समय 'स्त्रीध्यक्ष-महामात्र' को स्त्रियों की चिकित्सा, शुश्रूषा आदि का भी ध्यान रखना पड़ता था। सम्राट् अशोक के समय सार्वजनिक उद्यान (बाग़) (शिलालेख ६वाँ), आम्रवाटिका, (स्तम्भ-लेख सातवाँ) कुएँ आदि खुदवाने और बनवाने के लिये अलग कर्मचारी रहते थे। मार्ग में यात्रियों की सुभीता के लिये धर्मशालायें भी थी और सुस्ताने के लिये, धूप से

बचने के लिये पेड़ भी लगवाये जाते थे, जिनका उत्तरदायित्व और प्रबंध का भार सरकार पर ही था। साथ ही सम्राट् ने औषधियों तथा चिकित्सा का प्रबंध अपने ही राज्य में न किया, वरन् विदेशी यवन-राज्यों की चिकित्सा आदि का भार भी अपने ही ऊपर ले रखा था। यहीं पर सम्राट् की व्यापकता और विश्व-मैत्री का स्पष्टीकरण होता है।

इस प्रकार अशोक अपने राजकीय कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व के महान् सिद्धान्त का पालन करने में कभी न चूके। संक्षेप में सम्राट् को यद्यपि किसी कंटीली समस्या को न सुलझाना था, किन्तु सर्वलोक कल्याण कामना ही उनका अविरत अनुराग रहा। उन्होंने वात्सल्य-धर्म, सत्यता, दया, दान, अहिंसा, सहिष्णुता का ही प्रचार न किया अपितु शासन कर्म के प्रवर्तनीय प्रयोगों से उनका मस्तक हमेशा आक्रांत रहा।

को नीक—रुक्ष प्रांतर (शून्य मार्ग) पर पशु और मानव सर्व जीव हित के लिये फूलों और फलों से लदी वृक्षावलियाँ रोपी गईं, कुएँ खुदवाये, धर्मशालायें निर्माण करवाईं, औषधियों की क्यारियाँ पनपाईं और असहाय बीमारों के लिये चिकित्सालयों तथा असहाय पशुओं और दुःखग्रस्त जानवरों के लिये पिंजरापोल (Pinjrapol) की स्थापना करवाई।

यही वे सम्राट् हुए जो मानव-जाति के सम्राटों में अद्वितीय हो चुके हैं। सहस्रों अनगिनत सम्राटों, राजाओं और आक्रांतकारी सिज़र, नेपोलियन, चंगेजखाँ और सिकन्दरों के मध्य अशोक का उज्ज्वल नक्षत्र एकाकी तेज में चमक उठता है। उनके समक्ष सबकी द्युति म्लान हो उठती है। अशोक पूर्ण मानव थे। समासतः एक शब्द में सर्वलोक-हित और विश्व-मङ्गल ही (अशोक) का जीवन, राजधर्म और शासन था।

चौथा प्रकरण

सम्राट का धर्म-परिवर्तन और बौद्ध होना

कलपान्त से कितने महाभारत हुए, भीषण हत्याकांड हुए, पर क्या किसी का मानवी हृदय था, जो उन नग्न भीषणताओं को देख कर काँप उठा हो ? मुझे लज्जा मालूम होती है, किन्तु कठोर सत्य की तीक्ष्णता को सहन करना ही पड़ता है कि हमारे भगवान् आर्यों के पूजनीय देव कृष्ण भी, महाभारत के क्रूर तांडव को देखते रहे, किन्तु अणु मात्र भी उनका हृदय न पिघला। परन्तु ध्यान रहे कि वे ईश्वर थे, देव थे, मानव नहीं। अतः उनके लिये वही उचित था। देव के आँसू नहीं चूते, उसका हृदय क्रन्दन नहीं करता—जब वह अपने हाथों से, अपने ही सामने, कलियों से नन्हें सुकुमार बच्चों, उष्ण आकांक्षा की कल्पनाओं में झूमते युवकों और तरुणियों को भयंकर भू-कम्पों और वैसी ही संहारकारिणी शक्तियों द्वारा पल में स्वाहा कर देता है। मनुष्य का यही करुण अन्त है। मानव एक उड़ती हुई छाया है, सुख पहाड़ी पर चमकती हुई डूबते सूर्य की रंगीन किरणें हैं, जो पल भर में ही रजनी के अँधियाले में जा छिपती हैं। और तत्ववेत्ता कहते हैं, "यह ईश के हाथों का खेल है।"

किन्तु ढाई हज़ार वर्ष हुए एक मानव का अवतार हुआ था, वह एक साधारण मनुष्य था। यद्यपि वह राजा हुआ किन्तु देव न था। उस मानव का नाम अशोक था—उसने संसार से शोक मिटाना चाहा। वह देवताओं का प्रिय था, किन्तु स्वयं मनुष्यों का कल्याणकारी और स्नेही रहा। अशोक सर्वोपरि मानव थे। कलिंग युद्ध की नग्न पैशाचिक क्रूरता उनके हृदय को आर्त कर चली। उनका

हृदय काँच की नाँई तिड़क उठा। हाथों का खड्ग दूर जा गिरा, आँखों में आँसू छलक आये, हृदय में करुणा रोने लगी, सम्राट् पागल हो उठे। युद्ध की करुणता से बढ़ कर सम्राट् का कारुण्य था। सम्राट् की इस विकलता में शाक्यमुनि का कल्याणमय संगीत आलंब हुआ। अशोक ने आँखें खोलीं और उस संगीत को मस्तक नवाया। अहिंसा की मंगलमय माला को करों में धारण कर सम्राट् अब बुद्धदेव के कल्याणपथ पर आरुढ़ हुए। अशोक ने अब तथागत के मार्ग का अनुसरण किया। सम्राट् का धर्म-परिवर्तन विश्व के मानव इतिहास में एक आकस्मिक घटना थी। इसी कलिंग युद्ध के पश्चात् सम्राट् का धर्म की ओर उत्तरोत्तर झुकाव बढ़ता गया और कुछ समय तक उपासक रह कर तत्पश्चात् पूर्ण रूप से प्रमुख धार्मिक बन संघ में प्रविष्ट हुए।

त्रयोदश शिलालेख लिखता है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के आठवें वर्ष कलिंग को विजय किया। यहाँ से डेढ़ लाख आदमी बाहर ले जाए गये, एक लाख आदमी आहत हुए, और इससे कई गुना वे थे जो मरे। उसके पश्चात् जब कलिंग साम्राज्य में मिला दिया गया (अथवा कलिंग विजय हुआ) तब से देवताओं के प्रिय का धर्माचरण बढ़ा, धर्म के स्नेह की वृद्धि हुई और धर्म का अत्यधिक विस्तार हुआ।"

इस कलिंग युद्ध के पश्चात् सम्राट् का नवीन जन्म हुआ। वह क्षत्रिय वीर अशोक अब धर्मवीर धर्माशोक थे। हिंसा के कारण शस्त्र की जगह अब हाथों में स्नेह और कल्याण का अमृत से पूरित रजत पात्र था। स्नेह और कल्याण ही अब उनके जीवन का उद्देश्य था उन्होंने कहा, वे शब्द पावन थे—"नास्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन" (मानसेरा) "सर्वलोक कल्याण से बढ़कर और कोई कार्य नहीं"। अपितु आकांक्षा और राजकीय कामनाएँ, विश्व-कल्याण और जीव-मंगल की अभिलाषाओं से चरितार्थ हुईं। सैनिक "वीर घोष" अब

मंगलकारी "धर्म-घोष" था। इसके पश्चात् (कलिंग युद्ध के पश्चात्) विजय अवश्य हुई किन्तु वे सब धर्मविजय थीं। सम्राट् कहते थे—मुख-मते विजये देवने प्रियस यो धूमविजयो, "देवताओं का प्रिय सब विजयों में धर्मविजय को मुख्य विजय मानता है।" इस वृत्त से सर्वथा प्रकाशित होता है कि सम्राट् के विचारों में प्रथम परिवर्तन का कारण कलिंग युद्ध की नग्न भीषणता थी। इससे यह भी मालूम होता है कि बौद्ध-धर्म सम्राट् का मूल (आद्य) धर्म न था। इस बात को दीपवन्श और महावंश दोनों अंगीकार करते हैं। महावंश लिखता है—"ब्राह्मण-धर्मी होने से अशोक का पिता (बिन्दुसार) प्रति दिवस साठ हज़ार ब्राह्मणों को दान दिया करता था। इसी भाँति सम्राट् अशोक ने भी तीन वर्ष तक दान दिया।" आगे चल कर महावंश फिर लिखता है—"अशोक बड़ा प्रसन्न हुआ और निगरोध को सत्कार के साथ भीतर (महल) बुलवाया। सविनय निगरोध ने भीतर प्रवेश किया। सम्राट् ने उससे कहा—"मेरे बच्चे, जो स्थान तुम्हें अच्छा लगे उस पर विराजिए।" किसी अन्य आचार्य को उपस्थित न देख कर निगरोध सिंहासन की ओर बढ़ा। उसे सिंहासन की ओर बढ़ता देख, सम्राट् इस प्रकार सोचने लगे, "यह सुमनरो (सुमन का पुत्र) किसी दिन महल का स्वामी बन बैठेगा।" सम्राट् की भुजाओं का अवलंब ले, वह (निगरोध) सिंहासन पर जा बैठा। सम्राट् अशोक अपने धर्म की उच्चता को विचार, और इस भव्य व्यक्ति, जिसने इस प्रकार अपना आसन ग्रहण किया, पर निहारते हुए, अत्यन्त प्रमुदित हुए। सम्राट् ने अपने हिस्से के पानीय एवं भोजन से आदरित कर, उसे आश्वासित किया। श्रम छिन्न करने के पश्चात् सम्राट् ने सुमनरो से बुद्ध के नियोग सिद्धान्तों पर, प्रश्न किया। सुमनरो ने राजा को "क्षणिकता" का सिद्धान्त समझाया। इसे सुनकर अशोक को बड़ा हर्ष हुआ और उसे तथागत के धर्म पर श्रद्धा हुई।........ वह (निगरोध-सुमनरो) जो सम्राट् से सम्मानित हुआ सम्राट को धर्म के

सिद्धान्तों को समझा कर, सम्राट् और उनकी प्रजा को उन नियोगों पर स्थापित कर गया। निगरोध का आख्यान इस प्रकार समाप्त होता है। इसके पश्चात् दिन दिन दान लेने वालों की संख्या को बढ़ाते हुए, अब सम्राट् ६० हज़ार (६०,०००) बौद्ध-भिक्षुओं को दान देने लगे, जैसा कि पहले वे ब्राह्मणों को दिया करते थे। साठ हज़ार विधर्मियों को हटा कर अब ६० हज़ार (६०,०००) बौद्ध-भिक्षु महल में आश्रय पाने लगे।"[1]

इस विवरण से सर्वथा प्रकट होता है कि बौद्ध होने से प्रथम सम्राट् ब्राह्मणधर्मी थे। यही कारण था कि सम्राट् अपने यहाँ ब्राह्मण साधुओं को जिमाया करते थे, और उन्हें दान देते थे। किन्तु निगरोध के उपदेश से प्रभावित हो, उन्हें बुद्ध पर अत्यन्त श्रद्धा हुई, और हर्षित होकर उन्होंने तथागत के धर्म को ग्रहण कर लिया। महावंश के चतुर्थ प्रकरण से भी विदित होता है कि अशोक प्रथमतः बौद्ध न थे। बौद्ध-धर्म के विपरीत वे विधर्मियों का साथ देते थे अतः महावंश लिखता है, "रात को, स्वप्न में, राजा (कालाशोक) ने देखा कि उसकी आत्मा लोहोकुम्बिया नरक में धकेल दी गई है। राजा बड़े व्याकुल हुए। इस संत्रास को मिटाने के लिये उसकी छोटी बहिन पावनी भिक्षुणी, आनन्दी जो बन्धनों से मुक्त हो चुकी थी, वायु द्वारा पहुँची, और राजा से बोली "जो काम तुमने किया है वह बड़े अर्थ का है, धर्म के प्रमुख आचार्यों से इसका प्रायश्चित करो, उनके साथ सहयोग प्रदान कर, सत्य-धर्म (बौद्ध-धर्म) का पक्ष ग्रहण करो। ऐसा करने से तुम्हें शान्ति मिलेगी।" ऐसा कह, उसने विदा ली।

"प्रातःकाल राजा ने वैसाली को प्रस्थान किया। महावान विहार में पहुँचकर उसने भिक्षुओं को एकत्रित किया, और दोनों वर्गों के तर्क-

---

[1]महावंश प्रकरण ५ (G. Tournor)।

वितर्क की समीक्षा कर उसने सच्चे-धर्म (बौद्ध-धर्म) का पक्ष ग्रहण किया। बौद्ध-धर्म के सर्व आचार्यों से क्षमा माँग कर उसने धर्म के कार्यों में अपना सहयोग प्रदान करने का प्रण लिया।"[1] इस वृत्त से स्पष्ट होता है कि सम्राट् पहले बौद्ध-धर्म के अनुयायी न थे, उन्होंने बौद्ध-धर्म के विपरीत यथेष्ट कार्य किया था, जिसके कारण महावंश के अनुसार उनकी आत्मा को नरक में जाना पड़ा। इस नरक की भीति से ही, बहिन आनन्दी के उपदेश देने पर, सम्राट् अशोक ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया।

बहुत से विद्वानों की यह धारणा थी कि अशोक बौद्ध-धर्मी न थे। विलसन (Wilson) और एडवर्ड थोमस (Edward Thomas) की सम्मति में अशोक जैन थे। इसी भाँति कल्हण ने भी अशोक को जैन कहा है। राजतरंगिणी में अशोक को शैव बतलाया गया है। उन्हें शिव-मन्दिर "अशोकेश्वर", जो कल्हण के समय तक विख्यात रहा, का निर्माता भी कहा जाता है। बौद्ध-गाथाओं में उन्हें बौद्ध-धर्म का पहले कट्टर विरोधी कहा गया है। अशोक की इस विरोधता तथा दुष्टता प्रमाणित करने के लिये उन्हें "नरक" का निर्माता भी कहा गया है। पीछे उपगुप्त[2] के उपदेश से प्रभावित होकर उन्होंने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया।

इन सब विवरणों से प्रकाशित होता है कि मूलतः वे अवश्य किसी ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे, उनके पिता स्वयं ब्राह्मण-धर्म्मानुयायी थे अतः उन (अशोक) का अपने पैतृक धर्म

---

[1] महावंश, प्रकरण ४ (Tournor)।

[2] चीनी (Chinese) में उपगुप्त को यु-पो-कीयू-टो (Yo-Po-Kiu-To), नाम दिया है और जापानी (Japanese) में उवकिकता (Uvakikta) लिखा है। जन्म से वह शूद्र था, सत्रह (१७) वर्ष की आयु में वह संघ में सम्मिलित हुआ। तीन साल पश्चात् वह अरहत हुआ। इसी समय उसने "मार" विजय की। दक्षिणी गाथाओं (बौद्धों) में उपगुप्त नहीं पाया जाता किन्तु उत्तरी बौद्ध सुवर्कुल ने इसे अशोक का समकालीन बताया है।

का अवलंबी होना सर्वप्रकार संभव है। अस्तु निर्धारित है कि प्रथमतः वे बौद्ध न थे। अब यह प्रश्न उठता है कि तब वे किस समय बौद्ध हुए तथा क्या वे सत्य रूप से बौद्ध थे अथवा नहीं ? इन प्रश्नों को हल करने में अशोक के शिलालेखों से हमें यथेष्ट सहायता मिलती है, इन धर्मलिपियों में अशोक ने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया है। किन्तु इस विषय में श्री जेम्स फ्लीट कहते हैं कि वह धर्म जो शिलालेखों का अविरल विषय है, यथार्थ में बौद्ध-धर्म न था। इस धर्म को फ्लीट, मानवधर्म, जो मानवधर्मशास्त्र (१,११४) में राजधर्म दिया गया है, कहते हैं। उनका कहना है कि धर्म की व्याख्या स्वयं अशोक के शब्दों में, दुष्कर्मों से अपनी रक्षा, सुकर्म, दया, दान, सत्यता एवं पवित्रता है। अतः इन शिलालेखों एवं स्तंभलेखों का तात्पर्य, बौद्ध-धर्म अथवा किसी अन्य धर्म का प्रचार न करना था। यदि इन लिपियों से अर्थ बौद्ध-धर्म होता तो बुद्ध (बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक) का अवश्य इन लेखों में उल्लेख दिया जाता। किन्तु वस्तुतः वह मानव-धर्म था, जिसके अनुरूप सम्राट् अशोक एक साधु धार्मिक एवं सदाचारी नृप की भाँति धर्मानुशासन का प्रचार तथा प्रसार कर शुद्ध साधु सिद्धान्तों पर, (जो मानव-धर्म में दिये गये हैं) अपनी प्रजा एवं कर्मचारियों को लाना चाहते थे। उन्हें यह प्रदर्शित करना था कि वे, प्रजा से संयुक्त हो किस अच्छाई के साथ राज-कार्य कर सकते हैं। वे मानवों से अलग रह कर एवं उनके हित से परे, कोई कार्य न करना चाहते थे। इसी हेतु शिलालेखों और स्तंभों का यह धर्म बौद्ध-धर्म न था, अपितु वह राजाओं का सामान्य धर्म था जो मानव-धर्मशास्त्र में दिया गया है।

५वें शिलालेख में धर्ममहामात्रों को देख कर यह निर्धारित न करना चाहिये कि वे बौद्ध-धर्म के लिये तथा उसी के प्रचार-कार्य के लिये नियत किये गये थे। अपितु उनका कार्य सब सम्प्रदायों से सर्व सम्प्रदायों का हित और उन्नति करना ही उनका प्रमुख ध्येय था। यही सम्राट् सातवें स्तंभ-लेख में कहते हैं।

"अभिषिक्त होने के २८वें वर्ष से मेरे धर्म-महामात्र अनेक प्रकार के मङ्गलकार्य (हित करने) में लगे हैं। वे सब सम्प्रदायों के लिये नियुक्त हैं। वे परिव्राजक साधुओं एवं गृहस्थों के लिये नियत हैं। वे संघ के कार्य (हित) के लिये, तथा ब्राह्मण, आजिविक, निर्ग्रन्थ (जैन) और अन्य धर्मों के लिये नियत हैं। पहले अमुक महामात्र अमुक सम्प्रदाय (धर्म) के लिये नियत थे, किन्तु मेरे धर्ममहामात्र इन पूर्वनिर्दिष्ट सम्प्रदायों तथा अन्य धर्मों के लिये नियत हैं।"

इस ७वें स्तंम्भ-लेख के संघ से यह न समझना चाहिये कि चूँकि इसमें संघ का उल्लेख आया है, इसलिये अशोक बौद्ध-धर्मी एवं उसके प्रचारक थे। संघ इस स्तम्भ में ब्राह्मण, जैन तथा अन्य धर्मों के साथ एकरूपता अथवा समानता से प्रयुक्त हुआ है। तथा इस संघ से तात्पर्य किसी भी संघ, जैसे—व्यापारी-सङ्घ, (Merchant guild भिक्षुसङ्घ, से हो सकता है। फलतः अशोक अभिषिक्त होने के अट्ठाइसवें वर्ष तक बौद्ध न हुए थे, किन्तु ३०वें वर्ष (अभिषिक्त होने के तीसवें साल) वे बौद्ध हुए और ढाई साल तक उपासक (lay-worshipper) रहे, तत्पश्चात् अशोक ने अभिषिक्त होने के तैंतीसवें वर्ष के प्रारम्भ में बौद्ध-संघ में प्रवेश किया।[1]

किन्तु जेम्स फ़्लीट की यह धारणा नीतियुक्त नहीं, अपितु आपत्तिजनक विदित होती है। उनकी यह धारणा सम्राट् के धर्म तथा बौद्ध-दीक्षा ग्रहण करने की तीथि (तारीख) में बड़ा उत्पात मचाती है। फ़्लीट की इन दो धारणाओं की हम क्रमशः विवेचना करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम यह देखना है कि क्या शिलाभिलेखों का यह धर्म बौद्ध-धर्म था या नहीं? फ्लीट की आपत्ति है कि शिलालेखों में उल्लेखित धर्म

[1] J.R.A.S., 491-496 (1908).

मानव-राजधर्म था, क्योंकि उसकी व्याख्या अशोक ने राज-धर्म के प्रकार की है—"अहिंसा (दुष्कर्मों से बचाव), सुकर्म, दया, दान, सत्यता और पवित्रता"—परन्तु क्या इसका अभिप्राय यह होना चाहिये कि ये सिद्धांत बौद्ध-धर्मान्तर्गत न थे? सिगालोवाद-सुतान्त में इन सभी सिद्धान्तों का उल्लेख दिया गया है। सिगालोवाद-सुतान्त दुष्कर्म अथवा हिंसा करने को बड़ा भारी पाप समझता है। दया, दान सत्यता, आदि बौद्ध-धर्म के प्रमुख नियोग माने गये हैं।[1] "नास्ति हि क्रमतर, सव्रलोक हितेन" (मानसेरा--६वाँ प्रज्ञापन) ही सम्राट् के सन्मुख धर्म अथवा बौद्ध-धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है। सिगोलावाद सुतान्त में हिंसा अथवा प्राणियों का नाश, दुष्कर्मों (काय-क्लेश) में से माना गया है। ६वाँ शिलालेख कहता है, "धर्ममङ्गल से वस्तुतः बड़ा लाभ होता है। इस धर्ममङ्गल में निम्न बातें हैं—दास और नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, प्राणों का संयम, प्राणीमात्र पर दया, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान। ये तथा ऐसे ही अन्य मङ्गल, धर्ममङ्गल हैं।" सम्राट् का इस धर्म-मङ्गल का अन्वय महामङ्गल जातक (बौद्ध-ग्रन्थ) से है।[2] शिलालेख का यह भाव महा-मङ्गल-सुत्त, (सुत्त निपाता २,४) से लिया गया है।[3] अतः दान, दया आदि के ये नियोग बौद्ध-जातक एवं 'सुत्त' से उद्धृत किये गये हैं। अब १२वें शिलालेख को लीजिए—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, धर्म-दान, धर्म-संबंध, धर्म-वितरण और धर्म-संबंध से बढ़कर और कोई दान नहीं है। इसमें निम्न विषय हैं—दास और भृत्यों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिच्चित, संबन्धी, ब्राह्मण, श्रमण, साधुओं को दान और अहिंसा।" इस १२वें शिलालेख का भाव भी जैसा श्री सेनार्ट लिखते हैं "धम्मपद" श्लोक २५४ से लिया गया है। धम्मपद यह बौद्ध-ग्रंथ है, अतः मालूम

[1] Ib. [2] J. R. O. B. S. Vol. IV, p. 146.
[3] R. K. Mukerji's Asoka, p. 153, N. 4.

होना चाहिये कि ये शिक्षायें सामान्य उपासक (lay-worshippers) के लिये थीं। ये सिद्धान्त राजधर्म के सिद्धान्त ही न थे, अपितु जैसा कि हम देख चुके हैं—बौद्ध-धर्म के अपने सिद्धान्त थे। सम्राट् ने उपासकों को, प्रजा को, एवं गृहस्थों को, साधारतया (सिगालोवाद सुतान्त के अनुरूप) सात्विक धर्म की शिक्षायें दीं, जिससे वे अपने आचार-व्यवहार एवं चरित्र को उज्ज्वल बनावें, क्योंकि ऐसा करने से ही वे सत्य धर्म के अनुयायी हो सकते हैं। श्री जेम्स फ्लीट इस बात को छिपाना चाहते हैं कि यह शिलालेखों का धर्म प्रजा के लिये न था अर्थात् बौद्ध-धर्म न था, अपितु वह राजा तथा राजकर्मचारियों के पथ-प्रदर्शन के लिये लिखा गया था, अर्थात् शिलालेखों का धर्म मानव-राजधर्म था। यदि यही बात थी तो सातवें स्तंभ-लेख में सम्राट् के इस प्रकार, "मुझे यह भास हुआ कि मैं धर्म-आदेशों को निकालूँ तथा धर्म का उपदेश दूँ, इसे श्रवण कर प्रजा धर्माचरण करेगी, अपनी उन्नति करेगी और धर्म-मार्ग पर चलती हुई उत्कर्ष को पहुँच पायेगी"—उच्चारण करने का क्या तात्पर्य है? और कहना होगा कि यह धर्म राजधर्म अर्थात् केवल राजा और कर्मचारियों का ही नहीं, अपितु प्रजा का भी है। इसी भाँति एक धर्म-स्तंभ प्रजा (उपासकों) के हेतु ऐसे स्थान पर स्थापित करवाया गया था, जहाँ उपासकगण प्रत्येक उपवास के दिन वहाँ आकर धर्मानुशासनों को पढ़ें, और धर्म पर आचरण करना सीखें। (गौण-शिलालेख, सारनाथ) अतः शिलालेखों का धर्म केवल राजधर्म न था, अपितु वे यथार्थ रूप से बौद्ध-धर्म के चुने हुए सिद्धान्त थे, जिन्हें सीख कर सम्राट् की उत्कट अभिलाषा थी—मेरी प्रजा उन्हीं पर आचरण करे अथवा उन्हीं धर्म-नियोगों का अनुसरण करे। सम्राट् की यह अभिलाषा निम्न शब्दों—"मे प्रजा अनुवतंतु" (कालसी, दूसरा प्रज्ञापन) में सर्वशः विशद है।

फ्लीट का यह भी कहना है कि धर्ममहामात्रों के एकरूपता से

सब विभिन्न सम्प्रदायों के लिये नियत किया जाना इस पक्ष को स्पष्ट करता है कि वे बौद्ध-धर्मी न थे अपितु उनकी एकरूपता या समभाव मानव-धर्म का परिचायक है।

यद्यपि यह सत्य है कि अशोक धर्मोन्मत्त औरङ्गजेब की नाई स्वार्थनिष्ट कट्टर धर्मान्ध न थे तथा उनके निर्मल हृदय में स्वार्थ-परायण हृदय की वह ममतापूर्ण कलुषाग्नि न थी जो अन्य धर्मों अथवा सम्प्रदायों को औरङ्गजेब की तरह भस्मीभूत करने का उपक्रम करती। उन्होंने धर्म का व्रत लिया था सर्वमङ्गल एवं सर्वलोक-कल्याण के लिये, न कि विनाश के हेतु।

सब धर्मों की अभिवृद्धि ही महाराज अशोक धर्म का सत्य रूप मानते थे। १२वाँ प्रज्ञापन लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों (पासंडो = सम्प्रदायों), चाहे वे गृहस्थी हों, चाहे साधु (त्यागी), का दान और अनेक प्रकार की पूजा से उनका आदर करता है। देवताओं का प्रिय दान अथवा पूजा को इतना मूल्यवान नहीं मानता, जितना कि वह यह चाहता है कि सब धर्मों की सारवृद्धि हो। धर्म की सारवृद्धि कई प्रकार की होती है, किन्तु इसका मूल वाक्-संयम (वाणी का संयम) है, अर्थात् अपने धर्म का आदर और बिना किसी आधार के दूसरे धर्मों का अनादर न करना चाहिये। बिना किसी अर्थ के (उद्देश्य के) ओछापन न दिखलाया जाय। अतः यदि ऐसी विमल बुद्धि का सम्राट् सब धर्मों के लिये धर्ममहामात्रों को नियत करे, सब की भलाई चाहे तो ठीक ही है; क्योंकि सम्राट् अपने धर्म का उत्कर्ष, अन्य धर्मों का समान आदर एवं उन्नति देने में ही समझते हैं। क्योंकि सम्राट् कहते हैं, "अवसर-अवसर पर अन्य धर्म भी कई प्रकार से आदर के पात्र हैं। ऐसा करने से अपने धर्म की अभिवृद्धि, और दूसरे के धर्म का कल्याण होता है। इसके विपरीत आचरण करने से लोग अपने धर्म का क्षय करते हैं, और दूसरे के धर्म को हानि पहुँचाते हैं। जो कोई अपने धर्म का सम्मान और दूसरे धर्म का

अनादर करता है, वह केवल अपने धर्म की भक्ति से ही करता है। क्यों? इसी विचार से कि 'मैं अपने धर्म को उज्ज्वल करूँ।' किन्तु ऐसा करने से, इसके विपरीत वह अपने धर्म को और भी हानि पहुँचाता है। इसलिये परस्पर का मेल स्तुत्य है। जिससे लोग एक दूसरे के धर्म को सुनें और समझें। निस्संदेह देवताओं के प्रिय की यही इच्छा है कि सब सम्प्रदाय वाले बहुश्रुत हों तथा सुन्दर सिद्धान्तों के हों। जो लोग जिन-जिन धर्मों में रत हैं, दृढ़ हैं, उन सबसे यह कह दिया जाय कि देवताओं का प्रिय दान तथा वाह्य पूजा को इतना नहीं मानता, जैसा कि क्या? कि सब धर्म वालों की सार-वृद्धि हो, और सब धर्म उच्च बनें। इसी उद्देश्य से धर्ममहामात्र, स्त्रीध्यक्ष-महामात्र, व्रजभूमिक तथा दूसरे अधिकारी नियुक्त हैं।"

अत: सुप्रकाशित है कि धर्ममहामात्र क्यों नियत किये गये थे? यह सम्राट् की सार्वलौकिकता एवं सहिष्णुता थी। उनका विशाल मस्तिष्क विमल आकांक्षाओं एवं सद्भावनाओं से पूरित था। महाराज अशोक सत्य धर्मानुरागी थे, उन्हें धर्म का अपरूप न समझना चाहिये। यही हम उनकी समदर्शिता एवं पक्षपातहीनता के प्रति कह सकते हैं। किन्तु पाश्चात्य धर्म के संकुचित दायरे में इस प्रकार की सहिष्णुता का पाया जाना असम्भव हो सकता है। क्योंकि हमें इतिहास कहता है कि मार्क्स औरिलियस् एवं कौंस्टनटाईन भी जिनको भूल से अशोक की उपमा दी जाती है, संकुचित धार्मिकता से पृथक न थे। ईसा-इयों के समक्ष यहूदी क्षमतव्य नहीं, और मुसलमानों के समक्ष काफिर हलाल का बकरा है। अतः ईसाई वातावरण में रह कर, यह ठीक ही है कि जेम्स फ़्लीट सम्राट् की अपक्षपातिता एवं एकरूपता तथा सहिष्णुता और समानता को न समझ पाये। वे इस बात को अंगीकृत करते हुए सकुचाये कि बौद्ध होते हुए सम्राट् अन्य धर्मों से किस प्रकार उत्तम व्यवहार कर सकते हैं। संघ से जैसा कि आगे मालूम होगा, नित्य बौद्ध-संघ से ही तात्पर्य रहा है।

अब हमको यह देखना है कि सम्राट् ने बौद्ध-धर्म कब ग्रहण किया ? त्रयोदश शिलालेख के अनुसार हम पहले ही कह आये हैं कि कलिङ्ग युद्ध के पश्चात् सम्राट् अधिक से अधिक धर्म-पथ की ओर अग्रसर होने लगे थे। इसके अनन्तर रुमिनिंदी शिलालेख से हमें विदित होता है कि अभिषिक्त होने के बीसवें साल अशोक शाक्यमुनि भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनी वन का दर्शन करने गये थे। वहाँ जाकर अशोक ने उस देव-स्थान की पूजा की।[१] तथा भगवान् के आदरार्थ-सम्मानार्थ वहाँ पर शेर अथवा बाघ की प्रतिमूर्ति से अंकित एक शिला बनवाई, इसके अलावा यह प्रदर्शित करने के लिये कि तथागत का यहीं पर जन्म हुआ था, एक स्तंभ स्थापित किया गया। लुम्बिनी गाँव पर जो धार्मिक कर था वह क्षमा कर दिया गया और राजस्व घटा दिया (अब पैदावार का केवल आठवाँ भाग इस गाँव वालों को देना पड़ता था)। इस विवरण से सर्वथा यह प्रकट होता है कि सम्राट् की भगवान् शाक्यमुनि बुद्ध के प्रति असीम भक्ति-भाव एवं श्रद्धा थी। और भक्ति के फल-स्वरूप ही सम्राट् ने पूजा कर अपना मस्तक भगवान् के कल्याण-पद-पद्मों पर नत किया। भगवान् के कारण ही गाँव वालों पर भी सम्राट् ने श्रद्धालुता प्रकट की। क्या यह उनके बौद्ध-धर्मी एवं बुद्ध के अनुरक्त भक्त तथा उपासक प्रमाणित करने के लिये यथेष्ट नहीं है ? यह कदापि नहीं हो सकता कि सम्राट् एक पुरातत्ववेत्ता अथवा इतिहासज्ञ के रूप में यहाँ (लुम्बिनी बन) निरीक्षण कार्य के लिये आये हों। अथवा श्री जेम्स फ़्लीट के अनुसार सम्राट् अपने राजकीय दौरा अथवा यात्रा से लुम्बिनी वन को आदर देने गये थे—(फ़्लीट महायति का अर्थ आदर से लेते हैं, किन्तु वस्तुतः उसका अर्थ प्रजा से है)।[२] अपितु भगवान् की श्रद्धा-भक्ति एवं उपासना के भाव से प्रेरित होकर सम्राट् तथागत के दर्शन

---

[१] महायति = पूजा। [२] J.R.A.S. 475, 1908.

तथा पूजा करने के लिये गये थे। दिव्यावदान के अनुसार जिस समय सम्राट् लुम्बिनी बन को गये थे, आचार्य उपगुप्त भी साथ थे। ये आचार्य उपगुप्त सम्राट् के धर्म-गुरु माने जाते हैं। जब सम्राट् लुम्बिनी बन में पहुँचे तो आचार्य ने, दिव्यावदान लिखता है—सम्राट् से विमल शब्दों में इस प्रकार उच्चारा—"अस्मिन महाराज प्रियदसि भगवानो जातः।" अर्थात्—"इसी जगह पर प्रियदर्शी महाराज, भगवान् (बुद्ध) पैदा हुये थे।" अतः पूर्णतया प्रकट है कि अशोक धर्म एवं उपासना की भावना से ही लुम्बिनी बन गये थे। अतः कह सकते हैं कि अभिषिक्त होने के २०वें वर्ष सम्राट् बौद्ध-धर्मावलम्बी थे।

पुनः आठवें शिलालेख को लीजिये, यह लेख निम्न शब्दों को उच्चारण करते हुए आरम्भ होता है, "अतिकतं अंतलं देवानं पिया विहालयातं नाम नखमिसु हिदा मिगविया अंनानि चा हेदिसानि, अभिलाभानि हुसु देवानं पिये पियदसि लाजा दसवसाभिसिते संतं निकरामि संबोधि तेनता धमयाता······"········"विगत काल में राजागण विहार-यात्रा के लिये निकलते थे। इस विहार-यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही अन्य मनोविलास होते थे। किन्तु देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के १०वें वर्ष सम्बोधि की यात्रा की। बुद्ध-गया की यात्रा की। तब से यह धर्मयात्रा चली।" इस वृत्त से स्पष्ट है कि आठवाँ शिलालेख सम्राट् के बौद्ध-धर्म ग्रहण करने पर प्रकाशित हुआ था। इस शिलालेख के प्रकाशन के समय ही उन्होंने बुद्ध-गया की यात्रा की, जिससे मालूम होता है कि अशोक अभिषिक्त होने के १०वें (दशवें) वर्ष बौद्ध हो चुके थे। किन्तु अभी अशोक केवल एक उपासक (lay-worshipper) थे, उन्होंने भिक्षु होकर अभी संघ में प्रवेश न किया था। तथा गृहस्थ को छोड़ कर परिव्राजक न हुए थे। बौद्ध-धर्म की दीक्षा यद्यपि अब वे ग्रहण कर चुके थे, किन्तु भिक्षुओं का समाधीस्थ जीवन उन्होंने न अपनाया था, वे अब भी सम्राट् रह कर राज-कार्य करते थे। इस समय उन्होंने

धर्म का एक बड़ा सुधार अवश्य किया—वह था विहार-यात्रा को धर्म-यात्रा में परिवर्तित करना। इस धर्मयात्रा की शिलालेख ने स्वयं इस प्रकार व्याख्या की है—"धर्मयात्रा में ब्राह्मण और श्रमणों का दर्शन और उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन और उन्हें स्वर्ण का वितरण, प्रजा के लोगों से मिलाप, उन्हें धर्म की शिक्षा देना और यदि उचित समझा जाय तो धर्म पर जिज्ञासा करना आदि होता है।" अतः कह सकते हैं कि अभिषेक के १०वें साल सम्राट् अशोक बौद्ध-धर्म के उपासक हो चुके थे। यह समय उनके धर्म-सिद्धान्तों के प्रचार का समय है। तथा इसी शिलालेख के प्रकाशन-काल से उन्होंने बौद्ध-धर्म के तीर्थों की यात्रा करनी आरम्भ की।

पुनः गौण-शिलालेख प्रथम, ब्रह्मगिरी में सम्राट् कहते हैं—"देवताओं का प्रिय इस प्रकार आदेश करता है—लगभग ढाई साल के मैं उपासक रहा, इस समय मैंने यथेष्ट पराक्रम न दिखलाया। किन्तु निःसन्देह एक साल से ज्यादा हुआ, जब मैंने संघ की यात्रा की, तब से मैंने यथेष्ट उपक्रम किया।"

इसके साथ ही त्रयोदश शिलालेख के कथन को भी पढ़िये—"अठवषाभिसितषा देवानं पियष पियदषिने लाजिने कलिंग्या विजिता दियठमाते पानषत वहशे येतफा, अपवुढ़े, शतषहपमाते तत हते बहुत-वितके वा, मट तता पछा अधुना लधेषु, कलिंग्येषु तिबे, धंमवाये धंम-कामता धंमानुषथि वा, देवानं" (कालसी)। अर्थात्—"अभिषिक्त होने के आठवें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंग को जीता। यहाँ से डेढ़-लाख आदमी बाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए, और उससे कई अधिक संख्या में मरे। अब कलिंग के विजित होने पर, (होने के पश्चात्) देवताओं के प्रिय ने भली प्रकार धर्म-विस्तार, धर्म से स्नेह और धर्म-कामना की।" (२५८ ई० पू०)।

इन दोनों शिलालेखों के कथन से हमें क्या मालूम होता है? गौण-शिलालेख, ब्रह्मगिरी में सम्राट् लिखते हैं कि—ढाई साल तक वे

उपासक रहे किन्तु लगभग एक साल से ऊपर हुआ कि वे अब खूब धर्म-कार्य कर रहे हैं। और यही अन्तिम भाव त्रयोदश लेख में स्पष्ट किया गया है। इस लेख में सम्राट् कहते हैं—"कलिङ्ग विजय करने के अनंतर उन्होंने खूब धर्म-कार्य किया" आदि। अर्थात् अब वे उपासक ही न थे, अपितु धर्म में पूर्ण रत हो चले थे। तथा गौण-शिलालेख लिखता है कि ढाई साल तक वे उपासक रहे, उन्होंने इस काल में कोई धर्म-कार्य न किया, किन्तु अब एक साल से ऊपर हुआ कि उन्होंने खूब पराक्रम किया है। इस संदर्भ से सर्वथा प्रकाशित होता है कि १३वें शिलालेख में जिस पराक्रम का आरम्भ हुआ, उसको ब्रह्मगिरी लेख के प्रकाशन के समय एक साल से अधिक समय व्यतीत हो चुका है तथा इसी समय उन्होंने संघ में भी प्रवेश किया है। फलतः गौण-शिलालेख ब्रह्मगिरी का प्रकाशन त्रयोदश शिलालेख के करीब दो वर्ष बाद होना चाहिये। अतः ब्रह्मगिरी-लेख अभिषिक्त होने के १०वें (दशवें वर्ष) वर्ष (२६० ई० पू०) प्रकाशित हुआ होगा, तथा इसी समय के लगभग उन्होंने संघ की भी यात्रा की। फलतः निर्धारित है कि अशोक, अभिषिक्त होने के १०वें वर्ष से पूर्णतया बौद्ध हो चले थे, इस समय उन्होंने संघ की यात्रा भी की (संघ में रहने लगे), और तन मन धन से धर्म के अर्थ पराक्रम किया। अतः सिद्ध है कि ३०वें वर्ष[1] (अभिषेक के) से २० साल पहले ही वे पूर्ण बौद्ध हो चुके थे। इस समय से अशोक ने इतना धर्म-कार्य किया, ऐसा पराक्रम दिखलाया कि सारे जम्बुद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं (धर्म) से परे थे, उनसे आ मिले। इसी से सम्राट् कहते हैं—"पराक्रम का ही यह परिणाम है।" (ब्रह्मगिरी—गौण-शिलालेख) तथा वे (अशोक) यह कहने में भी अब समर्थ थे कि "मैं (अशोक) ने लोगों की धर्म में इस प्रकार उन्नति की, जैसे पहले किसी ने न की थी।"

---

[1]यह धारणा कि सम्राट् ३०वें वर्ष (अभिषेक के) बौद्ध हुए थे—श्री जेम्स फ्लीट की है।

संयम उपायात् या उपायति से क्या तात्पर्य है ? मास्की में उपागत दिया है। समीक्षकों ने इसके दो अर्थ लिये हैं—प्रथम संघ में जाकर, और द्वितीय उपागतो = उपागनतव तिथो = वहाँ जाकर ठहरा, निवास किया। इससे मालूम होता है कि सम्राट् ने स्थायी भिक्षु जीवन ग्रहण न किया था। मालूम होता है कि इस समय उन्होंने केवल संघ की यात्रा की थी। इस यात्रा का गाथाओं ने भी उल्लेख किया है। गाथाओं एवं शिलालेखों से सर्वशः प्रकाशित होता है कि सम्राट् के धार्मिक जीवन की दो अवस्थायें हैं। एक उपासक के रूप में जब कि सम्राट् ने धर्म के प्रति कुछ कार्य न किया जैसा कि वे स्वयं कहते हैं "ढाई साल से अधिक हुआ कि मैं उपासक रहा, इस समय मैंने कोई पराक्रम न किया।" (ब्रह्मगिरी)

किन्तु दूसरी अवस्था उनके पराक्रम की है, जब उन्होंने धर्म के लिये भली प्रकार कार्य किया। सम्राट् स्वयं कहते हैं—"एक साल से अधिक हुआ, मैंने संघ की यात्रा की, तब से मैंने खूब पराक्रम किया। इस समय जम्बुद्वीप के लोग, जो अब तक देवताओं से अलग थे, देवताओं से मिलाये गये। पराक्रम का ही यह फल है।"

पहली अवस्था में सम्राट् ने बहुत कम उपक्रम किया, इसका उल्लेख महावंश भी करता है। महावंश, प्रकरण ५ लिखता है, "अशोक का पिता ब्राह्मण-धर्मानुयायी था। वह प्रति दिवस साठ हजार ब्राह्मणों को दान देता था। अशोक ने भी तीन साल तक इसी प्रकार ब्राह्मणों को दान दिया।" इसके अनंतर इसी समय अशोक निगरोध के प्रभाव से बौद्ध-धर्म की ओर बढ़ा। निगरोध ने उसे पराक्रम का सिद्धान्त बतलाया। इसके अनंतर दिन-दिन भिक्षुओं की संख्या को बढ़ाते हुए सम्राट् साठ हजार भिक्षुओं (बौद्ध-धर्मियों) को दान देने लगे, जैसे कि वे पहले ब्राह्मणों को दिया करते थे। साठ हजार विधर्मियों को निकाल कर उसने अपने प्रासाद में नित्य साठ हजार भिक्षुओं को भोजन प्रदान किया। सम्राट् की अभिलाषा थी की साठ हजार बौद्ध-

भिक्षुओं का प्रासाद में किसी अवसर पर भली प्रकार उनका आराधन किया जाय। इस हेतु बहुमूल्य भोजन और पानीय तैयार करवा कर संघ में गया (गत्वा संघम्), भिक्षुओं को आमंत्रित किया, उन्हें प्रासाद में लिवा लाया, उन्हें जिमाया, और उन्हें बहुत प्रकार से दान दिया। इसके पश्चात् उसने इस प्रकार प्रश्न किया—"स्वर्गीय भगवान् तथागत का क्या सिद्धांत है?" इस पर थीरो तिस्स (मोगाली का पुत्र) ने राजा को समझाया। यह सुन कर कि धर्म के चौरासी हज़ार खंड हैं, सम्राट् ने उच्चारा, "मैं प्रत्येक के लिये एक विहार समर्पण करूँगा।" इसी समय अशोक के अभिषेक के चौथे साल महाधम्मरक्षितो द्वारा अशोक का सहोदर भाई उपराज तिस्स ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। महावंश लिखता है, "प्रसिद्ध अग्निब्रह्मा अशोक की पुत्री संघमित्रा का स्वामी, और सम्राट् का जामात था। सम्राट् की आज्ञानुसार संघमित्रा और उसका पुत्र सुमन इसी समय, जिस समय उपराज तिस्स ने धर्म ग्रहण किया बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। यह सब कार्य अशोक के अभिषेक के चौथे साल हुए थे।" (महावंश, प्रकरण ५)।

फलतः अशोक के धार्मिक जीवन की दो अवस्थायें मालूम होती हैं, प्रथम अवस्था में उन्होंने निगरोध से बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली और उपासक बने रहे। किन्तु संघ में जाने पर (संघं गत्वा) वे भली प्रकार धर्म का विस्तार करने लगे। इसी समय अपने पराक्रम से उन्होंने विहार-स्तूपों का निर्माण कार्य किया। धर्म का कार्य बड़े उत्साह और उपक्रम के साथ-आरम्भ हुआ। महावंश लिखता है—"बुद्ध के कारण बहुत प्रकार के दान वितरण से, विभिन्न नगरों में, स्तूपों के सम्मानार्थ अनेक प्रकार के उत्सव नित्य मनाये जाने लगे।" इसी पराक्रम के फल-स्वरूप राज्याभिषेक के चतुर्थ वर्ष में उन्हीं ने अपने नाती और सुपुत्री संघमित्रा को बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण करवाई। यह अवस्था उनके जीवन की दूसरी अवस्था अथवा पराक्रम की अवस्था है।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने की है—सम्राट् की पहली अवस्था को वस्तुतः धर्म के निर्व्यापार अथवा अलसता की न लेनी चाहिये, क्योंकि पहले तीन वर्ष तक वे अपने पिता की तरह ब्राह्मण-धर्म के थे। किन्तु जब से सम्राट् निगरोध के प्रभाव से बौद्ध हुए तभी से वे धर्म के लिये कार्य करते गये। अतः यदि हम अशोक के धार्मिक जीवन की दो अवस्थायें मानें तो कम से कम यह ख़याल रहना चाहिये कि उनकी कोई भी अवस्था आलस्य अथवा निर्व्यापार की न थी। सम्राट् का जीवन पूर्णतया धर्म-कार्यों से आक्रांत रहा है।

उत्तरी गाथाओं में अशोक के जीवन की अवस्थाओं का भिन्न प्रकार से वर्णन दिया गया है। दिव्यावदान के अनुसार भिक्षु बालपण-दित्य के प्रभाव से अशोक बौद्ध-धर्म की ओर अग्रसर हुआ। बालपण-दित्य को समुद्र भी लिखा है। दूसरी अवस्था में उसने उपगुप्त को अपना गुरु बनाया तथा उपगुप्त के साथ बौद्ध-तीर्थों की यात्रा की। दिव्यावदान के अनुसार प्रथम अवस्था में ही सम्राट् ने, "ऋषि", बुद्ध और संघ की शरण ग्रहण कर, धर्म के पराक्रम के लिये बच्चे, घर, स्त्री और ऐश्वर्य तक का त्याग करने को उद्यत हो चले।

संयम उपागत और उपेति या गत्वा का अर्थ बहुत से विद्वानों ने इस उद्देश्य में लिया है कि सम्राट् एक साल तक संघ-यात्रा करते रहे। डाक्टर बी० एम० बरुआ के अनुसार 'संघम् उपागत या उपेति' (गत्वा) का अर्थ "संघम् शरणं गत्वा" आदि का संक्षिप्त रूप है। श्री भंडारकर के अनुसार इसका अर्थ है कि सम्राट् एक साल से अधिक संघ में ही रहे। किन्तु मेरी सम्मति में सम्राट् ने इस समय केवल संघ की यात्रा की थी। इस यात्रा का उद्देश्य महावंश के पाँचवें प्रकरण में भिक्षुओं को सम्मान-पूर्वक प्रासाद में लिवा लाना था, तथा 'एक साल से अधिक' संघ-यात्रा करने की तीथि का निर्देशक है अर्थात् २५८ या २५६ ई० पू० में यह संघ-यात्रा सम्राट् ने की थी। अतः एक साल से

अधिक संघम् उपागत का अर्थ होगा "२५८—२५६ ई० पू० में संघ की यात्रा को गया।"

यद्यपि अशोक धर्म के कार्यों में कभी निर्व्यापार न रहे, किन्तु उनके ज्वलित धार्मिक जीवन अथवा धर्म-पराक्रम का आरंभ राज्याभिषेक के दशवें वर्ष से है। जब वे कहते हैं, "विगत समय में देवानांप्रिय राजा लोग विहारयात्रा के लिये निकलते थे। इस विहारयात्रा में आखेट तथा ऐसे ही दूसरे प्रकार के मनोरंजन हुआ करते थे। किन्तु अभिषिक्त होने के दशवें वर्ष सम्बोधि को निकला अथवा बुद्ध-गया की यात्रा की तब से यह धर्मयात्रा प्रारंभ हुई। इस धर्मयात्रा में ये बातें होती हैं—ब्राह्मणों और श्रमणों का दर्शन तथा उन्हें दान, जनपद के लोगों का दर्शन, उन्हें धर्म की शिक्षा और यदि उचित समझा जाय तो धर्म-विषय पर जिज्ञासा करना।" इस विवरण से सर्वथा विदित है कि सम्राट् अभिषिक्त होने के दशवें वर्ष तक अथवा उससे पहले धर्म का यथेष्ट विचार न करते थे। इस समय तक वे आखेट आदि मनोविलास में पूर्वकालीन राजाओं की भांति लिप्त रहते थे। परन्तु जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट कर चुके हैं, इसी समय अथवा २६० ई० पू० के लगभग उन्होंने संघ में प्रवेश किया था तथा यही समय उनके पराक्रम का है। फलतः २६० ई० पू० से उनका पूर्ण पराक्रम आरंभ होता है। इसी समय उन्होंने बुद्ध-गया की यात्रा भी की थी। अब उन्हें धर्म की पूर्ण चिंता हुई और उन्होंने विहारयात्रा को भी बन्द करवा दिया, क्योंकि आखेट आदि हिंसात्मक एवं धर्माचरण के विरुद्ध थे। इन विहारयात्राओं का स्थान अब धर्मयात्रा द्वारा आक्रांत हुआ और सम्राट् प्रत्येक बात धर्म के अनुसार करने लगे। प्रजा को धर्म-सिद्धान्तों की शिक्षा देना भी इसी समय से आरंभ हुआ, अतः धर्म-प्रचार तथा उत्कर्ष के लिये सम्राट् ने अब कुछ उठा न रखा, वे हर एक प्रकार से धर्म की अभिवृद्धि का प्रयत्न करने लगे। यही उनके पूर्ण पराक्रम करने का तात्पर्य है। क्योंकि २६० ई० पू० के उपरान्त जो कुछ कार्य

सम्राट् ने किया वह धर्म के लिये, धर्म के कारण और उसको उत्कर्ष के अर्थ। सम्राट् के इस बढ़ते हुए धर्म-पराक्रम का महावंश भी निर्देश करता है—"राजा (अशोक) को पूछने पर मालूम हुआ कि अद्वितीय महाकोला नागराज कपो ने चार बुद्धों के दर्शन किये हैं। सम्राट् ने इस नागराज को लाने के लिये एक सोने की शृङ्खला भेजी। नागराज के आने पर उसे सम्मान-पूर्वक बिठलाया गया। उसके ऊपर बहुत से फूल बिखेरे गये। १६ हजार महल की दासियाँ (स्त्रियाँ) उसे घेरे हुए थीं। तत्पश्चात् राजा ने नागराज से इस प्रकार प्रश्न किया—"प्रिय, मुझको सिद्धान्त-चक्रवर्ती भगवान् तथागत के दर्शन दिखलाओ।" नागराज ने अपनी शक्ति द्वारा बुद्ध की एक अत्यन्त आकर्षक प्रतिकृति दिखलाई। यह मूर्ति पवित्रता एवं यश की आभा से देदीप्त थी। इस दृश्य को देख कर राजा आश्चर्यान्वित हो उठा। प्रसन्न हो उसने कई उपहार भेंट किये। राजा ने कहा, "इस नागराज से निर्मित मूर्ति ही इतनी भव्य है, तो कल्याणमय भगवान् का अपना रूप स्वयं कैसा विशाल न होगा ?" यह विचारते हुए उसका हर्ष बढ़ता गया। इसके उपरान्त महान् अशोक ने ७ दिवस तक उत्सव मनाया। इन सातों दिन बुद्ध की प्रतिकृति के दर्शन हुआ करते थे। यह बात धर्म के आचार्यों जिन्होंने धर्म की दूसरी महासभा की थी, को मालूम था कि अशोक अद्वितीय होंगे तथा महान् धर्मी होंगे और मोगाली का पुत्र थीरो होगा।" यह उपरोक्त घटना, सम्राट् के संघ-प्रवेश के बाद की है अर्थात् २६० ई० पू० में ही यह घटित हुई थी। फलतः २६० ई० पू० से ही अशोक पूर्णतया पराक्रम करने लगे। यह सम्राट् के धार्मिक जीवन की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में सम्राट् का धर्म-विकास उत्तरोत्तर बढ़ता गया, वे धर्म के कार्य में पूर्ण रूप से रत हुए। इस समय के पश्चात् वे ऐसे ही धर्म-कार्य, धर्मयात्रा आदि में अपने दिन बिताने लगे। रुमिनिंदी स्तंभ-लेख से प्रथमतः प्रकाशित है कि सम्राट् ने एक और यात्रा अभिषेक के

बीसवें वर्ष की थी। इस यात्रा में सम्राट् अपने आचार्य उपगुप्त के साथ लुम्बिनी बन को गये थे, यह हम पहले ही कह आये हैं। इस लुम्बिनी गाँव वालों पर से इसी समय धर्म-कर भी हटा दिया गया था। इस 'धर्म-कर' के उल्लेख से विदित होता है कि यह लुम्बिनी बन शाक्यमुनि गौतम के जन्म-स्थान होने के कारण धार्मिक तीर्थ-स्थान हो चला था तथा आजकल की रीत्यानुसार इस धार्मिक स्थान पर कुछ धर्म-कर देना पड़ता था, किन्तु अशोक के मतानुसार यह प्रथा आदरणीय न थी। वे यह ठीक न समझते थे कि भगवान् का दर्शन पैसों से बिकाया जाय, अतः उन्होंने लुम्बिनी बन पर से धर्म-कर उठा दिया।

निगलिव स्तंभ-लेख लिखता है, "अभिषिक्त होने के चौदहवें वर्ष देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने बुद्ध-कोनकामन के स्तूप को दूना किया और अभिषिक्त होने के बीसवें वर्ष स्वतः और पूजा करके सम्मानार्थ एक शिला-स्तम्भ स्थापित किया।"

लुम्बिनी बन की यात्रा सम्राट् ने अभिषिक्त होने के बीसवें वर्ष की थी, जब कि बुद्ध कोनकामन की यात्रा चौदहवें वर्ष की, अर्थात् निगलिव के छः वर्ष पश्चात् सम्राट् लुम्बिनी गये थे। इस पर कोई पूछ सकता है कि तथागत भगवान् शाक्यमुनि के जन्म-स्थान की यात्रा इतने वर्ष (६वर्ष) पश्चात् क्यों की? क्या सम्राट् उसे अधिक महत्त्व का न समझते थे? किन्तु ऐसा न सोचना चाहिये। सम्राट् की भगवान् के प्रति वही श्रद्धा तथा भक्ति थी जो गौतम के किसी अनन्य भक्त में हो सकती है। किन्तु इसका कारण आध्यात्मिक है। निगलिव से भी चार वर्ष पहले वे बुद्ध-गया की यात्रा कर चुके थे। सबसे प्रथमतः बुद्ध-गया की यात्रा करने में आध्यात्मिक भाव है। शाक्यमुनि गौतम को जो दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति हुई, वह इस बुद्ध-गया में वट-वृक्ष के नीचे ही हुई थी और शाक्यमुनि यथार्थ में इसी समय से बुद्ध हुए तथा ईश्वर के अवतार माने जाने लगे। किन्तु ज्ञान-प्राप्ति से

पहले वे केवल सिद्धार्थ थे। वे तब बौद्ध न हुए थे। अतः बुद्ध-गया आध्यात्मिक हेतु के कारण अधिक महत्त्व का स्थान है। यही कारण था कि सम्राट् ने प्रथम बुद्ध-भगवान् के दर्शन करना ही उचित समझा। तत्पश्चात् उन्होंने गौतम-बुद्ध के प्रथम रूप (बौद्ध धर्मानुसार २४ बुद्ध हुए हैं, कोनकामन बुद्ध, गौतम बुद्ध से पहले तीसरे बुद्ध अथवा संख्या में अठारहवें बुद्ध हैं) का दर्शन किया और तदनंतर सिद्धार्थ के (जिनके पावन अन्तःकरण में भगवान् गौतम या बुद्ध का अंकुर धीरे-धीरे विकसित हो रहा था) जन्म-स्थान के दर्शन करने को लुम्बिनी गये।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से बुद्ध की प्रथम महत्ता है, क्योंकि बुद्ध होने पर ही सिद्धार्थ महाऋषि अथवा भगवान् तथागत कहलाये। जन्म के समय भगवान् केवल सिद्धार्थ थे। किन्तु सिद्धार्थ के हृदय में भगवान् का जो अंकुर पनप रहा था, वह अविरल तपस्या एवं वट-वृक्ष की छाया तले एक दिन पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हो चला। इस प्रस्फुटित गौतम की अहिंसा की ध्वनि स्वर्ग तक गूँज उठी—देवताओं ने भी बलि लेने से अस्वीकृति कर दी, सम्पूर्ण विश्व अहिंसा और कल्याण के गीतों से गूँज उठा, विश्व ने स्नेह और आश्चर्यान्वित नेत्रों से देखा सिद्धार्थ "गौतम" हो आये थे।

अतः सामासिक रूप में, सम्राट् अशोक अभिषिक्त होने के चतुर्थ या पाँचवें वर्ष अथवा २५४—५ ई० पू० में बौद्ध हुए। दो-ढाई वर्ष तक वे उपासक रहे (२५८-२५७), अर्थात् साधारण उपासकों की भाँति इस काल में उन्होंने कोई पराक्रम न किया। (ब्रह्मगिरी—गौण-शिलालेख) इसके अनंतर अभिषिक्त होने के १०वें वर्ष से वे पूर्ण रूप से बौद्ध हुए अर्थात् यह समय उनके पराक्रम का समय है। इस पराक्रम के काल से ही सम्बोधित, निगलिव, रुमिनिंदी की यात्रायें हुईं, संघ-गमन हुआ तथा धर्म का अत्यधिक प्रचार हुआ। इस समय से सम्राट् का धर्म-प्रेम, धर्म-कामना, तथा विस्तार खूब पराक्रम के

साथ होने लगा। (त्रयोदश शिलालेख, आठवाँ शिलालेख, गौण-शिलालेख ब्रह्मगिरी, तथा निगलिव स्तम्भ-लेख)। सम्राट् इस समय से इतने कर्मयुक्त थे तथा उन्होंने ऐसे ज्वलित उत्साह के साथ पराक्रम किया कि सम्पूर्ण भारत में तथा पाश्चात्य प्रदेशों तक एक बार गौतम के अहिंसा के तार झंकार उठे। (त्रयोदश शिलालेख) अपने पराक्रम पर स्वयं सम्राट् चकित थे। इस पराक्रम अथवा धर्म-प्रचार का अगले प्रकरण में वर्णन किया जायेगा। इस प्रकरण में हमें केवल यह दिखाना है कि सम्राट् बौद्ध थे। तथा यहाँ पर केवल उन लेखों का उल्लेख करना है, जो सम्राट् के बौद्ध-धर्मी होने के प्रमाण रूप हैं।

बौद्ध-लेख-प्रमाण (Buddhist records)—भाबरु या द्वितीय बैराट आज्ञा-पत्र (लेख)—यह लेख जयपुर-स्टेट के उत्तरी भाग में, बैराट की एक पहाड़ी पर स्थित विहार में पाया गया है। यह लेख संघ को राजाज्ञा के रूप में है। मगध संघ को अभिभाषण करते हुए सम्राट् कहते हैं, "भद्रगण, आप लोगों को विदित है कि बुद्ध, धर्म, और सङ्घ के प्रति, मेरी कितनी श्रद्धा-भक्ति और प्रीति है। प्रत्येक बातें, भद्रगण, जो महाभाग बुद्ध के मुख से उच्चारित हुई हैं, वे सब अक्षरशः सत्य और शिव है। और निःसंदेह, भद्रगण, जहाँ तक मैं अनागत का निरूपण कर सकता हूँ, मुझे विश्वास रखना चाहिये कि सत्य-धर्म चिरस्थापित होगा।"

इसके अनन्तर यह आज्ञा-पत्र कुछ बौद्ध-ग्रंथों का नाम देता है। इन्हीं बौद्ध पुस्तकों का नित्य अध्ययन करने के लिये सम्राट् भिक्षु तथा भिक्षुणियों को आज्ञा देते हैं। सम्राट् की अभिलाषा थी कि इन बौद्ध-धार्मिक ग्रन्थों का सूक्ष्मता से अध्ययन कर, भिक्षु और भिक्षुणी कंठाग्र कर लें तथा साधारण लोग अथवा उपासक भी उनका अध्ययन करें; जिससे धर्म की उन्नति हो। सम्राट् की निर्देश की हुई पुस्तकें नीचे दी जाती हैं[1]—

---

[1] भाबरु या बैराट शिलालेख—नं० २

(१) विनय-सामुकी (Vinya-Samukase)
(२) आर्य-वंश (Aliya Vasani = Arya Vansa)
(३) अनागत-भयानि (Anagat-Bhayani)
(४) मुनिगाथा—मुनि सुत्त (Muni-Gatha = Muni-Sutta)
(५) नालक-सुत्त (Mauneya-Sute = Nalaka-Sutta)
(६) रथविनीत-सुत्त (Upatisa-pasine = Ratha Vinita-Sutta)
(७) लाहुलोवाद = राहुलवाद-सुत्त (Lahulovada = Rahulavada-Sutta)

प्रथम पुस्तक विनय-सामुकी को ए० जी० ऐडमन्डस (A. G. Edmundus) ने समुक्कमिसिक-धम्मदेसना (Samukka-misika-Dhammadesana) के साथ मिलाया है। इसमें उन चार सत्य सिद्धांतों की व्याख्या दी गई है, जिनको भगवान् गौतम ने सर्वप्रथम सारनाथ में अपने शिष्यों से कहा था। संभव है कि सम्राट् को इसका विचार मस्तिष्क में बना रहा हो, अतः इसे उन्होंने भिक्षुओं-भिक्षुणियों के लिये निर्देश किया। (J. R. A. S. 1913, p. 387)।

"धर्म के इन प्रकरणों का, भद्रगण, मेरी अभिलाषा है कि भद्र भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ अत्यधिक संख्या में श्रवण करें और मनन करें, तथा इसी प्रकार साधारण उपासक वर्ग, स्त्री और पुरुष सभी जन उनका अध्ययन और श्रवण करें। भद्रगण, इसी कारण से मैं इसे लिखा रहा हूँ, कि लोग मेरी अभिलाषा को समझें।"

श्री एस०एन० मित्रा (Sh. S. N. Mitra) इसे (Sappuri sasutta), मज्झिमा (Majjhima, iii, pp. 37-45) से समीकृत किया है। डाक्टर बरुआ (Dr. B. M. Barua) इसे सिगालोवाद सुतान्त से मिलाते हैं, (दीघ निकाया, iii,

१८०–१६४), उनका कहना है कि बुद्ध-घोष की समीक्षा के अनुसार यह पुस्तक गृहस्थियों के लिये है, जहाँ इसके लिये "गीहिविनय" कहा गया है। गृहस्थियों के अलावा इस पुस्तक का भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिये भी निर्देश किया गया है। सुतान्त में अरियासा विनय अर्थात् विनय-समुकसा का भी उल्लेख है।[1] श्री भण्डारकर ने विनय-सामुकी को तुभाटका-सुत्त से मिलाया है। बुद्ध-घोष ने, विशुद्ध-मागा (Visuddhimagga) में, भिक्षु-संपर्किन् एक सुन्दर-सी कहानी दी है, तात्पर्यार्थ, एक भिक्षु ने तीन महीने तक अपनी माँ के घर में भोजन किया किन्तु यह कभी प्रकट न होने दिया कि "मैं तुम्हारा लड़का हूँ, और तुम मेरी माँ हो।" कथा का अभिप्राय यही है कि एक निर्व्याज शुद्धमति भिक्षु के लिये माता-पिता का स्नेह, मोह अथवा ममता कोई अड़चन तथा बन्धन की वस्तु न थी। इस आशय का उपदेश भगवान् गौतम ने,—रथ-विनीत-सुत्त, नालक-सुत्त, तुभाटका-सुत्त, और महाअरियावंश में किया है। इन्हीं चार सुत्तों में, से तुभाटका सुत्त श्री भण्डारकर ने विनय-सामुकी से समीकृत किया है। इस प्रकार विनय-सामुकी पर बहुत से मत हैं, अतः यह सर्वथा निर्धारित नहीं किया जा सकता कि किसकी सम्मति अधिक उपयुक्त है; मेरी सम्मति में डाक्टर बरुआ और डाक्टर भण्डारकर का मत कुछ सन्तोषजनक मालूम पड़ता है। इन दो में से भी अधिक ग्रहणीय श्री बरुआ का "समीकरण" (Identification) विदित होता है।

पूर्वनिर्दिष्ट बौद्ध-धार्मिक ग्रन्थों का दूसरा नाम धर्म-परियाया भी है। तथा सुत्त जिनमें भगवान् ने उपदेश दिया है बहुत से हैं, किन्तु उनमें से प्रमुख चार ही हैं, "रथविनीत-सुत्त, नालक-सुत्त, तुभाटका सुत्त और महाअरियावंश।" बहुत से विद्वद्गणों की धारणा है कि

[1] J. R. A. S., 1915, p. 809.

सम्राट् अशोक के उल्लेखित, अलिया-वंसानी, मोनिया-सुत्त, और उपतिस-पाषिनी, ये सब अर्थात् तीनों, महाअरियावंश, नालक-सुत्त और रथ-विनीत के सानुरूप हैं।

पूर्वनिर्दिष्ट धार्मिक ग्रंथों अथवा धर्म-परियायों का एक दूसरे से समीकृत अथवा मिलाया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सम्राट् अशोक के समय, एक पुस्तक कम से कम दो नामों से प्रचलित थी। अलिया-वंशानी का दूसरा नाम महाअरियावन्श, मोनिया-सुत्त का नालक-सुत्त, और उपतिस-पाषिनी का रथविनीत आदि था।

एक विषय यहाँ पर और विचारणीय है। सम्राट् ने धर्म-परियायों के साथ बौद्ध "त्रिपिटक" का नाम नहीं दिया। इस कारण बहुत से विद्वद्गण यह सोच सकते हैं कि उस समय "त्रिपिटक" वर्तमान न थे। किन्तु यह धारणा सत्य से दूरस्थ ही नहीं, अपितु सर्वथा मिथ्या कल्पना होगी। सम्राट् का आशय, यहाँ पर कुछ चुने हुए शुद्ध विमल उपदेशों का भिक्षु-भिक्षुणी तथा साधारण लोगों में प्रचार करने से था। तथा संभवतया सम्राट् को उपरोक्त पुस्तकें अधिक पसन्द थीं। हम ऊपर कह आये हैं कि वे सुत्त जिनमें भगवान् ने उपदेश किया है बहुत से हैं, किन्तु प्रमुख चार ही हैं—रथविनीत, तुभाटका, नालक, और महाअरियावन्श, और जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट हुआ है इन्हीं चार को, सम्राट् ने भी भिक्षु-भिक्षुणियों के लिये, भाबरु-लेख में पढ़ने का आदेश किया है। अतः इन्हें छाँटने का आशय, प्रत्यक्ष सिद्ध है कि ये सर्वसुन्दर तथा सरल एवं सर्वोपयोगी थे। फलतः कह सकते हैं कि सम्राट् धर्म के सारभूत सिद्धान्तों के परम उपासक और अनन्य भक्त थे, तथा बौद्ध-धर्म के आध्यात्मिकी एवं विधि-पद्धति की ओर उनके मस्तक का झुकाव कम था।[1] सम्राट् ने जहाँ कहीं

---

[1] शिलालेखों को पढ़ कर कोई यह नहीं कह सकता कि सम्राट् सारभूत सिद्धान्तों के उपासक न थे, धर्म का जहाँ कहीं भी उल्लेख आया है, सब सिद्धान्त रूप में। "सार" उनका प्रिय शब्द है।

भी धर्म, धर्म-दान, धर्म-वितरण, धर्म-मङ्गल, धर्म-अनुराग, धर्म-यात्रा आदि का उल्लेख किया है, उन सब स्थलों पर उनका अभिप्राय सिद्धान्तों के प्रचार से रहा है, उनके विभिन्न प्रकार के धर्म अथवा कर्म से केवल तात्पर्य—माता-पिता की सेवा, दासों और नौकरों से उचित व्यवहार, सर्वमङ्गल, सर्वकल्याण-कामना, मित्र-परिचितों की सेवा, ब्राह्मण, श्रमण, साधुओं आदि को दान, दया, धर्म आदि भावों से है। सम्राट् के दृष्टिकोण से यही सत्य धर्म है, और ये भाव केवल सिद्धान्त मात्र हैं। अतः सम्राट् को सत्य, शिव और सुन्दर नियोगों अथवा सिद्धान्तों का भक्त एवं उपासक कहना, सत्य का पक्ष लेना है। फलतः सम्राट् से निर्दिष्ट पुस्तकें उनके भावों के अनुकूल हैं। परीक्षण के लिए अलिया-वन्श को ही लीजिए। इस पुस्तक में (धर्म-परियाया में) भिक्षुओं के लिये चार प्रकार के आचरणों का निर्देश किया गया है। प्रथम, भिक्षुओं को साधारण वस्त्र ग्रहण करना चाहिये (अर्थात् उन्हें दिखलावे तथा शौक से अलग रहना चाहिये)। द्वितीय, उन्हें सात्विक भोजन ग्रहण करना उत्तम कहा है, (मनःशुद्धि एवं सात्विक वृत्तियों के उत्कर्ष हेतु साधारण शुद्ध और विमल भोजन शास्त्रों में परम आवश्यक माना गया है)।

तृतीय, विनम्र-गृह (विनम्रता नीति में सर्वसुन्दर लक्षण माना गया है, नम्रता का सभी शास्त्रों तथा आचरण के आचार्यों ने अभिनन्दन किया है), और अन्तिम अर्थात् चतुर्थ लक्षण—"आत्मा की एकाग्रता" है अर्थात् मन को वश में रख कर एकचित्त हो भगवान् का ध्यान करना, (जब तक मन वश में न हो सके, चित्त में एकाग्रता न हो, विश्व-बन्धनों से मुक्ति पाना सर्वथा असाध्य है)। इस पुस्तक का अभिप्राय भिक्षुओं के चरित्र का इन सद्-सिद्धान्तों पर निर्माण करना है। मुनिगाथा तथा मोनिया-सुत्त में भी ऐसे ही सुन्दर नियोगों का उपदेश दिया गया है। अतः सम्राट् ने किसी ऐसी पुस्तक का निर्देश नहीं किया जो केवल धर्म के बाह्य अथवा पूर्ण आध्यात्मिक

पक्ष से सम्बन्ध रखती हो। किन्तु उन्हीं धर्म-परियायों के अध्ययन का आदेश किया जो एक भिक्षु के जीवन को शुद्ध, सात्विक और पूर्णतया मानवी बनाने में समर्थ हो सकें। सम्राट् बाह्य दिखलावे को बिलकुल ही अच्छा न समझते थे। उनका सिद्धान्त था—"किरतिम देव न पूजिए, ठेस लगे फुटि जाय। कहै मलुक सुभ आतमा चारों युग ठहराय[1]।"

आजकल के धर्म-भक्तों, उपासकों और पुजारियों की भाँति—सम्राट् बाहरी आडम्बर के विरोधक थे। वे आजकल के पराडों की तरह, धर्मान्ध भक्तों की तरह, धर्म तथा देवताओं को ठगना अच्छा न समझते थे। यह भाव निम्न पंक्तियों में सर्वशः अंकित है—"लाडु, लावरण, लापसी, पूजा चढ़ै अपार। पुजि पुजारा ले गया, मुरति के मुख छार॥" बाह्य आडम्बर से परे सम्राट् अपने मनोभावों एवं चारित्रिक सिद्धान्तों के अनन्य भक्त थे, वे इस विषय को समझने में असमर्थ थे कि मनुष्य बिना अंतःकरण की शुद्धि एवं उज्ज्वल चरित्र के कैसे भगवान् को पा सकता है, उनके समक्ष सुकृत करना ही देवता की उपासना करनी थी। तथा सर्व-कल्याण करना धर्म करना था। सम्राट् उन्हीं कर्मों एवं सुकृतों को पूज्य समझते थे जिससे प्राणीमात्र का कल्याण हो। बहुत से देश, जाति, समाज और सद्-भावों के विरोधी, मूर्ति अथवा देवताओं के उपासकों को, वे नीची निगाह से देखते थे, उनका यह भाव निम्न उक्ति में चरितार्थ होता है, "धूजहिं पत्थर देवखटी लीपहिं, घर तजि घूर बुतावैं।" किन्तु सम्राट् के सम्मुख चाणक्य-नीति के अनुसार भावों अथवा सिद्धान्तों की उपासना प्रमुख उपासना थी—"न देवो विद्यते काष्टे न पाषाणे न मृण्मये। देवो हि विद्यते भावे तस्मात् भावो हि कारणम्।" (भाग VII, पृष्ठ १२) स्वयं परमात्मा उन राजकीय उपासकों का, जिनका जीवन

[1]"S. B. S." I. 104—(यह संदर्भ मैंने डाक्टर बड़थ्वाल की पुस्तक "The Nirguna Philosophy of Hindi Poetry" से लिया है)।

अत्याचार तथा गरीबों एवं प्राणीमात्र को दुःख देने में बीता है, कभी स्वागत नहीं करते, उनकी पूजा की भगवान् अवहेलना एवं तिरस्कार करते हैं, क्योंकि वह सद्भावना तथा कल्याण-कामना से अछूती एवं स्वार्थपूर्ण है। कोई राजा अथवा धनाढ्य या सांसारिक बड़े मनुष्य कहलाने वाले दान अथवा उपासना करते हैं, क्यों ? इसीलिये कि उन्हें दूसरे जन्म में भी इसी प्रकार ऐश्वर्य भोगने को मिलेगा, तथा गरीबों को उत्पीड़ित करने, एवं उनके आहार को भी हड़प करने की शक्ति मिलेगी, यही कारण था कि भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधन के षटरस भोजन और राजकीय व्यञ्जनों को ठुकरा कर, विदुर की विनीत कुटीर में आहार के लिये रुके रहे। इसी कारण गद्‌गद् हो कबीर गाते हैं—

"राजन कौन तुमारे आवै !

ऐसो भाव विदुर को देख्यो, बहु गरीब मोहि भावै।

हस्ति देखि भरम ते भूला, हरि भगवान न जाना ॥"

(कबीर ग्रंथावली)

सम्राट् ने भी इसी प्रकार कहा है कि राजकीय एवं विशिष्ट अथवा धनाढ्य कहलाने वाले लोगों और ग़रीब लोगों में से, ग़रीब लोग ही धर्म-पराक्रम कर सकते हैं, अमीर बड़े जन नहीं। (नवाँ प्रज्ञापन—चतुर्दश शिलालेख, कालसी)।

कबीर के शब्दों में सम्राट् का पावन सिद्धान्त था, "साधो एक आप जग माँही; दूजा करम भरम है किरतिम ज्यों दर्पण में छाँही।" सम्राट् को यह प्रिय न था कि "कर में तो माला फिरे, जीभ फिरे मुख माँही" अर्थात् पाखंड, मिथ्या बाहरी धर्म के अलंकारों को वे निष्प्रयोजन मानते थे। उनके अनुसार मन, वचन और कर्म से शुद्ध, सात्विकी और चारित्रिक होना ही धार्मिक होना एवं परमात्मा का अनन्य भक्त और उपासक होना था। उनकी उपासना प्राणीमात्र

(जीवमात्र) की उपासना थी, विश्व-कल्याण उनका मंत्र था, और आत्मिक शुद्धता ही तपस्या एवं धर्म-कर्म था।

अतः सम्राट् मनःशुद्धता एवं आत्मा का विकास प्रथमतः चाहते थे, तथा यह भिक्षु-भिक्षुणियों तक ही सीमित न था, अपितु साधारण जनता के लिये भी वे इन्हीं बातों के अभिलाषी थे। इसी लिये सम्राट् ने कहा था "कि इन धर्म-परियायों का अध्ययन और श्रवण भिक्षु तथा भिक्षुणी ही नहीं अपितु साधारण उपासक, पुरुष और स्त्री भी करें।" (भाबरू-बैराट शिलालेख नं० २)

दूसरा सुत्त जिसका सम्राट् ने निर्देश किया था वह "अनागत भयानि" है। इसमें अनागत = ना आगत, अर्थात् आने वाले भावी भयों और संताप का उल्लेख किया गया है। इन भयों, दुःखों से तात्पर्य उन बाधाओं और संतापों से है जो धर्म-कार्य एवं सुकृत करते हुए, धर्म-मार्ग में बाधा-रूप उपस्थित हो जाते हैं। किन्तु इन भयों और बाधाओं से वे ही लोग डरते हैं, जिनका हृदय शक्तिहीन हो, परन्तु जिनका हृदय दृढ़ है और मन वशीभूत है वे ऐसी सहस्रों बाधाओं को धूल-सी ठुकरा देते हैं! "ध्रुव" जिस समय तपस्या करते थे, तो ऐसी ही अनेक व्यथा, व्याधियाँ एवं भय, उनके सुकर्म में, विघ्न डालने का प्रयत्न किया करते थे। किन्तु ध्रुव का हृदय दृढ़ था, उनका मन, इन्द्रिय और वासना पर पूर्ण आधिपत्य था तथा उनकी स्थिति एवं एकाग्रता अटल थी, अतः सब विघ्न उनके सामने निरुपाय होकर रहे। अतः इस "अनागत भयानि" के अध्ययन करने से यही तात्पर्य था कि भिक्षु-गण अपने मन, इन्द्रिय और वासनाओं पर आधिपत्य रखें, तथा हृदय को दृढ़ीकृत करें, जिससे सुकर्म करते हुए, धर्म-पथ पर विघ्न रूप आ पड़ने वाली घटनाओं का उनपर कोई प्रभाव न पड़ सके। क्योंकि मनुष्य आध्यात्मिक पथ पर, मन, इन्द्रिय और हृदय की स्थिरता से ही, निर्भीक हो आगे पाँव बढ़ा सकता है। इस सुत्त में आने वाले सभी प्रकार के विघ्नों का विवरण दिया गया है,

जिसका आशय धर्म-मार्ग का अनुसरण करने वाले को, अनागत-भयों (अनागत-भयानि) से प्रथमतः सचेत करना है। जिससे धार्मिक जन इन विघ्नों के प्रति अपने को पहले ही दृढ़ीकृत कर लेवें।

मन-इन्द्रिय, वासना आदि को अधीकृत करने के लिये सम्राट् ने एक और पुस्तक राहुलोवाद के अध्ययन का आदेश किया है। राहुलोवाद-सुत्त में भगवान् गौतम ने आम्रपालि (अम्बालतिक) को मन तथा वासना पर निग्रह एवं अधिकार करने का उपदेश दिया है। कहते हैं आम्रपालि भगवान् पर आसक्त थी, इसी आसक्ति के कारण उसका मन विचलित था और वह वासनायुक्त हो चली थी।

फलतः सर्वलोक-हित के लिये, मानव चरित्र की उज्ज्वलता, विशिष्टता और दृढ़ता के हेतु ही सम्राट् ने इन उपरोक्त पुस्तकों का अध्ययन भिक्षु, भिक्षुणी तथा साधारण उपासक, एवं स्त्री और पुरुष सबके लिये उत्तम बतलाया है।

अशोक के प्रति दूसरा बौद्ध-लेख-प्रमाण—(Buddhist record) (२) सारनाथ-स्तम्भ—इसमें सम्राट् ने इस प्रकार अनुशासन दिया है—"संघ का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। जो कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघ को तोड़े, उसे सुफेद वस्त्र पहिनाये जायेंगे। तथा उसे विहार से अलग किसी दूसरे स्थान पर रहना पड़ेगा। यह अनुशासन संघ में भिक्षु और भिक्षुणियों को सुना दिया जाय।" संघ के लिये इस प्रकार नियम बनाना सम्राट् के पूर्ण बौद्ध होने का प्रमाण है। सम्राट् को बौद्ध-संघ का अत्यधिक विचार था, उनके समय तथा उससे प्रथम ही बौद्ध-संघ में विभिन्न मतों का प्रचार आरम्भ हो चुका था। ये मत-मतान्तर संघ की एकता के घातक थे। इसी कारण सम्राट् को सारनाथ-स्तम्भ-लेख प्रेषित करना पड़ा।

तीसरा बौद्ध-लेख-प्रमाण—साँची-स्तम्भ—यह लेख इस प्रकार कहता है, "जब तक मेरे पुत्र और परपौत्र शासन करें, जब तक चन्द्र

और सूर्य्य तपें, तब तक भिक्षु और भिक्षुणियों का संघ संयुक्त रहेगा। भिक्षु अथवा भिक्षुणी जो कोई संघ-विभेद करे, उसे सुफेद वस्त्र पहिनाये जायेंगे, तथा उसे विहार से अलग रहना होगा। मेरी अभिलाषा क्या है ? कि संघ एक मनोहर संयुक्त तथा चिरंजीवी हो।"

इसी भाँति कौसाम्बी-स्तम्भ-लेख कहता है[1]— "जो भिक्षु और भिक्षुणी संघ को तोड़ें, उन्हें सुफेद वस्त्र पहिनाने के पश्चात् विहार से अलग स्थान ढूँढ़ना होगा।"

ये धर्मानुशासन महामात्रों द्वारा संघ को भेजे गये थे, जिससे भिक्षु और भिक्षुणी इस बात को समझें और संघ के प्रति कोई विरुद्ध कार्य न करें। इन धर्मानुशासनों से सम्राट् का बौद्ध-धर्म के प्रति अत्यधिक प्रेम और श्री-कामना सर्वशः प्रकट होती है। सम्राट् बौद्ध-संघ के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान थे, उनकी उत्कट अभिलाषा यही थी कि बौद्ध-धर्म-संघ चिरञ्जीवी हो, उसके भीतर विभिन्न मत-मतान्तरों के वाद-विवाद उपस्थित न हों, हर प्रकार उसकी श्री-वृद्धि हो और संघ की महिमा अटल रहे ! अत: जिस मौर्य सम्राट् की संघ अथवा बौद्ध-धर्म के प्रति इतनी श्रद्धा एवं ज्वलित कल्याण की भावना थी, उसके अनन्य बौद्ध-धर्मावलम्बी होने में कोई सन्देह अथवा भ्रम करना भूल है।

सारनाथ स्तम्भ-लेख में सम्राट् ने यह भी निर्देश किया था कि भिक्षु और भिक्षुणियों के अनुशासन वाले लेख की एक प्रति विहार में गाड़ी जाय, तथा दूसरी ऐसी ही प्रति उपासकों, (साधारण लोगों) के लिये स्थापित की जाय जिससे उपासक लोग, प्रति उपवास के अवसर पर, इस लेख को पढ़ सकें। तथा प्रत्येक उपवास के दिन हर एक महामात्र इस लेख को पढ़ें और उसे पूर्णता से समझें। तथा

---

[1]देखिये—गौण-शिलालेख प्रथम, मास्की और रूपनाथ—इनमें अशोक अपने को "शाक्य"—बौद्ध-शाक्य कहता है (हुल्स)।

महामात्र अपने अधीनस्थ प्रान्तों में प्रत्येक जगह इसी प्रकार का आदेश भेजें। इसी तरह और जिले को भी अनुशासन भेजे जायँ।

सारनाथ स्तम्भ-लेख के इस अन्तिम आदेश से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट् संघ की ऐक्यता के रक्षणार्थ कितने व्यग्र थे। संघ के एकीकरण के हेतु ही सर्वत्र यही अनुशासन भेजा गया कि संघ तोड़ने वाले भिक्षु अथवा भिक्षुणी को सुफेद वस्त्र पहिना कर विहार से निकाल दिया जायेगा। सुफेद वस्त्र पहिनाने का तात्पर्य यही है कि अमुक भिक्षु या भिक्षुणी, जिसने संघ-भेद किया, धर्म के प्रतिकूल है। भिक्षुओं की धार्मिक पोशाक पीली मानी जाती है, अतः अधर्मी भिक्षुओं—संघ-भेद करने वाले भिक्षुओं—को धार्मिक पोशाक पहिनने का हक़ न था। इन अधर्मी भिक्षुओं को सुफेद वस्त्र ग्रहण करने पर विहार में भी नहीं रहने दिया जाता था। ऐसा करने से संघ को बहुत कुछ रक्षा होनी सम्भव थी। क्योंकि किसी भी उद्दण्ड भिक्षु या भिक्षुणी को उनके पद छीन जाने तथा विहार से बहिष्कृत किये जाने का डर, उन्हें संघ-विभेद करने से रोक सकता था। इस प्रकार संघ में अराजकता नहीं फैल सकती थी। किन्तु यदि इस पर भी नियमों का उल्लंघन कर कोई भिक्षु विहार से निकल जाय, और साधारण जनता में अपने नवीन मत का प्रचार करने लगे, तो किस प्रकार संघ-भेद की रक्षा की जायेगी? इसी विषय का विचार कर सम्राट् ने महामात्रों को, "संघ के नियमों वाले लेख" की एक-एक प्रति प्रत्येक जगह—कोट, नगर, जिले और साधारण वर्ग के लिये भी स्थापित करने का अनुशासन दिया था। जिससे साधारण जनता अथवा उपासक सम्राट् के नियोगों का ध्यान रखे। साधारण जनता के लिये प्रेषित शासन-पत्र, श्री भंडारकर के मतानुसार निगम-सभा अथवा अर्वाचीन टाउन-हाल में स्तम्भों पर आस्पद की जाती थी।[1]

---

[1]डाक्टर भण्डारकर, अशोक—पृष्ठ ९६

इस लेख में आये हुए महामात्र निःसन्देह धर्ममहामात्र ही थे, जिनका कार्य विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर मेल-जोल करना तथा सहिष्णुता एवं स्नेह का सम्बन्ध स्थापित करना था, अर्थात् ये पूर्व-निर्दिष्ट धर्ममहामात्र ही थे। इन्हीं महामात्रों को सङ्घ के एकीकरण, ऐक्यता एवं भेद से रक्षण करने का गुरुतर भार भी सौंपा गया था।

यहाँ पर एक और विचारणीय प्रश्न उठता है कि क्या सम्राट् के समय बौद्ध-सङ्घ-भेद होने लगा था? इस प्रश्न का उत्तर "हाँ" से ही दिया जा सकता है, नहीं तो सम्राट् ने सङ्घ-भेद के रक्षार्थ आज्ञायें क्यों प्रेषित कीं? अतः इन आज्ञाओं का प्रेषित होना निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता, किन्तु वे इस बात के प्रमाण-रूप हैं कि सम्राट् के समय कुछ मतभेद अवश्य हो आये थे और इन्हीं को रोकने का सम्राट् पूर्णतया उद्योग कर रहे थे। यह बात ठीक जान पड़ती है, क्योंकि बुद्ध के निर्वाण काल से कुछ काल उपरान्त ही सङ्घ में मतभेद होना आरम्भ हो चुका था और अशोक के समय तक आते-आते, सिंहल गाथाओं के अनुसार, निश्चित रूप से सङ्घ के दो भेद हो चुके थे—प्रथम थीरवाद (Theravada) और द्वितीय महासङ्घिका। इन दो भेदों को मिटाने के लिये पाटलिपुत्र में एक सभा भी हुई थी। इस सभा के सभापति स्वयं सम्राट् अशोक थे। अतः ये सङ्घ-भेद उत्तरोत्तर बढ़ते ही जा रहे थे। ये मतभेद सम्राट् को वांछित न थे। इन मतभेदों को सम्राट् सङ्घ-नाशक एवं धर्म की अस्थिरता के सूचक समझते थे, अतः इन भेदों का विनाश उनकी सम्मति में, सङ्घ एवं धर्म के हेतु अभीष्ट था, और इसी के अनुरूप सम्राट् ने कार्य भी किया, जैसा कि सारनाथ, साँची तथा कौसाम्बी स्तम्भ-लेखों से सर्वथा विदित है। सङ्घ-ऐक्यता एवं मतभेद अथवा सङ्घ-भेद निवारण के इस कार्य में सम्राट् यथेष्टतया सफलीकृत हुए। उनके पराक्रम के फलस्वरूप सङ्घ का मत-भेद जाता रहा और वह पुनः सङ्घठित हो चला, क्योंकि दूसरी बौद्ध-

सभा के समय, जो अशोक के शासनकाल में हुई, सङ्घ भेदरहित हो, सङ्घठित हो गया था। यद्यपि इस सभा के समय, कुछ भिक्षुओं ने आचार के दस सिद्धान्तों पर तर्क उठा कर, सङ्घ में भेद डालने का उपक्रम अवश्य किया था। किन्तु ये भिक्षु वाद-विवाद द्वारा हरा दिये गये और फलतः सङ्घ टूटने से बच गया। इस सन्दर्भ से यह अनुमान किया जा सकता है कि यद्यपि सम्राट् के समय उनके पराक्रम द्वारा सङ्घ पुनः सङ्घटित हो चला था, किन्तु फिर से मतभेद होने का भय उनके मस्तक को आक्रांत किये रहा, और इसी कारण उन्हें आज्ञाएँ प्रकाशित करनी पड़ीं, जिससे आने वाले दुस्तर भेदों से सङ्घ की रक्षा हो सके। तथा जिस कारण कोई भविष्य में सङ्घ-भेद करने का साहस न करे।

दूसरी प्रकार, ऐसा भी संभव हो सकता है कि सङ्घ में बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् अथवा अशोक के समय तक जो मतभेद हो आये थे, उनके विनाश करने का हेतु, सम्राट् द्वारा प्रकाशित आज्ञाएँ ही थीं। अतः कह सकते हैं कि उन्हीं पूर्वनिर्दिष्ट सङ्घ-भेदों (थीरवाद, महासङ्घिका) को मिटाने के लिये ही सम्राट् ने ये आज्ञायें निकाली थीं। और इन्हीं कठोर नियमों के कारण सङ्घ-भेद का नाश हुआ, तथा सङ्घ पुनः सङ्घटित हो सका।

इस स्थल पर कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि सम्राट् अशोक के समय, बौद्ध-सङ्घ कई विभागों में बँटा हुआ था, तथा सङ्घ से यहाँ पर अशोक का केवल उस सङ्घ से तात्पर्य है जिस (सङ्घ) से वे स्वयं सम्बन्धित थे। किन्तु यह प्रश्न निरर्थक ही समझिये, क्योंकि हमें प्रथमतः भली प्रकार विदित है कि जो अशोक, ब्राह्मण, आजीविक, निर्ग्रन्थ, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदायों के परस्पर मेल-जोल के अभिलाषी थे, तो क्या वे ही धार्मिक अशोक एक ही बौद्ध-धर्म में, सारे धर्म की अवहेलना कर, उसकी एक शाखा का पक्षपात मोल लेंगे?

फलतः सम्राट् का संघ से तात्पर्य केवल उसी संघ से न था, जिससे वे सम्बन्धित थे, अपितु पूर्ण-बौद्ध-संघ से था। जिसकी रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिये वे जीवन-पर्यन्त निरंतर उद्योग करते रहे।

बौद्ध-धर्म की तीसरी महासभा —बौद्ध-धर्म की तीन महासभायें हुई हैं। पहली सभा पाटिलपुत्र में हुई थी। इस सभा का अधिपति महाकस्सप था। दूसरी सभा वैषाली में हुई थी। इस सभा के अध्यक्ष स्वयं सम्राट् अशोक थे। तीसरी महासभा भी समाट् की अध्यक्षता में हुई थी। इसका कुछ निर्देश भाबरु लेख में भी दिया गया है। यह महासभा संघ में उठते हुए भेदों को मिटाने के लिये हुई थी। इस समय संघ में कई मत-भेद हो आये थे। तथा बुद्ध की शिक्षाओं का लोग विभिन्न अर्थ करने लगे थे, किन्तु इस महासभा ने बौद्ध-धर्म में उगे हुए मत-भेदों का नाश कर, उसको पुनः सुसंघटित किया। इस संगठन के फलस्वरूप बौद्ध-धर्म में नवीन जीवन का विकास हुआ, और वह नूतन स्फूर्ति के साथ बढ़ने लगा। धीरे-धीरे उसकी छाया विश्व-व्यापक हो चली और सारा विश्व गौतम के चरणों का अभिनन्दन करने लगा।

इस तृतीय महासभा का, महावंश निम्न उल्लेख देता है—"सम्राट् अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं को बुलाने के लिये दो यक्षों को भेजा। ये दोनों यक्ष सात दिन के भीतर जम्बुद्वीप के सब भिक्षुओं को लिवा लाये। सातवें दिन अशोक अपने बनाये हुए विशाल मन्दिर (अशोकाराम) में गये, और सब भिक्षुओं को वहाँ एकत्रित होने का निर्देश किया। अशोक स्वयं अपने गुरु थीरो तिस्स (उपगुप्त) के सहित सभा-मण्डप में आ विराजे। इसके पश्चात् उन्होंने मिथ्यावादी भिक्षुओं को अपने पास बुला कर प्रश्न किया—"कल्याण रूप भगवान् बुद्ध का क्या धर्म था?" प्रत्येक भिक्षुक ने अपने धर्म विचार के अनुसार

बुद्ध के धर्म की व्याख्या अथवा समीक्षा की। सम्राट् ने उन सब मिथ्यावादी भिक्षुकों को संघ से निकाल दिया। बहिष्कृत हुए इन सब भिक्षुओं की संख्या साठ हज़ार (६०,०००) थी। इसके अनन्तर सम्राट् ने धर्मनिष्ठ भिक्षुओं से पूछा; "कल्याणमय भगवान् का सिद्धांत क्या था?" उन्होंने उत्तर दिया, "सत्यता"। सम्राट् ने तब थीरो से पूछा, "आचार्य, क्या बुद्ध स्वयं 'विभज्जवादी' धर्म के थे? थीरो ने उत्तर दिया हाँ, सम्राट् यह सुन कर अत्यन्त हर्षित हो उठे। सम्राट् ने कहा, "पाप-भिक्षु निकाल दिये गये और संघ विमलीकृत हुआ। अब पुनः "उपोसथो" मनाया जा सकता है।" थीरो से यह उच्चारण करने के पश्चात्, तथा भिक्षुओं को राजकीय रक्षण प्रदान कर, अभिनन्दनीय सम्राट् राजनगरी को गये। संघ में फिर से ऐक्यता हुई और "उपोसथो" मनाया गया।

असंख्य भिक्षुओं में से, थीरो ने, एक हजार पवित्र चारित्रिक भिक्षुओं को, जो पूर्ण धार्मिक थे तथा जिन्हें त्रिपिटकों का पूर्ण ज्ञान था, सभा के लिये चुना। इनके द्वारा धर्म की महासभा हुई। इसके अध्यक्ष थीरो तिस्स थे।

यह धर्म-सभा उसी भाँति हुई, जैसी महाकस्सप और आचार्य यस्सो के समय में हुई थी। इस सभा-मन्दिर में आचार्य तिस्स ने अपने विचारों का प्रचार किया। फलतः सब विवाद और भ्रांतियों का निवारण हो गया।

इस प्रकार अशोक की अध्यक्षता में (रक्षा) में यह धर्म-सभा नवें मास समाप्त हुई।

अन्ततः थीरो तिस्स का "कथावत्थु" नामक ग्रंथ प्रमाण रूप में सबने अंगीकृत किया। इस प्रकार सम्राट् के शासन-काल के सत्रहवें

वर्ष (१७वें वर्ष) में धर्म की यह महासभा, ७२ वर्ष के बूढ़े आचार्य की अध्यक्षता में निपुणता के सथ सफलीकृत हुई।

धर्म की पुनःस्थापना के फलस्वरूप, सभा विसर्जन होते ही विशाल पृथ्वी काँपती हुई बोली "साधु" !"

(महावंश, प्रकरण पाँचवाँ, पृष्ठ ४६, टरनौर)।

पाँचवाँ प्रकरण

बौद्ध अशोक

जिस विश्व-विजियिनी मौर्य्य-साम्राज्य की अरुण पताका ने सम्पूर्ण भारत को आक्रांत करते हुए, अपने वीरघोष से विदेशी यवन जातियों को भी प्रकम्प्य कर दिया था, उसी पराक्रमी वंश की धर्म-विजयी स्वस्ति-पताका ने एक बार सम्पूर्ण संसार को कल्याण और स्नेह की छाया में सहलाया भी था। मौर्य्य धर्मघोष की मङ्गलमय वाणी ने धर्म की स्थापना कर, विश्व को मानवी क्रूरता और तांडवता से दूर हटा दिया। यह धर्म-विजय थी। यह सम्राट् अशोक के विश्व-कल्याण की पवित्र भावना का निर्मल स्रोत था, जिसने संसार के मालिन्य और कलंक को धोकर उसे पवित्री-कृत करना चाहा। यह कलिङ्ग का वही घनीभूत क्षोभ (अनुताप) था, जो धर्म के स्रोत में निश्चल गति से बहता हुआ, विश्व के सूर्योत्पल मार्ग को स्नेह से सींच गया। मानव-जाति के धर्म-इतिहास में सम्राट् का प्रमुख एवं सर्वोच्च स्थान है। अगले प्रकरण से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट् बौद्ध थे (गौण-शिलालेख प्रथम, मास्की—रूपनाथ, गौण स्तम्भ-लेख, सारनाथ, कौसाम्बी, साँची, और भाबरु शिलालेख—इनमें अशोक शाक्य, धर्मरक्षक, धर्मगुरु अथवा शिक्षक के रूप में दिखलाई देता है)।

अब इस प्रकरण में हम बौद्ध-धर्म की व्याख्या करने का प्रयत्न करेंगे। तथा इस विषय की समीक्षा करेंगे कि अशोक का धर्म कैसा था, क्या था, और इसके लिये उन्होंने क्या किया? यही विवेचक विषय इस प्रकरण का कलेवर होगा।

सम्राट् का धर्म से क्या तात्पर्य था? इस विषय में देखिए दूसरा स्तम्भ क्या लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार

कहता है—"धर्म अच्छा है, साधु है। किन्तु धर्म क्या है? पाप से अपने को बचाना (अपासनिव), सुकृतों का करना, दया, दान, सत्यता और शुद्धता।

"चक्षुदान भी मैंने बहुविधि किया है। चतुष्पदों, पक्षियों और पानी में रहने वाले जन्तुओं के लिये अन्त तक मैंने अनेक प्रकार से उन पर दया करने का अनुशासन दिया है। इसी प्रकार कई अनेक कल्याण कार्य मैंने किये हैं।

"इसी कारण यह धर्मलिपि लिखी गई कि लोग अनुसरण करें और यह चिरंजीवी हो। जो इस धर्मानुशासन पर आचरण करेगा वह सुकृत करेगा या सुखी रहेगा।" इस लेख से सर्वशः प्रकाशित है कि सम्राट् का धर्म किसी देवी-देवता से सम्बन्धित न था, अपितु वह मानव-चरित्र के सम्पर्कित था। उनकी दृष्टि में जिससे सर्वकल्याण हो, सबका मङ्गल हो, वही धर्म, साधु धर्म अथवा अच्छा धर्म है। सम्राट् की व्यञ्जन शैली का हम अभिनन्दन करते हैं, उनकी अर्थवत्ता किसी महाकवि से कम सराहनीय नहीं है। उनके प्रकाशन की परिमितता सर्वोपरि एवं प्रशंस्य है। धर्म के लिये "साधु" शब्द का प्रयोग कर उन्होंने इस छोटे से शब्द में सर्वागत भाव का समावेश किया है। इस शब्द के माध्यम से कोई भी विद्वान् उनके धर्म का लक्षण भली प्रकार विदित कर सकता है। साधु कौन है? सुनिए—

"सद्भावे साधु भावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥"

अतः इस साधु शब्द से अशोक के धर्म का लक्षण सुव्यक्त होता है। सत्यता या 'सत्य' ही अशोक का धर्म था। और वे ही लोग सम्राट् की दृष्टि में धर्मी अथवा साधु थे, जो सत्यवक्ता, सत्य-प्रेमी और पूर्ण सत्य हों। फलतः सम्राट् धर्म का प्रथम लक्षण "साधुता" मानते हैं, द्वितीय लक्षण "संयम" पाप-कृतों

से अपनी रक्षा करना या "अपासनिव" है। हमने बार-बार कहा है कि सम्राट् का धर्म सैद्धान्तिक है, वे मनुष्य के निज चरित्र पर नियंत्रण करने को ही बड़ा भारी धर्म-लक्षण मानते हैं। क्योंकि सम्राट् की दृष्टि में जब तक आदमी संयमित और नियंत्रित न होगा, उसका मन वशीकृत नहीं हो सकता और मन जब तक वश में नहीं है आदमी धार्मिक हो ही नहीं सकता। निर्गुण संत धरानी की उक्ति है, "जौ लौं मन तनु नहिं पकरै, तौ लौं कुमति किवार न टूटै, दया नहीं उभरै। काहे को तीरथ बरत भटकि भ्रम थकि थकि थहरै। मंडप महजित मुरति सुरति करि धोखहिं ध्यान धरै॥" अतः संयम (पाप अथवा कुमति से स्वरक्षा) को सम्राट् धर्म का प्रत्यक्ष लक्षण मानते थे, क्योंकि संयम से ही मनुष्य के सुकृतों—दया, दान—आदि का विकास संभव है। इन भावों के आधार पर यदि कहें कि सम्राट् निर्गुणवादी अथवा निर्गुण संत थे या निर्गुण स्कूल के प्रथम अथवा आद्य आचार्य या तत्त्ववेत्ता थे तो असत्य न होगा। सम्राट् के शिलालेखों का अध्ययन करने से मालूम होगा कि कहीं भी उन्होंने सगुण ब्रह्म का प्रचार नहीं किया है, किन्तु प्रत्येक स्थल पर भावों और सिद्धान्तों की उपासना को सर्वोच्च एवं धर्म का रूप माना है। शिलालेखों में कहीं भी बुद्ध की मूर्ति अथवा उनकी उपासना का उल्लेख नहीं मिलता और यदि सारनाथ, साँची, भाबरु अथवा कौसाम्बी में संघ या बुद्ध का उल्लेख है, तो वह भी सिद्धान्त रूप में किया गया है। भाबरु-लेख से सुव्यक्त है कि सम्राट् बुद्ध को मानते हैं, क्योंकि वे कहते हैं, "जो कुछ भी भद्रगण, भगवान् बुद्ध से भाषित हुआ वह सब भली प्रकार अथवा सुन्दरता से भाषित हुआ।" अतः सिद्धान्त प्रचारक या विशाल भावों के रूप में ही वे बुद्ध के उपासक या भक्त हैं। अतः बुद्ध की मूर्ति और उसकी उपासना से सर्वोपरि, बुद्ध के सिद्धान्त एवं सुभाषित भाव हैं। सुन्दर, सर्वमांगलिक, एवं कल्याणमयी भावनाओं में ही सम्राट्, भागवत, भगवान् बुद्ध, ब्रह्म

और धर्म की मूर्ति का साक्षात्कार करते हैं। उनके धर्म और भगवान् की उपासना बहुतेरे सगुण उपासकों की भाँति विचलित मन हुए बाह्य आडम्बरों में नहीं है, अपितु उनका धर्म निर्गुण सन्त कबीर के शब्दों में चरितार्थ होता है —"मूड़ मुड़ाये हरि मिलैं, सब कोई लेइ मुड़ाय। बारबार के मूँड़ते भेड़ न बैकुण्ठ जाय॥ केसन कहा बिगाड़िया, जो मूँड़ो सौ बार। मन को क्यों नहिं मूँड़िए, जामें भरे विकार॥" अतः सम्राट् का धर्म निर्गुण सन्तों की भाँति भावों की उपासना में निहित था। ब्रह्म अथवा धर्म को पाने का मार्ग इन्द्रिय अथवा मन की विजय है—बाह्य आडम्बर नहीं। महावन्श से विदित है कि सम्राट् ने वाह्य आडम्बर से पूर्ण, मिथ्यावादी भिक्षुओं को जिनकी संख्या साठ हजार (६०,०००) थी, संघ से निकाल बाहर किया था। क्योंकि सम्राट् को यह मालूम हुआ था कि वे बौद्ध-सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं।

फलतः सम्राट् के धर्म की व्याख्या—साधुता, संयम (मन-निग्रह) सुकृत, दया, दान, सत्यता, शुद्धता एवं विनम्रता के सिद्धान्तों में है।

धर्म के कुछ अन्य सिद्धान्त ब्रह्मगिरी गौण-शिलालेख द्वितीय में भी दिये गये हैं। यह लेख इस प्रकार कहता है—"देवताओं का प्रिय इस प्रकार कहता है, माता-पिता की उचित सेवा, और सर्वप्राणियों के प्रति आदर भाव, तथा सत्यता (सत्य-कहना) गुरुतर सिद्धान्त हैं। इन धर्म-गुणों की वृद्धि होनी चाहिये। इसी भाँति शिष्यों को गुरुओं का उचित आदर करना तथा सम्बन्धियों से उचित व्यवहार उत्तम है। यह पुराणों का आचार-सिद्धान्त है, इससे दीर्घ आयु होती है।" अतः इस लेख के अनुरूप माता, पिता, गुरु की सुश्रूषा, सम्बन्धियों तथा प्राणीमात्र से उचित व्यवहार, और सत्यता धर्म के अपेक्षित सिद्धांत या लक्षण हैं।

ग्यारवें शिलालेख में धर्म के निम्न लक्षण दिये गये हैं—"दास और भृत्यों, वेतनभोगी नौकरों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मण और श्रमण, साधुओं के प्रति उदारता, और प्राणियों में संयम, होम के लिये उनकी बलि न देना। पिता, पुत्र, भाई, बहिन, स्वामी, मित्र, साथी, और पड़ोसी तक को एक दूसरे से यह कहना चाहिये कि यह स्तुत्य है, इसे धर्म मानना चाहिये।"

फलतः ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदायों का आदर, मित्र, परिचित, सहायक, कुटुम्बी, दास तथा नौकरों से उचित व्यवहार, अहिंसा तथा माता-पिता की सेवा आदि धर्म के लक्षण दिये गये हैं। इन वृत्तों के अधार पर संक्षेप में सम्राट् का धर्म था—"सव भूतानां अछतिं च, सयमं च, समचेरं च, मादवं च—गुरुयंतो देवानां।" अर्थात् सर्वप्राणियों का कल्याण, संयम, समचर्या (सबसे समान आचारण), मंगल (हर्ष) ही देवताओं के प्रिय का गुरुमत अथवा श्रेष्ठ धर्म है।

इन धर्म के सिद्धान्तों तथा लक्षणों से सुव्यक्त है कि स्तम्भ-लेखों एवं शिलालेखों में प्रकाशित धर्म, कोई विशेष साम्प्रदायिक धर्म नहीं है। किन्तु यह धर्म जात-पाँत एवं साम्प्रदायिकता से सर्वथा भिन्न है। अतः इस धर्म को सिद्धान्तिक धर्म कहना किसी तरह अनुचित नहीं है। यह धर्म भावोन्मुख था। वह किसी धर्म के अथवा सम्प्रदाय या पाखण्ड के सम्पर्कित न था, अपितु वह सामासिक रूप में सब धर्मों का "सार" रूप था। सम्राट् कहते हैं, "पियो मञते यथाकिति सारवढो अस सव पासंडानं" देवताओं के प्रिय चाहते हैं कि सब धर्मों की सारवृद्धि हो (शिलालेख बारहवाँ)। फलतः इसी भाव से प्रेरित होकर सम्राट् धर्म के सार का ही प्रचार करने लगे जिससे सर्व-मङ्गल उपलब्ध हो सके। इस धर्म के दो रूप हैं—(१) व्यावहारिक (Positive) और निषेधात्मक (Negative)। (२) सिद्धान्तिक (Doctrinal)।

(१) व्यावहारिक धर्म, जिसका पावन सन्देश सम्राट् विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाना चाहते थे, जिसे वे सर्व प्रकार की जलवायु तथा विभिन्न प्रदेशों के अनुकूल बनाना चाहते थे, और जिसकी वे चिरंजीवी होने की आकांक्षा किये थे वह धर्म—आचरण, अथवा व्यवहारों की वह संहिता है जो जीवन के प्रत्येक अनुषङ्ग से संयुक्त है। इस आचरण-संहिता में निम्न धर्म के लक्षणों का उल्लेख है—

(१) सुश्रूषा—(सेवा)

(क) मातरि च पितरि च (सुश्रूषा) शिलालेख—३, ४, ६, १२, स्तम्भ-लेख ७वाँ)।

(ख) ब्राह्मण-समणानं—(ब्राह्मण और श्रमण की सेवा) शिलालेख—तीसरा।

(ग) व्रअनसुश्रुषु—(वृद्धों की सुश्रूषा) शिलालेख ४, स्तम्भ-लेख ७वाँ।

(घ) गुरुसुश्रूष—(गुरुजनों की सेवा) ७वाँ स्तम्भ-लेख और शिलालेख १३वाँ।

(ङ) अग्रमुटि सुश्रूष—(विशिष्ट वर्ग वा उच्च वेतन वालों की सेवा) शिलालेख १३वाँ।

(२) अपचिति—(पूजा)

(क) गुरु के प्रति शिष्यजनों की पूजा (शिलालेख ६वाँ गौण-शिलालेख दूसरा)।

(३) संमप्रटिपति—(उचित व्यवहार अथवा आदर)।

(क) ब्राह्मण तथा श्रमणों के प्रति—स्तम्भ-लेख ७वाँ शिलालेख ४।

(ख) नातिसु—(सम्बन्धियों के प्रति)—शिलालेख ४, १३ और गौण-शिलालेख द्वितीय।

(ग) दसभटकसि—(दास और भृत्यों के प्रति)—शिलालेख ६, ११, १३ और स्तम्भ-लेख ७वाँ ।

(घ) कृपण अथवा निर्बल और दुःखियों के प्रति—७वाँ स्तम्भ-लेख ।

(ङ) मित्र संस्तुत सहय ञतिक—मित्र, परिचित, सहायक तथा कुटुम्बियों के प्रति—(१३वाँ शिलालेख) ।

(४) दानं (दान देना)

(क) ब्राह्मण श्रमणनां साधु—ब्राह्मण, श्रमण और साधुओं को दान—(शिलालेख ११, ६, ३, और ८वाँ स्तम्भ लेख) ।

(ख) मित्रसंस्तुत ञतिकनं—मित्र, साथी और कुटुम्बियों को दान—(३ और ११ शिलालेख) ।

(ग) दाने च वुढानं—(हीलनं पटिविधाने—सोने का दान) वृद्धों को स्वर्ण का दान—८वाँ शिलालेख ।

(५) प्रणन अनालम्भ—प्राणियों की अहिंसा, न मारना साधु अथवा उत्तम है ।

(क) अहिंसा—जीवों की हिंसा से अलग रहना—(स्तम्भ-लेख ७वाँ, शिलालेख ३, ४ और ६वाँ) ।

(ख) पनिसु सयमे—(६वाँ शिलाभिलेख)—प्राणों का संयम अर्थात् जीवहत्या न करना, जिह्वा पर संयम करना जिससे मनःतृप्ति के लिये हिंसा न की जाय। प्राणियों की हिंसा से अपनी रक्षा करना अर्थात् अहिंसा ।

(ग) अहिंसा-भूतानां—प्राणियों की हिंसा, अपकार न करना—(७वाँ स्तम्भ-लेख, चतुर्थ शिलालेख) ।

(घ) सर्वभूतानां अक्षतिं च संयमं च—प्राणीमात्र का अनिष्ट न करना अर्थात् सर्व प्राणीमात्र—जीवमात्र की कल्याण-कामना और संयम (१३वाँ शिलालेख) ।

(६) अपवयत और अपभंडत---(अल्प व्यय और अल्प संचय[१])।

(क) थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना उत्तम है[२]--तृतीय शिलालेख।

फलतः व्यावहारिक-धर्म-संहिता में निम्न लक्षण दिये गये हैं:----

(१) दया--कृपालुता—७वाँ और दूसरा स्तम्भ-लेख।

(२) दान-उदारता—७वाँ शिलालेख।

(३) सत्य--सत्यवादिता--गौण-शिलालेख २, ७वाँ और दूसरा स्तम्भ-लेख।

(४) शौच—आत्मिक और बाह्य शुद्धता—७वाँ और दूसरा स्तम्भ-लेख।

(५) मादव—विनम्रता----१२वाँ शिलालेख, ७वाँ स्तम्भ-लेख।

(६) साधुता—संत-गुण—(तुलसीदास कहते हैं—बन्दऊँ सन्त असज्जन चरना) ७वाँ स्तम्भ-लेख।

(७) अल्प व्यय और अल्प संचय---शिलालेख ३। (वह धन संग्रह कीजिये जो आगे कूँ होय) आगे = परलोक।

—कबीर ग्रन्थावली।

(८) संयम—(मन या इन्द्रिय-निग्रह) ७वाँ शिलालेख।

(९) भाव-शुद्धि—हृदय की निर्मलता।

(१०) कृतज्ञता।

(११) भक्ति---(१३वाँ शिलालेख)।

---

[१]सौ पापन को मूल है एक रुपया रोक, साधु हूँ संग्रह करै, हारे हरि-सा थोक—(कबीर) यही विचार सम्राट् का सम्भवतः रहा होगा।

[२]"साँई इतना दीजिये जामें कुटुम समाय,
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।"

—कबीर

(१२) धर्म-रति—धर्म में रत रहना (१३वाँ शिलालेख)।

(१३) अक्षति, संयम, समचेरा मादवं----(ये गुण सर्वजीवों के प्रति कहे गये हैं, पशु और मनुष्य, पक्षी, जलनिवासिन आदि—(१३वाँ शिलालेख)।

इन्हीं सबका सामूहिक रूप से सङ्कलन कर सम्राट् की धर्म-संहिता का निर्माण हुआ। ये इसी संहिता के सन्देश थे जिन्हें सम्राट् विश्व-कल्याण के लिये सारे भूतल पर बिखेरना चाहते थे। कितने सरल, कितने सत्य और मनोरम ये सिद्धान्त थे----यह शब्दों में नहीं कहा जा सकता। उनका यह व्यावहारिक धर्म, जिसका सम्राट् ने सर्वत्र प्रचार किया, उस समय के किसी प्रचलित सम्प्रदाय से सम्बन्धित न था यही कारण है कि प्रथम देखने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्राट् का यह धर्म बौद्ध-धर्म न था। "हम सम्राट् के द्वारा बौद्ध-धर्म के उच्च आध्यात्मिक भावों एवं सारभूत सिद्धान्तों और नियोगों का कोई उल्लेख नहीं पाते। चार महान् सत्य, अष्ट पथ, बुद्ध की अद्वितीयता के बारे में कुछ नहीं सुनते हैं। और निर्वाण के भाव का सर्वथा अभाव है, आदि।"[1] परन्तु उनके धर्म के सिद्धान्त अथवा नियोग, करुणा और सार्वलौकिक कल्याण, भावना से ओत-प्रोत्र हैं। उनमें सार्वलौकिकता है, व्यापकता है, विश्व-मांगल्य और सर्व प्राणियों की अक्षति है एवं माधुर्य के रस से चारु-स्थित हैं। निःसन्देह धर्म के ये गुण (लक्षण) मांगलिक एवं विश्व-कल्याण-पथ के मृदुल कुसुम थे। इन गुणों अथवा सिद्धान्तों की ललित मंजुलता सम्राट् के अनवरत दुहराने में सुव्यक्त है, एवं सम्राट् स्वयं कहते हैं---"बहु च लिखिते लेखापेशामि चेव निक्यं अथि चा हेता पुनं पुन, लपि ते, तष तषा, अथषा मधुलियामे।" (चतुर्दश शिलालेख) अर्थात् "बहुत कुछ लिखा जा चुका और निरंतर लिखाता रहूँगा। बहुत-सी बातें बार-बार भी (पुनः पुनः)

[1] Cambridge History, p. 505.

लिखी गई हैं। कारण? उन शब्दों की सुन्दरता अथवा अर्थ की मधुरता है।"

अतः व्यक्त है कि सम्राट् को पूर्ण रूप से पुनरुक्ति का विचार था। किन्तु फूलों से कुसुमित शब्दों की सुन्दरता और मनोज्ञ अर्थ की सुस्वादुता के कारण ही उन्होंने पुनरुक्ति की, क्योंकि उनकी इच्छा थी कि कभी न कभी लोग धर्म-पथ पर आ लगें। इस पुनरुक्ति का कारण सम्राट् के शब्दों में सुव्यक्त है। वे कहते हैं—"येन जने तथा पटिपजेया"—अर्थात् "जिससे लोग इसी प्रकार (धर्म के गुणों के साथ) आचरण करें।"

सम्राट् धर्म के इन लक्षणों को समाज में प्रचलित अन्य रीतियों से सर्वोपरि समझते हैं, वे इन धर्माचरणों एवं सामाजिक धर्म-मङ्गलों का सामंजस्य करते हुए कहते हैं----"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, लोग बहुत से मंगल किया करते हैं। बीमारी, लड़के और लड़कियों के विवाह, पुत्रजन्म, परदेश जाते (समय) इन अवसरों पर तथा ऐसे ही दूसरे अवसरों पर लोग बहुत प्रकार के मंगल मनाया करते हैं। किन्तु ऐसे अवसरों पर बच्चेवाली स्त्रियाँ (माताएँ) और पत्नियाँ कई तरह के, छोटे और सारहीन मंगल (कार्य) किया करती हैं। मंगल-कार्य अवश्य करने चाहिये, किन्तु ये मंगल बहुत कम फलदायक हैं। किन्तु जो धर्म-मंगल हैं, वे निश्चय अति फलदायक हैं। इस धर्म-मङ्गल में निम्न बातें हैं----दास और वेतन वाले नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुजनों का आदर, प्राणियों का संयम (हिंसा न करना), श्रमणों और ब्राह्मणों को दान देना। ये और ऐसे ही मङ्गल—धर्म-मङ्गल कहाते हैं। अतः पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र और परिचित तथा पड़ोसी भी यह कहे (उपदेश करे) कि यह धर्म-मङ्गल स्तुत्य है, जब तक अर्थ (उद्देश्य) की पूर्ति न हो, तब तक यह धर्म-मङ्गल करना उत्तम है। क्योंकि धर्म-मङ्गल के अलावा जितने और मङ्गल हैं, वे सब संदेहात्मक हैं। उनसे अर्थ

की सिद्धि हो सके और न भी हो सके तथा उनका फल इहलोक के लिये ही है, किन्तु धर्म-मङ्गल समय से आबद्ध नहीं है। यदि किसी को इस लोक में अर्थ-सिद्धि न हो, किन्तु परलोक में इससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। किन्तु यदि कोई अपने उद्देश्य को यहाँ प्राप्त कर गया, तो दोनों फल (सुख) इससे पाये गये। इहलोक में अपने अर्थ की सिद्धि हुई, और इस धर्म-मंगल से परलोक में भी अनन्त फल की प्राप्ति हुई।"......(९वाँ शिलालेख—कालसी)।

अतः भली प्रकार प्रकाशित है कि सम्राट् अन्य सामाजिक कृत्रिम मंगलों से ऊपर धर्म-मङ्गल को रखते हैं। अशोक के समय जो मङ्गल मनाये जाते थे वे कृत्रिम तथा मिथ्या थे। अर्थात् लोग मिथ्या धर्म में पड़ कर यक्ष, किन्नर, भूत, प्रेत, अश्व, कुत्ता आदि की पूजा में लिप्त हो चुके थे, अतः उनका धर्म भी संकुचित हो चला था तथा इसके साथ-साथ उनके विचार भी इसी प्रकार संकुचित हो गये थे। इन मिथ्या धर्मों अथवा मङ्गलों के कारण लोग स्वार्थनिष्ट हो, विश्व-भावना से दूर जा हटे थे। लोगों में आत्म-भाव जाग उठा था और वे अपने से अन्य का कुछ भी विचार न रखते थे। यदि रखते होते तो सम्राट् को दास, नौकर, मित्र, परिचित, सम्बन्धी आदि से उचित व्यवहार करने का उपदेश न करना पड़ता तथा इन्हीं लक्षणों को धर्म-मङ्गल का लक्षण न व्यक्त करते। अतः सम्राट् चाहते थे कि मनुष्यों में से आत्म-भाव (स्वार्थ-भाव) नष्ट हो जाय और उनमें सार्वलौकिक[1] कल्याण कामना जाग उठे—इसी को वे धर्म समझते थे और इसी को निर्वाण भी। सम्राट् का यह भाव संत कबीर की इस उक्ति में चरितार्थ होता है। कबीर कहते हैं—"आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरबान"—अर्थात् "जब मैंने यह मालूम किया कि मैं

---

[1]"जेति औरति मरदां कहिये सब में रूप तुम्हारा"—कबीर का यह पद सम्राट् के भाव का पूर्ण प्रकाशन करता है।

और अन्य लोग सब एक ही हैं, तब निश्चय मैंने निर्वाण पद पाया।" इसी प्रकार सम्राट् एकरूपता तथा सार्वलौकिकता के अनन्य उपासक थे। वे पशु, पक्षी, जल-निवासिन और मनुष्यों एवं जीवमात्र में समानता तथा समचेरां अर्थात् समान आचार-व्यवहार के इच्छुक थे। कबीर के शब्दों में सम्राट् का सिद्धान्त, "गिरह उजाड़ एकसम लेखौं, भाव मिटावौ दूजा" था। इसी कारण सर्व-कल्याणमयी धर्म-मङ्गल को सम्राट् मिथ्या एवं स्वार्थ-परायण अन्य सामाजिक मङ्गलों से सर्वोपरि कहते हैं।

इसी प्रकार ११वें शिलालेख में साधारण दान से बढ़कर सम्राट् धर्म-दान (अर्थात् दासों और नौकरों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, सहायकों, ब्राह्मण और श्रमण साधुओं के प्रति उदारता और अहिंसा) को सर्वोत्तम दान कहते हैं। सम्राट् बार-बार यह व्यक्त करना चाहते हैं कि आचरण की साधुता सर्वोपरि है। वे कहते हैं—"साधो एक आप जग माँही" किसी को अपने ऐश्वर्य के घमंड में आकर दो पैसे देना सम्राट् सुकृत अथवा दान देना नहीं मानते। स्वार्थवश कुछ देना सम्राट् हेय समझते हैं, अतः आचरण का दान ही वे सत्य एवं धर्म-दान मानते हैं। बहुत से धनिक एवं राजकीय[1] लोग अपने ऐश्वर्य के मद में निर्बल, ग़रीब, तथा आश्रित दास और नौकरों पर, अपनी असाधुता अथवा दुर्व्यवहार के कारण अनेक भाँति से अत्याचार करते हैं। किन्तु स्वार्थ से प्रेरित होकर वे दान-कर्मादि भी कर लेते हैं, अतः इसी प्रकार के "दानों" पर लक्ष्य करते हुए, संभवतया, सम्राट् उन्हें कृत्रिम दान कहते हैं, और धर्म-दान को उत्तम बतलाते हैं, क्योंकि धर्म का दान सर्व-कल्याण एवं पुण्यों का मूल है। इसी लय में सम्राट् पुनः उचारते हैं—"तमेव चा विजयं मनतु ये धमं विजये" (कालसी त्रयोदश—शिलालेख)। "अन्य विजयों

[1] "हस्ति देख भ्रम ते भूला, हरि भगवान न जाना"—कबीर ग्रन्थावली।

में धर्म-विजय ही प्रमुख विजय है।" कलिंग के युद्ध पर पश्चात्ताप करते हुए, लज्जित हो सम्राट् कहते हैं—इस विजय का परिणाम पैशाचिक दुर्घटना थी। इस युद्ध में निष्पाप रुधिर बहाना पड़ा, तथा कई धार्मिक और निरपराध मनुष्यों का मरण हुआ। इस युद्ध के कारण कोई भी सुखी न रह पाया। सर्व कलिंग शोकाग्रस्त हो चला।

किन्तु धर्म-विजय के प्रति हर्षित हो सम्राट् कहते हैं कि यह धर्म-विजय कल्याण देने वाली है, और सम्राट् गौरवता के साथ कहते हैं—"देवनं-प्रियस ये ध्रमविजये, से च पुन लधे देवनं प्रियस इह च सत्रेषु च अंतेषु अषषु पि योजनशतेषु यत्र अन्तियोगे नम योनरज परं च तेन अंतियोकेन"......आदि आदि। अर्थात् "देवताओं के प्रिय को यह धर्म-विजय यहाँ (अपने विजित राज्य में) तथा सभी सीमान्त प्रान्तों में छः सौ योजन तक जहाँ अंतियोकस नाम का यवन राजा तथा अन्य चार राजा—तुरमय, अन्तिकिन, मग तथा अलिकसुन्दर के राज्य हैं, तथा नीचे दक्षिण में चोड़, पांड्य, और ताम्रपर्णी के राज्यों में उपलब्ध हुई हैं।" अतः यही धर्म-विजय की महत्ता अथवा गुरुता है। धर्म की मङ्गलमयी स्वस्ति-पताका स्नेह द्वारा सरलता से विजय प्राप्त कर सकती है। यही विश्व-कल्याणकारी धर्म अशोक का धर्म था और इसी को सर्वव्यापी बनाने का उन्होंने निरंतर प्रयत्न किया। इस प्रयत्न को शिलालेखों में धर्म-पराक्रम कहा गया है।

ये पूर्वनिर्दिष्ट धर्म के लक्षण, प्रत्यक्ष (positive side) अथवा धर्म का व्यावहारिक रूप था। अब हम उनके धर्म का निषेधात्मक रूप (negative side) दिखलाने का प्रयत्न करेंगे। निषेधात्मक पक्ष अथवा रूप से तात्पर्य उन लक्षणों अथवा कार्यों के परित्याग एवं निषेध से है, जो मनुष्य को पाप कार्य में ढकेल ले जाते हैं। अतः धर्म के लिये उन विषयों या कार्यों का निषेध किया जाना परम आवश्यक है।

धर्म का निषेधात्मक रूप या अकरणरूप पक्ष—धर्म का उत्कर्ष मनुष्य में तभी सर्वथा सम्भव है, जब वह पूर्ण रूप से सात्विक हो

सके। उसकी प्रवृत्ति पाप-कर्मों की ओर न मुड़ कर अनवरत रूप से धर्म एवं सुकृतों के प्रति बनी रहे। मनुष्य धार्मिक अनुशासनों का अनुसरण करते हुए भी पाप में फँस सकता है, अतः धर्म के लक्षणों के साथ सम्राट् "अपासनीव" को भी उसी प्रकार प्रमुख धर्म मानते हैं। अपासनीव से तात्पर्य "आसीनव" का निषेध करने से है। यह "आसीनव" क्या वस्तु है इसके प्रति तृतीय स्तम्भ-लेख निम्न उल्लेख देता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, मनुष्य अपने सुन्दर कार्यों को ही देखता है और उन सुकृतों को देख कर सोचता है कि "यह सुकृत मैंने किया है।" किन्तु वह कभी भी (किसी भी दशा में) अपने पापों (दूषित कार्यों) पर यह विचार करते हुए दृष्टि नहीं डालता कि "यह आसीनव (पाप) मैंने किया है।" किन्तु यह भली प्रकार मालूम करना है भी कठिन। उग्रता, क्रोध, अहङ्कार, ईर्ष्या ये सब आसीनवगामिनी हैं, अथवा इनसे आदमी पाप कर बैठता है। इसलिये मुझे इन आसीनवगामिनी अथवा पापों द्वारा अपनी अपकृति या विनाश न करना चाहिये। इनका भली प्रकार विचार रखना चाहिये कि यह मेरे इस लोक के हित के लिये तथा परलोक के सुख के लिए है।"

इस लेख से सम्राट् का धम पूर्णतया सुप्रकाशित होता है। वे इस बात पर संकेत करते हैं कि "धर्म" का अर्थ केवल धर्म के नियोगों अथवा उपदेशों का अनुसरण करना ही नहीं है, अपितु आसीनव (पाप) से अपनी रक्षा करना भी अनिवार्य है। सम्राट् की विशेषता एवं उनके मस्तिष्क की प्रसारता, मानव चरित्र-चित्रण के पूर्ण विश्लेषणकर्त्ता के रूप में है। मानव-मनोविज्ञान के सम्राट् एक महान् आचार्य थे। यह सम्राट् भली प्रकार जानते थे कि मनुष्य की स्वाभाविक नीचता उसे अपने सुकृतों पर गौरवता के साथ अहङ्कार कराती है, किन्तु अपने दुर्गुणों पर कभी फूटी आँख से भी दृष्टि नहीं डलवाती। संसार में ऐसे असत्य धर्मी एवं नीच अहंकारियों की कमी नहीं मिलेगी।

आज भी नित्य की तरह ऐसे असत्य धर्मी अथवा नीच अहंकारी मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या, जो अपने गौरव, घमण्ड, अहंकार के हेतु धर्मी बने हैं, मिल सकती है। ये लोग अपनी नीचता और अहंकार में आकर अपने धर्म-कर्म में फूले नहीं समाते, किन्तु अपने पापों पर उन्हें थोड़ा भी विचार नहीं होता। अतः सम्राट् का कहना है कि वे लोग अधर्मी हैं, अपने अपकर्ष के हेतु हैं तथा विनाश के कारण हैं जो बिना आसीनव अर्थात् अहंकार, क्रोध आदि का परित्याग नहीं कर सके हैं। इसी से कबीर भी कहते हैं—"हम जाना तुम मगन हो, रहे प्रेम रस पागि। रंचक पवन के लागते, उठे नाग से जागि ॥" अर्थात् "मैंने समझा तुम प्रेम रस में डूबे हो और परमात्मा में मिले हो, किन्तु इसके विपरीत, मेरी साँस के छूते ही तुम क्रोधित सर्प की नाईं जाग उठे (फुत्कार उठे)" अतः कबीर के शब्दों में सम्राट् कहते हैं कि अहंकारी मनुष्य धर्म-कर्म करता हुआ भी पाप में फँस जाता है, क्योंकि उसके भीतर क्रोध, अहंकार, गर्व, ईर्ष्या आदि पाप, अथवा आसीनवगामिनी-लक्षण अभी जीवित हैं। फलतः वही मनुष्य सच्चा धर्म का अनुगामिन् अथवा धार्मिक है, जो धर्म पर आचरण करते हुए अहंकार क्रोध आदि आसीनवगामिनी अवगुणों से दूर रहे। दयाबाई के शब्दों में सम्राट् का तात्पर्य है—"कोटि जज्ञ व्रत नेम तिथि, साध सङ्ग में होय। विषय व्याधि सब मिटत हैं, सान्ति रूप सुख जोय ॥" अर्थात् साधु के सङ्ग में होने से अथवा साधु गुणों (अहंकार, दप, क्रोध, ईर्ष्या इनसे परे, दया, दान, धर्म, सत्यता प्रेम आदि साधु गुण हैं) के होने से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। लाखों यज्ञ, व्रत, नेम करने से बढ़कर साधु अथवा साधु-गुण हैं। इस साधुता के कारण सब विषय (अहकार, क्रोध, दर्प, ईर्ष्या आदि) और व्याधियाँ शान्त होती हैं तथा सच्ची प्रसन्नता का भी यही कारण है।"

अतः सम्राट् का अभिप्राय है कि मनुष्य के धर्म-कर्म सब निरर्थक हैं, और उसका अपने सुकृतों पर अहंकार करना व्यर्थ है, जब कि वह

काम, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि आसीनवगामिनी दुर्गुणों में फँसा हुआ है। दादू के शब्दों में सम्राट् कहना चाहते हैं—"काया करम लगाय करि तीरथ धोवै जाइ। तीरथ माँहैं कीजिए, सो कैसे करि जाइ ॥" अर्थात् "अपने विषय-वासना अथवा शरीर से किये पापकृतों को धोने के लिये तुम तीर्थों में जाते हो। किन्तु तीर्थ-स्थानों पर जा कर जो दुष्कर्म तुम करते हो, उससे फिर तुम कैसे छुटकारा पाओगे ?" अतः सम्राट् का संक्षेप में तात्पर्य यही है कि मनुष्य—अहंकार, क्रोध, क्रूरता, उग्रता, और ईर्ष्या, आदि आसीनवगामिन दुर्गुणों से प्रथमतः छुटकारा पा कर ही धर्म-गामिन् हो सकता है तथा उसके धर्म-कर्म और धर्म पर आचरण करने का फल तभी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यही सम्राट् का संपूर्ण विश्व के लिये अपना संदेश था, और इसे ही वे सर्वकल्याण एवं मङ्गल का मूल समझते थे। और इसी कल्याण-संदेश का सर्वत्र प्रचार करने में उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को, ऐश्वर्य और सांसारिक असत्य सुखों को ठुकराते हुए, अर्पण कर दिया। सम्राट् का यह धर्म कोई विशेष सांप्रदायिक धर्म न था, किन्तु धर्म का सार था, जो सर्व-कल्याण का सत्य मूल है। यह धर्म सर्व प्रकार की जलवायु, प्रदेश और मानव, सबके लिये सामान्य था। उस धर्म में न तो बौद्ध-धर्म का पक्षपात था, और न वह राजधर्म के ही संपर्कित था। किन्तु वह तो अखिल, शाश्वत और सार्वभौमिक धर्म था। यह धर्म सर्व-मङ्गल का बीजमन्त्र था। वह किसी संप्रदाय का विरोधक न था अपितु वह पूर्ण ब्रह्म का वह रूप था, जो सबके लिये अङ्गीकृत एवं स्वीकृत है। सम्राट् ने ईश्वर का दूत बनकर विश्व को सत्य-मार्ग का निर्देश करवाया, उन्होंने सुव्यक्त किया कि धर्म का पूर्ण रूप क्या है ? इसीसे सम्राट् प्रथम स्तम्भ-लेख में कहते हैं—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष मैंने यह धर्मलिपि लिखवाई। बिना धर्म-कामता, परीक्षा, सेवा, पाप का भय तथा परम

उत्साह के इहलोक तथा परलोक में सुख-प्राप्ति दुसाध्य है।"
उपरोक्त स्तम्भ-लेख में दिये लक्षणों में से "परीक्षा" सबसे प्रमुख मानी गई है। भाबरु शिलालेख में उल्लेखित राहुलोवाद में इस "परीक्षा" पर यथेष्ट ज़ोर दिया गया है। "परीक्षा" का अर्थ है "साधना" (साधो एक आप जग माँहीं)—अर्थात् चरित्र-बल। राहुलोवाद में भगवान् गौतम ने "राहुल" को आदेश करते हुए कहा है कि मनुष्य को अपनी काया से सम्बन्धित कर्मों अर्थात् मन, वचन और वाणी से जो कर्म किये जायँ, उनकी भली प्रकार जाँच करनी चाहिये अर्थात् परीक्षा करनी चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को यह देखना और समझना चाहिये कि उसके अन्तःकरण की जो पाशविक आसुरी अथवा अहंकार, क्रोध आदि वृत्तियाँ हैं, वे किस अवस्था में हैं, यदि वे जीवित हैं तो उनकी परीक्षा कर अर्थात् विचार करके, उनका विनाश करने का उपक्रम करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य तभी मनुष्य एवं अमर और धार्मिक हो सकता है, जब परीक्षा-पूर्वक आसीनव (अहंकार, क्रोध, ईर्ष्या, क्रूरता) का नाश हो सके। इसी पर कबीर ने उक्ति की है—"जीवन तैं मरिबो भलो जो मरि जाणै कोय। मरने पहली जे मरे तो कलि अजरावर होय।"—अर्थात् "जीव काया में रहते हुए भी वह मनुष्य जीवन-मुक्त है—वह साधारण मनुष्य की भाँति नहीं जीता, जिसने अहंकार का नाश कर दिया है, जो सब विकारों का कारण है। इसलिये वह ही सत्य रूप में जीवित है जो प्राकृतिक मृत्यु से प्रथम ही मर जाता है, वह अमर होता है।" अर्थात् आसीनव, पाप आदि से रहित होने पर मनुष्य का जीवन, जीवन है अन्यथा वह कुछ भी नहीं। इसीसे सम्राट् ने मानव-जीवन को यथार्थ रूप देने तथा अमर बनाने के लिये, मनुष्यों को तृतीय स्तम्भ-लेख में आदेश किया है कि वे अपने बुरे कर्मों पर निरीक्षण रखें और इस प्रकार हमेशा आसीनव (पापों)—उग्रता, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार आदि से सर्व प्रकार अपनी रक्षा करें। जिससे वे धर्म

से च्युत होकर, पाप के अंध-कूप में गिरने से अपने को रोक सकें। सम्राट् ने इस प्रकार क्यों आदेश किया? इसलिये कि मनुष्य अपनी प्रशंसा और स्वाभाविक ओछेपन में आ कर अपने धर्म-कार्यों की तो खूब प्रशंसा करता है, किन्तु वह पाप कृत्यों से अपनी आँखें मूँद लेता है। इसलिए सम्राट् इन मानवी दुर्बलताओं एवं पापों—अहंकार, उग्रता, क्रूरता, ईर्ष्या आदि से बचने को बारम्बार याद दिलाते हैं। सम्राट् की "परीक्षा" शब्द से संक्षेप में अभिप्राय, आत्मा के निर्देश पर कार्य करने से है क्योंकि संसार में जितने भी व्यभिचार, अत्याचार और दुष्कर्म हुए हैं और होते हैं, सब आत्मा के विरुद्ध आचरण करने के कारण ही हुआ करते हैं। यदि परीक्षा के साथ आत्मा के निर्देश पर ही यह संसार चलता, तो अमानुषिक कृत्यों के क्षय होने में कोई संदेह न था, अतः सम्राट् ने आत्म-परीक्षा पर दबाव डाला है।

सम्राट् का धर्म्म-भाव—सम्राट् के धर्म के ये सिद्धान्त सब धर्मों—सम्प्रदायों से अपर थे, उनका धर्म हम बराबर कह चुके हैं विश्व-धर्म था, वह किसी धर्म की अपनी वस्तु नहीं कही जा सकती। उस पर सब धर्मों का समान रूप से अधिकार था।

यह धर्म सब को ग्रहणीय था तथा सर्व-धर्मों में यह धर्म प्रच्छन्न रूप से विद्यमान था। इसी कारण १३वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "कोई जनपद ऐसा नहीं है जहाँ किसी न किसी धर्म में लोगों की प्रीति न हो।" तथा कलिंग के रहने वालों पर लक्ष्य करते हुए सम्राट् पुनः कहते हैं, "वहाँ ब्राह्मण और श्रमण तथा अन्य साम्प्रदायिक लोग अथवा गृहस्थी रहते हैं, जिनमें निम्न गुण पाये जाते हैं, वृद्धों, माता-पिता और गुरुजनों की सेवा, मित्र, सहायक, साथी, सम्बन्धी, नौकर और भृत्यों से उचित व्यवहार और उनके प्रति भक्ति की दृढ़ता है।" अतः सम्राट् का धर्म सर्व मतानुसार था। इसीसे सम्राट् परस्पर मेल-जोल बढ़ाने को कहते हैं तथा किसी धर्म की निन्दा अथवा अपकार न करने को ही प्रमुख धर्म मानते हैं।

सातवें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"देवेन प्रिये प्रियदशि रज सत्रत्र इच्छति सव्र पषड वसेयु" अर्थात्—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सर्वत्र ही सर्व धर्म वाले बसें।" क्योंकि "सत्रे हि ते सयम भावशुद्धि च इच्छन्ति"—"सभी संयम और भावशुद्धि के अभिलाषी हैं।"

पुनः सम्राट् कहते हैं—"मनुष्य कई ऊँच-नीच विचार के होते हैं, कोई धर्म का पूरी तरह पालन करता है और कोई आधा ही, किन्तु जिनमें संयम और भावशुद्धि नहीं वे नीच हैं।" (७वाँ शिलालेख) इस वृत्त से सम्राट् का धर्म-भाव अच्छी तरह प्रकाशित हो जाता है। संयम और भावशुद्धि को वे मुख्य धर्म समझते थे। यही कारण है कि "संयम और भावशुद्धि" से रहित लोगों को उन्होंने नीच कहा है। संयम अर्थात् मर्यादा। सम्राट् मर्यादित जीवन को ही मानव-जीवन मानते हैं। संयम का अर्थ है कि आसोनवगामिन विषयों से अपनी रक्षा करना, यह धर्म का निषेधात्मक अथवा अकरण रूप से संपृक्त है। इस संयम से तात्पर्य फलतः हिंसा (प्राणीमात्र की हिंसा), अक्षति, इन्द्रिय-लोलुपता, कामचारिता, आसुरी पाशविकता, क्रोध, अहंकार, उग्रता एवं क्रूरता और ईर्ष्या से अलग रहना है। इसी प्रकार भाव-शुद्धि का तात्पर्य हृदय की निर्मलता एवं स्वच्छता से है। अर्थात् किसी प्रकार के विकार को अपने हृदय अथवा मन में उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये। क्योंकि विकार उत्पन्न होने से मन में दूसरों की निन्दा और अन्य अपकार करने वाले भाव जाग्रत हो उठते हैं, जिस हेतु सर्व-कल्याण होना असम्भव हो जाता है। अतः सर्व-मङ्गला-भिलाषी तथा सर्व-सम्प्रदायों की अभिवृद्धि एवं सार-वृद्धि चाहने वाले नरेश्वर संयम—वाणी की निर्मलता और भावशुद्धि पर जोर देते हैं। इसी कारण सम्राट् १२वें शिलालेख में आदेश करते हैं कि "अपने धर्म का आदर और दूसरों के धर्म की निन्दा अथवा निरादर न करो।" अतः सम्राट् पुनः वाक्-संयम पर ज़ोर देते हैं, अर्थात् मनुष्यों

को अपनी जिह्वा पर नियंत्रण रखना चाहिये, जिससे वे एक दूसरे का तिरस्कार तथा निन्दा कर परस्पर विरोध और वैमनस्य का बीज न बोने पावें। तथा सबमें एकरूपता और समदर्शिता के भाव जाग्रत रहें। सम्राट् अहंभावी तथा धर्मोन्मत्त यूरोपियन और मुसलमानों की भाँति एकांगी, अर्थात् अपने धर्म को सर्वोच्च कहने और दूसरों के धर्म को नाटकीय एवं अधर्म कहने के पक्ष में न थे, किन्तु सम्राट् नित्य यही कामना करते थे कि सब लोगों, प्राणियों और सम्प्रदायों की अभिवृद्धि एवं कल्याण हो। इसी प्रयोजन से सम्राट् ने "धर्ममहामात्र" आदि धर्म के कर्मचारियों की नियुक्ति की थी। ये धर्ममहामात्र बिना किसी भेद-भाव के, सभी लोगों और सम्प्रदायों के लिये नियत थे। वे ब्राह्मण, आजीविक, निर्ग्रन्थ, बौद्ध-सङ्घ, बूढ़े, असहाय, निर्बल, सबके लिए नियत किये गये थे। इन धर्म-महामात्रों का यही कार्य था कि वे विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर मेल-जोल बढ़ावें, धर्म का प्रचार करें, वृद्धों, असहायों आदि की दान आदि से सेवा करें एवं किसी में विरोध पैदा न होने दें।[1] इस उल्लेख से लक्ष्य होता है कि शायद अशोक के समय ये विभिन्न सम्प्रदाय आपस में लड़ा करते थे, नहीं तो सम्राट् को परस्पर मेल करने का अनुशासन क्यों करना पड़ता ?

संक्षेपत: श्री भण्डारकर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "साम्प्रदायिक धर्म से अलग प्रच्छन्न धर्म अथवा धर्म के सार का प्रचार करने में ही सम्राट् की मौलिकता थी, क्योंकि यह धर्म सब सम्प्रदायों के सिद्धान्तानुसार एवं सर्वमान्य था।"[2]

अशोक के धर्म पर विद्वानों की सम्मति—सम्राट् अशोक के धर्म के प्रति विद्वानों की विभिन्न सम्मति है। श्री जेम्स फ़्लीट अशोक के इस धर्म को मानव-राजधर्म कहते हैं। (J. R. A. S.)

---

[1] ७वाँ स्तम्भ-लेख—५वाँ शिलालेख। [2] भण्डारकर—अशोक, पृष्ठ ११६

श्री वि० स्मिथ लिखते हैं, "शिलालेखों का यह धर्म कुछ भेद के साथ हिन्दू-धर्म ही है। केवल उसमें बौद्ध-धर्म की झलक दिखलाई पड़ती है।"

श्री सेनार्ट कहते हैं—"अशोक के समय तक बौद्ध-धर्म केवल आचार के सिद्धान्तों का एक समूह था। वह बौद्ध-धर्म के विशेष तथा निगूढ़ तत्त्वों पर बहुत कम ध्यान देता था।"

सेनार्ट के इस पक्ष के विरोध में रीज डेविड्स लिखते हैं—"बुद्ध के महानिर्वाण के १०० सौ वर्ष पश्चात् सङ्घ-भेद होना प्रारम्भ हो गया था। जिसको मिटाने का स्वयं सम्राट ने प्रयत्न किया। इस समय वे भिक्षु-धर्म के बाह्य विषयों पर अधिक ध्यान देने लगे थे। (Rhys David's Buddhism, p. 190) अतः धर्म के निगूढ़ तत्त्वों एवं विशेष नियमों पर आक्षेप लगाना अन्यायपूर्ण है। इन धर्म के विशेष तत्त्वों के हेतु ही बौद्ध-धर्म की तीसरी महासभा अशोक के संरक्षण में आचार्य उपगुप्त ने नौ महीने तक की थी।

अब हम प्रमुख विषय पर आते हैं। उपरोक्त सभी विद्वानों ने सम्राट् की सार्वलौकिकता एवं व्यापकता को न समझ कर ही ऐसी भूल की है। हमने बार-बार कई स्थलों पर कहा है कि सम्राट् साम्प्रदायिकता की बीमारी से अछूते थे, तथा उनका धर्म सर्वमांगलिक एवं "सर्वभूतानां" के सिद्धान्त पर ही प्रतिस्थापित था। यही कारण है कि बौद्ध-धर्म का नाम लिये बिना सम्राट् ने उन्हीं बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करना अभीष्ट समझा, जिन्हें वे सर्वव्यापक, सर्व-कल्याणकारी, सर्वग्रहणनीय, एवं सर्वधर्मों का सार समझते थे।

यथार्थ में बौद्ध-धर्म के दो पक्ष अथवा रूप हैं। अर्थात् इसमें दो प्रकार से धर्म का विधान किया गया है—एक रूप भिक्षु तथा भिक्षुणियों से सम्बन्ध रखता है और दूसरा गृहस्थियों से।

गृहस्थियों से संपृक्त जो धर्म है, उसका विधान सिगालोवाद-सुत्त में किया गया है। यह सुत्त गृहस्थि यों के लिये ही बनाया गया था।

इस सुत्त के प्रति एक कहानी है, "किसी समय बुद्ध भगवान् राजगृह के पास एक जंगल में रहा करते थे। एक दिन भिक्षा के लिये जाते हुए मार्ग में उन्होंने "सिगालो" को देखा। यह सिगालो आकाश और पाताल की विभिन्न दिशाओं को नमस्कार कर रहा था। बुद्ध उसके पास पहुँचे और उससे पूछा कि वह क्यों ऐसा कर रहा था। बुद्ध भगवान् के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि उसके पिता का आदेश ही ऐसा था। इस पर बुद्ध ने कहा—"आकाश-पाताल की दिशाओं को पूजना धर्म नहीं है।" इस पर सिगालो ने भगवान् से पूछा—"धर्म क्या है?" तब भगवान् ने उसे इस प्रकार उपदेश दिया—"माता-पिता की सेवा, पास-पड़ोसी की सेवा, गुरु, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, स्त्री और बच्चों की सेवा और उचित आदर तथा सेवक (दास) नौकर (भृत्य, वेतनभोगी नौकरों) आदि के प्रति उचित व्यवहार करना ही गृहस्थियों की मुख्य पूजा एवं धर्म है।"

सिगालो को भगवान् ने जो धर्म का उपदेश दिया है वही शिलालेखों का भी निश्चल विषय है, इसे सभी स्वीकार करेंगे। अतः इस विषय में अब कोई सन्देह शेष न रहना चाहिये कि शिलालेखों का धर्म भगवान् गौतम से प्रसूत हुआ धर्म अथवा बौद्ध-धर्म न था। किन्तु हाँ, यदि कोई कहना चाहे तो इतना अवश्य कह सकता है कि शिलालेखों का धर्म गृहस्थ-धर्म था तथा वह साधारण रूप में सर्वमान्य था। पर इस बात को नित्य स्मरण रखना चाहिये कि यह गृहस्थ-धर्म भी भगवान् बुद्ध से ही प्रसूत हुआ था और वह सर्वप्रकार बौद्ध-धर्म था। यद्यपि यह धर्म भिक्षुओं आदि के लिए न था, क्योंकि उनके लिए धर्म के निगूढ़ तत्त्वों 'निर्वाण', 'मोक्ष' आदि का विधान दिया गया है।

यदि उपरोक्त विद्वान् सिगालोवाद-सुत्त को ध्यान में रखते तो उन्हें सम्राट् के धर्म पर किसी प्रकार की शङ्का पैदा नहीं हो सकती थी। फलतः सम्राट् का यह धर्म पूर्ण रूप से बौद्ध-धर्म था।

सम्राट् अशोक का ऐतिहासिक गौरव इसी में है यद्यपि वे निःसन्देह साम्प्रदायिक रूप में बौद्ध थे, किन्तु उन्होंने अपने धर्म अथवा सम्प्रदाय का कभी पक्ष न लिया, अपितु विश्व-मङ्गल की शुभ भावना से प्रेरित हो कर, धर्म के "सार" का नित्य प्रचार करते रहे।

स्वर्ग और परलोक के प्रति सम्राट् के विचार[1]—शिलालेखों में सम्राट् ने अधिकता से 'स्वर्ग' और 'परलोक' का उल्लेख किया है। चतुर्थ स्तम्भ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष मैंने यह धर्म-लिपि लिखवाई। मैंने रज्जुक को कई सौ सहस्र प्राणियों के ऊपर शासन के लिये नियत किये हैं।......उन्हें इस विषय को समझना होगा कि दुःख और सुख के क्या कारण हैं, तथा धर्म की सहायता से वे जनपद के लोगों को इस प्रकार आदेश करें, जिससे उनको इस लोक में सुख मिले और परलोक (स्वर्ग) में भी वे सुखी रहें।" इस प्रकार सम्राट् प्रजा का पूर्णतया ध्यान रखते थे। सम्राट् की विशालता पूजनीय है। उनकी कर्त्तव्य-निष्ठता एवं स्नेह अभिनन्दनीय हैं। विश्व के राजागण और नृपति कहलाने वाले व्यक्ति, जब कि प्रजा को अपनी कामचारिता, पाशविकता, लोलुपता और रक्त-पिपासा को शान्त एवं तृप्त करने का साधन मानते रहे, और आज भी मानते जाते हैं, तब अकेले सम्राट् अशोक प्रजा को अपनी स्नेह-कलित गोद का दुलारा बच्चा मान कर, 'माँ' की तरह हर प्रकार से, उनके उत्कर्ष और प्रहर्ष के लिए व्याकुल रहा करते थे। कौन राजा मस्तक उठा कर कह सकता है कि प्रजा मेरे बच्चों के तुल्य है? थोथले मुँह से कोई लाख बार भी कह दे

[1]परलोक बहुत से शिलालेखों में आया है—कलिङ्ग शिलालेख १, स्तम्भ-लेख—१, ४, ७ और शिलालेख—६, ९, १०, १३)। ११वें शिलालेख में सम्राट् का आत्मा की अमरता पर विश्वास करना सिद्ध होता है (अन्तत्यं पुन्यं प्रसवति)।

तो क्या ! किन्तु इस प्रकार उच्चारण करने की शक्ति, सत्यता, सहृदयता एवं क्षमता केवल अशोक में थी, जिन्होंने इस लोक को छोड़, परलोक तक की व्यवस्था अपनी प्रजा के लिये करवा दी । अतः सम्राट् का इस लोक समेत परलोक (स्वर्ग) का विश्वास भी उतना ही दृढ़ था । आगे फिर ९वें शिलालेख में सम्राट् धर्म-मङ्गल की प्रशंसा करते हुए कहते हैं–"परत्र च अनंतं पुणं प्रसवति, तेन ध्रममङ्गलेन ।" (मानसेरा) इस धर्म-मङ्गल से दूसरे लोक में—"स्वगस-आलधि"—स्वर्ग की सिद्धि होती है, अथवा अनंत पुण्य उपजता है ।" अत: इन उपरोक्त दो शिलालेखों से ही सुप्रकाशित है कि सम्राट् अवश्य परलोक तथा स्वर्ग का अस्तित्व मानते थे । (देखिये १२वाँ शिलालेख) परिकामते सवत्रं प्रातिरिकाया) । चतुर्थ शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"बहुत काल व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए कि होम के लिये पशुओं की बलि, जीवों की हिंसा, और श्रमणों, ब्राह्मणों के प्रति बुरा व्यवहार बढ़ता ही गया । किन्तु आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण के फलस्वरूप, भेरीनाद (वीर-घोष) धर्म-घोष हुआ तथा लोगों को विमान-दर्शन, हस्तियों के दर्शन, अग्निस्कंध आदि अन्य दिव्य-रूपों के दर्शन कराए गये । जैसा सैकड़ों वर्ष पहले न हुआ था, वैसा अब देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन द्वारा, आज जीवों की अहिंसा, पशुओं का मारा न जाना, सम्बन्धियों से उचित व्यवहार, ब्राह्मण, श्रमण, माता-पिता और वृद्ध जनों की सेवा बढ़ रही है । यह तथा धर्म के अन्य आचरण बढ़ गये हैं । तथा देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को और उन्नत करेंगे ।"

इस विवरण से सुव्यक्त है कि सम्राट् प्रजा को धर्म पर लाने के लिये निम्न दिव्य रूपों का दर्शन कराया करते थे—विमान, हस्ति, अग्निस्कंध आदि ।

बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार जब कोई पुण्यात्मा व्यक्ति मर कर परलोक अथवा स्वर्ग को पहुँचता है, तो वहाँ उसे अपने सुकृतों के अनुरूप

स्वर्गीय उपहार मिलते हैं। इन स्वर्गीय उपहारों में से "विमान" पहले दिया गया है। विमान एक स्तम्भ-युक्त प्रासाद (महल) होता था। यह विमान अनंत सुख देने वाला था। इसका प्राप्त करने वाला अधिकारी विमान द्वारा कहीं भी चल-फिर सकता था। ये विमान अथवा प्रासाद चलने-फिरने वाले हुआ करते थे।

दूसरा महान् स्वर्गीय उपहार—पुण्यमय श्वेत हस्ति था। इस श्वेत हस्ति के रूप में ही भगवान् ने अपनी माँ के गर्भ में प्रवेश किया था। यह कथा बौद्धों में अधिकता से प्रचलित एवं धर्म के रूप से बहुत मान्य है।

तीसरा उपहार इस प्रकार दिया गया है—पुण्यात्मा लोगों को प्रथम स्वर्ग प्राप्ति होती थी। स्वर्ग में आने पर अपने सुकृतों के कारण उन्हें देव-पद प्राप्त होता था। देवता बनने पर उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास होता था। इस विकास के अनुरूप ही उनके शरीर से ज्वलित प्रभा की ज्वाला प्रस्फुटित होती थी। फलतः उनका रूप दिव्य हो जाता था, या वे दिव्य-रूप हो जाते थे।

इन उपहारों का ग्रन्थ में उल्लेख करने से क्या अभिप्राय था? बौद्ध-ग्रन्थ स्वर्ग के उपहारों एवं दिव्य-रूपों का उल्लेख कर जनता को यह सुव्यक्त करना चाहते थे कि पृथ्वीतल पर सुकृत, पुण्यादि कर्म करने से क्या परिणाम होते हैं। पुण्यकर्म एवं सुकृतों का इस भाँति विशाल एवं पारलौकिक परिणाम दिखलाने का अर्थ, केवल जनता को धर्म-पथ या धर्म की राह पर लगाना था। तथा यह भी सत्य है कि बौद्ध-गण, स्वर्ग, सुकृत, और परलोक में पूर्णतया विश्वास किया करते थे। निश्चय, बौद्ध-धर्म स्वर्ग का अस्तित्व स्वीकार करता है, किन्तु यह याद रखना होगा कि यह विचार गृहस्थियों तथा साधारण उपासकों तक ही सीमित है, क्योंकि भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिये निर्वाण-पद पाना प्रमुख कहा गया है, अतएव उनको स्वर्ग से कोई

सम्बन्ध नहीं रखना होता था। भगवान् गौतम ने कहा था कि एक पुण्यात्मा गृहस्थी एवं साधारण उपासक, अपने सुकर्मों के कारण परलोक में, अथवा किसी एक स्वर्गलोक में, देवता हो कर जन्म लेता है। अतः स्पष्ट है कि स्वर्ग का विधान केवल गृहस्थियों के लिये था।

बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार प्रजा को धर्म की राह पर लाने के लिये ही, सम्राट् इन पूर्वनिर्दिष्ट दिव्यरूपों का दर्शन दिखलाया करते थे। जिससे प्रजा के हृदय में, इन स्वर्गीय अनन्त सुखदायी उपहारों को पाने की आकांक्षा बलवती हो और वे इस हेतु दृढ़तापूर्वक धर्म पर आचरण करने लगें।

सम्राट् के इन दिव्यरूपों के विषय में हम यह भी निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इन दिव्यरूपों के प्रदर्शन का भाव, बौद्ध-ग्रंथ से ही सम्राट् ने लिया था न कि सम्राट् ने इनकी स्वयं योजना की थी।

Cambridge History, p. 505 लिखती है—यह (अशोक का धर्म) बौद्ध-धर्म न था।

"We hear from him nothing concerning the deeper ideas on fundamental tenets of that faith ; there is no mention of the four Grand Truths, the Eight-fold Path, the chain of causation, the supernatural quality of Buddha ; the word and the idea of Nirvana fail to occur and the innumerable points of difference which occupied the several sects are likewise ignored."

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अशोक ने बुद्ध के परम मुख्य सिद्धांत निर्वाण का कहीं भी अपने शिलालेखों में उल्लेख नहीं किया है, किन्तु क्या इसी आधार पर हम उन्हें बौद्ध-धर्मी न कहें? अथवा शिलालेखों में प्रचारित धर्म को बौद्ध-धर्म स्वीकार न करें? यह स्मरण

रहे कि सम्राट् स्वयं साधारण और एक गृहस्थ उपासक थे। यही कारण है कि उन्होंने गृहस्थ-धर्म, जैसा सिगालोवाद में दिया गया है, का ही सर्वत्र और सर्वस्थलों पर प्रचार किया है। सम्राट् साधारण वर्ग एवं मानव-मनोविज्ञान से भली प्रकार परिचित थे। सम्राट् जानते थे कि साधारण जनता "निर्वाण" के निगूढ़ और अमूर्त सिद्धान्त को नहीं समझ सकती, अतः जनता के ज्ञान के अनुरूप ही अशोक ने साधारण धर्म एवं स्वर्ग का प्रचार कर धर्म की श्रीवृद्धि की।

स्वर्ग तथा शिलालेखों का धर्म, (गृहस्थ-धर्म—सिगालोवाद-सुत्त का धर्म), बौद्ध-धर्म की अपनी ही वस्तु है, अतः यह शंका निर्मूल है कि शिलालेखों का धर्म हिन्दू-धर्म या बौद्ध-धर्म को छोड़, कोई अन्य वस्तु है।

सम्राट् ने जिस गृहस्थ-धर्म का शिलालेखों में प्रचार किया उसका उन्होंने स्वयं पालन किया—संसार में कितने ही उपदेशक पैदा होते हैं हुए हैं, और होंगे, किन्तु कोई भी उपदेशक, सम्राट् की बराबरी नहीं कर सकता। दुनिया में कितने ही ऐसे उपदेशक हैं, जो स्वयं तो नरकगामी तथा सम्राट् के शब्दों में आसीनवगामिनी हैं, किन्तु बाहर धर्म का पोथा लिये, दूसरों को उपदेश करते फिरते हैं। परन्तु सम्राट् की महत्ता प्रत्यक्ष आदर्श स्थापित करने में है। सम्राट् ने दूसरों के लिये जिन नियोगों अथवा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, स्वयं भी उन्हीं पर आचरण करते रहे।

इन्हीं दो विषयों, अर्थात् उपदेशक और आदर्श के रूप में ही सम्राट् की विशेषता सर्वोपरि है। कितने ही राजा और उपदेशक संसार में आये, और उन्होंने चाहा कि धर्म का प्रसार करें, किन्तु न कर सके, क्योंकि उनमें सत्य-धर्म, धर्म-कामना, धर्म-पराक्रम, धर्म-विधान, धर्म-वृत्ति, धर्म-प्रीति, एवं उत्साह की कमी थी। उनमें संयम और भावशुद्धि न होने के कारण, नीचता, तथा अपुण्य, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि दुष्कर्म प्रविष्ट हो आये, फलतः वे न तो धर्म

का प्रचार कर सके, और न स्वयं ही धार्मिक बन सके। सातवें स्तम्भ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, विगत काल के राजाओं ने चाहा कि किस प्रकार लोग (प्रजा) धर्म के साथ उत्कर्ष करें, उनमें धर्म का प्रचार कैसे हो। किन्तु उनकी इच्छा के अनुरूप प्रजा में धर्म का प्रकाश नहीं हुआ। इस पर देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, मुझे विचार आया, विगत काल में राजाओं ने इस प्रकार सोचा (अभिलाषा की) कैसे प्रजा धर्म के साथ उन्नति करे? किन्तु प्रजा में यथेष्ट रूप से धर्म का प्रचार न हुआ। फिर किस प्रकार प्रजा को पूर्ण रूप से धर्माचरण कराया जाय? किस प्रकार प्रजा की पूर्णता से धर्म के साथ उन्नति की जाय? मैं कैसे उन्हें धर्म के साथ उन्नत बनाऊँ? इस पर विचार कर देवताओं का प्रिय कहता है, मैंने सोचा, मैं धर्मानुशासनों को प्रकाशित कराऊँगा। मैं धर्म का विधान अथवा धर्म की शिक्षा दूँगा, लोग सुन कर अवश्य उन पर आचरण करेंगे, अपने को उन्नत बनायेंगे, और धर्म की उन्नति के साथ-साथ अपनी उन्नति करेंगे।"

इस विवरण से सुप्रकाशित है कि किस प्रकार सम्राट् धार्मिक उपदेशक के रूप में आगे आने की तैयारी कर रहे थे। अतः उपदेशक के रूप में सम्राट् ने तीन कार्य किये। प्रथम धर्मानुशासनों को प्रकाशित कराया, द्वितीय धर्म का विधान किया और पुनः धर्म की शिक्षा अथवा धर्मानुशासन का प्रचार किया। सम्राट् कहते भी हैं—"इस हेतु मैंने धर्म के सन्देशों को प्रकाशित करवाया है, कई प्रकार के धर्मानुशासनों का विधान करवाया है, जिससे मेरे पुरुष भी जो बहुत से मनुष्यों पर शासन करने के लिये नियत हैं (वे) इन धर्म-सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार करेंगे। रज्जुकों को भी, जो कई सौ सहस्र प्राणियों के ऊपर शासन करते हैं, मैंने शिक्षा दी है, जो मनुष्य धर्म में रत हैं

उन्हें उत्साहित करो, उपदेश दो।" इस प्रकार हम सम्राट् को एक सत्यनिष्ठ एवं परम उत्साहित उपदेशक के रूप में पाते हैं।

आदर्श रूप में सम्राट् ने जिन उपदेशों का विधान प्रजा के लिये किया, उसका पालन वे स्वयं करते रहे। सम्राट् हमेशा अपने भाई, बहिन, स्त्री, बच्चे तथा अन्य सम्बन्धियों के प्रति अपने लेखों में जिस प्रकार स्नेह तथा कल्याण के अभिलाषी रहे हैं, वह सर्वथा प्रकाशित है। ५वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "ये धर्म-महामात्र यहाँ (पाटिलपुत्र) तथा बाहरी नगरों में मेरे और भाइयों के हरम में तथा बहिनों के हरम में, और अन्य सम्बन्धियों के (हित) के लिये नियत हैं।" (मानसेरा)।

सम्राट् ने केवल लोगों को दान, धर्म, दया का आदेश न किया, अपितु स्वयं उन अनुशासनों पर आचरण किया—इसी हेतु सम्राट् ने विहार-यात्रा को धर्म-यात्रा में बदला था। इस धर्म-यात्रा में सम्राट् निम्न विषयों को किया करते थे--"ब्राह्मण, श्रमणों का दर्शन और उन्हें दान, वृद्धों का दर्शन और उन्हें सोने का दान, आदि"—आठवाँ शिलालेख, शाहबाज़गढ़ी।

इसी विषय पर १२वाँ शिलालेख भी देखिए—

"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा, सब धर्मों अथवा सम्प्रदायों, साधुओं और गृहस्थियों को दान तथा अन्य पूजा से सम्मान करता है (कर रहा है)।"—(गिरनार)।

सम्राट् ने सर्वकल्याण के सिद्धान्त का प्रचार किया था। उन्होंने यह आदेश दिया था—"सर्व भूतानां अक्षति च, समचेरां च, मादवं च" और इसका पूर्णरूप से पालन किया। देखिये, स्तम्भ-लेख दूसरा—"मैंने अनेक प्रकार से चक्षुदान दिया है, और जीवन-पर्य्यन्त तक के लिये मैंने दो-पद और चतुष्पद जीवों (मनुष्यों और पशुओं), पक्षियों, और जल-निवासियों के प्रति यथेष्ट और कई प्रकार की उदारता और अनुग्रह करवाया है।" देखिए ७वाँ स्तम्भ-लेख सम्राट् ने किस प्रकार जो कहा

वही किया। संसार में, स्वर्ग में, इहलोक में और परलोक में, सर्वत्र मनुष्यों की क़ीमत उनके शब्दों से आँकी जाती या निर्धारित की जाती है। बहुत कम लोग ही ऐसे मिलेंगे जो जिस बात को कहते हैं, उसका पालन करेंगे। और राजा लोग तो झूठ बोलना कुशल राजनीति के अन्तर्गत ही समझते हैं—ओरंगजेब तथा अन्य इसके प्रमाण हैं। किन्तु सम्राट् अशोक अपने शब्दों को ईश्वर मान कर उनका पालन एवं उन पर आचरण करते थे। जिस उदारता का उन्होंने प्रचार किया उसका स्वयं पालन कर दिखाया। देखिए—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, रेणु-रुक्ष मार्ग पर भी मैंने वट वृक्षों को लगवाया, कि वे मनुष्य और पशु दोनों को छाँह दें, आम्र-कुञ्ज लगवाये गये, प्रत्येक दो मील पर कुएँ खुदवाये, धर्मशालायें बनवाईं, और कई पानी पीने के स्थानों का निर्माण करवाया। क्यों? मनुष्यों तथा पशुओं के सुख के लिये।"

सम्राट् अपना, अपनी स्त्रियों, और बच्चों के धर्माचरण के प्रति नित्य व्यग्र रहते थे। सम्राट् की धर्मचारिता उनके निज शब्दों में सर्वथा सुव्यक्त है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, ये (धर्ममहामात्र) तथा अन्य धर्म के मुख्य कर्मचारी, मेरे और मेरी रानियों के दान का वितरण करने को नियत हैं। यहाँ (पाटलिपुत्र) और बाहर के नगरों के मेरे अन्तःपुरों में ये अनेक प्रकार के शांति-दायिनी धर्म-कार्य में लगे हैं। और रानियों तथा मेरे अलावा, वे मेरे लड़कों तथा दूसरी रानियों के लड़कों के धर्म, दान, आदि कार्यों में नियत हैं, जिससे धर्म-कार्यों की वृद्धि हो तथा धर्मानुष्ठि हो।"

सम्राट् स्वयं आदर्श रूप थे, इसका साक्षात्कार उन्हीं के शब्दों में कीजिए—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, जो कुछ सुकृत अथवा धर्म मैंने किया है उसी का लोगों (प्रजा) ने अनुसरण किया।" (७वाँ स्तम्भ-लेख) सम्राट् किस उत्साह और उमंग के

साथ धर्म-पालन कर रहे थे यह भी सुनिए—"मुझे अपने पराक्रम और कर्त्तव्य-पालन से कुछ भी संतोष नहीं है। मेरा परम कर्त्तव्य सर्वप्राणियों एवं जीवों का कल्याण है, (नास्ति हि कमतर सत्रलोक हितेन)।" इसी आदर्श को ले कर सम्राट् ६वें स्तम्भ-लेख में कहते हैं, "मैं केवल अपने सम्बन्धियों की ही सेवा नहीं कर रहा हूँ, अपितु सम्पूर्ण लोगों (प्रजा) चाहे वे सम्बन्धित हों चाहे किसी प्रकार के सम्बन्ध से दूर हों, सबकी सेवा में लगा हूँ, जिससे मैं उन सबका कल्याण कर सकूं अथवा सुख पहुँचा सकूँ! और इसी प्रकार मैं औरों को (सर्वहित करने के लिये) करने का अनुशासन करता हूँ।"

अपने धर्म पर आचरण करने के परिणाम को दिखलाते हुए सम्राट् चौथे शिलालेख में कहते हैं (गिरनार)—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से आज भेरी-घोष, (वीर-घोष) धर्म-घोष हुआ, और प्रजा को निम्न दिव्यरूपों, विमान, श्वेत हस्ती, अग्निस्कन्ध आदि (स्वर्गीय दिव्यरूपों) के दर्शन कराये गये।"

सम्राट् का सर्वमंगल सिद्धांत दूसरे शिलालेख में पूर्णतया चरितार्थ होता है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने सर्वत्र दो प्रकार के औषधालय अथवा चिकित्सालयों का निर्माण करवाया है। मनुष्यों के चिकित्सालय तथा पशुओं का चिकित्सालय सर्वत्र दोनों खोले हैं। मनुष्यों और पशुओं के लिये जो औषधियाँ गुणकारी हैं, वे सर्वत्र उन जगहों को भेजी गई एवं रोपी गई हैं, जहाँ वे नहीं पाई जातीं।"

सम्राट् ने जिस अहिंसा के सिद्धांत को प्रजा के सामने रखा, उसका उन्होंने स्वयं पालन कर, अपना आदर्श स्थापित किया—"यहाँ कोई जीव की हत्या कर बलि न दी जावे!..........पहले देवताओं के प्रिय के रसवाड़े में, प्रतिदिन कई सौ सहस्र जीव शोरबे के लिये (पशु) मारे जाते थे। किन्तु जब यह धर्म-लिपि लिखवाई, तब

से केवल तीन पशु—दो मोर और एक हिरण मारे जाने लगे। इनमें भी हिरण का मारा जाना नियमित नहीं है। भविष्य में ये तीन पशु भी न मारे जावेंगे।" (प्रथम शिलालेख, शाहबाज़गढ़ी)।

सम्राट् का आदर्श अभिनन्दनीय है। जिस सम्राट् की रसवती में प्रतिदिवस अनगिनती पशु बध किये जाते थे, उन्होंने अपने शब्दों की रक्षा, उपासना, एवं आदर्श स्थापित करने के लिये अपने मन, जिह्वा तथा इंद्रियों पर नियंत्रण कर, शोरवे का धीरे-धीरे परित्याग कर दिया। अतः सम्राट् धर्म का पूर्णतया विचार रखते थे, उनके विचार में धर्म-दान सबसे बढ़कर दान था (११वाँ शिलालेख)। इस धर्म-दान में निम्न बातें होती थीं—"दास और नौकरों के प्रति उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, साथी, सम्बन्धी, ब्राह्मण और श्रमण-साधुओं के प्रति उदारता और अहिंसा (पशुओं का यज्ञ-होम के लिये बलि न देना)।" इस धर्म-दान से तात्पर्य केवल सर्व-कल्याण से ही है, जिसका पालन सम्राट् स्वयं करते थे, और प्रजा को भी पालन करने का आदेश किया करते थे। सम्राट् धर्मानुशासन अथवा धर्म की शिक्षा और धर्मानुष्ठि को राजा का परम कर्त्तव्य मानते थे (शिलालेख ४, १३ और ७वाँ स्तम्भ-लेख) और इसी कारण धर्म-प्रचार करने के लिये वे जनपद के लोगों का दर्शन करने को निकलते थे और उचित समय को विचार उनसे धर्म जिज्ञासा भी किया करते थे। (आठवाँ शिलालेख, शाहबाज़गढ़ी)।

यहाँ पर एक बात हम कहना भूल गये हैं कि सम्राट् का धर्म जैसा कि हम देख चुके हैं, केवल व्यावहारिक ही न था, अपितु सैद्धांतिक भी था। प्राणियों में संयम अथवा अहिंसा का आधार सिद्धान्त पर ही है। दूसरा सिद्धान्त सहिष्णुता का था। इस सहिष्णुता का मूल वाक्-संयम दिया गया है। अर्थात् किसी की निन्दा और बुराई करने से बचे रहना। तथा बहुश्रुत होना, क्योंकि इससे ज्ञान की वृद्धि होती है। बहुश्रुत का परिणाम अन्ततः कल्याण अथवा सर्वकल्याण है।

एक और सिद्धांत "सार" (१३वाँ शिलालेख) दिया गया है। अर्थात् सब धर्मों के सुन्दर नियोगों का पालन जिससे सर्वमंगल की प्राप्ति हो। दूसरा सिद्धान्त धर्म-मंगल अर्थात् उन्हीं उत्सवों का करना जो धर्म से संयुक्त हो। अर्थात् जिससे प्राणीमात्र का मङ्गल हो। धर्म-मङ्गल के विषय में हम पहले कह चुके हैं (शिलालेख ६वाँ)। इसके अलावा धर्म-दान भी एक सिद्धान्त था, इसका प्रतिपादन भी सर्वहित के लिये दिया गया है। (११वाँ शिलालेख)—शिलालेख चतुर्थ में धर्म-शिक्षा के सिद्धान्त का विधान दिया गया है। एक दूसरा सिद्धान्त "पराक्रम" है, यह शब्द अशोक को बहुत प्रिय था इसका उन्होंने अनेक बार प्रयोग किया है। "पराक्रम" अर्थात् धर्म के उत्थान के लिये पूर्ण रूप से उद्योग करना। शिलालेख दसवाँ (कालसी) लिखता है—"जो कुछ भी वह (अशोक) पराक्रम करता है, इसीलिये कि सब बन्धन से मुक्त हो सकें। पाप ही बन्धन है। इसको (बन्धन से मुक्त होने को) बड़ा और छोटा कोई भी नहीं कर सकता, यदि वे पूरी तरह उद्योग अथवा पराक्रम न करें। इन दो (बड़े और छोटे) में से भी बड़ों के लिये यह अधिक कठिन है।" इसी हेतु सम्राट् गौण-शिलालेख प्रथम में सबको पराक्रम करने के सिद्धान्त का पालन करने को कहते हैं। "छोटे और बड़े सब पराक्रम करें।" इस पराक्रम को चरितार्थ करने के लिये स्तम्भ-लेख तृतीय में "परीक्षा" दी गई है। परीक्षा की हम पहले ही विवेचना कर चुके हैं। "सब उत्साह करें"—देखिए स्तम्भ-लेख प्रथम। इसी पराक्रम के लिये 'निहति' का सिद्धान्त दिया गया है। अर्थात् अपने भले-बुरे कर्मों पर दृष्टि रखना। अन्य सिद्धांत धर्म-विजय, धर्म-घोष, धर्म-दान धर्म-कामना आदि हैं। राजा के लिए एक और सिद्धांत धर्म-यश (शिलालेख १०वाँ) दिया गया है। अर्थात् प्रभुता ही में या विजय आदि से ही सच्चा सुयश नहीं प्राप्त होता, अपितु सत्य सुयश धर्म से मिलता है, जिससे प्रजा का कल्याण हो एवं विश्व का कल्याण हो। सहजोबाई (निर्गुण सन्त) के शब्दों में

सम्राट् प्रभु को चाहते थे प्रभुता को नहीं। वे उन नर-पिशाच नारकी राजाओं की भाँति अपनी 'प्रभुता' के लिये 'प्रभु' को भुलाकर प्राणियों का नाश और उनका रक्त बहाना तथा अपकार करना नहीं चाहते थे। कितने राजा इतिहास के पन्नों में अपनी पाशविक प्रभुता का परिचय दे गये हैं और दे रहे हैं। इसी अधर्म को देख कर सहजोबाई ने अपने संत-शब्दों में ऐसे राजाओं और मनुष्यों का चरित्र एक ही पंक्ति में पूर्ण अंकित किया है—"प्रभुता को सब चहत हैं प्रभु कु चहैन कोय।" किन्तु सम्राट् का चरित्र सर्वशः उज्ज्वल था, वे प्रथम प्रभु को चाहते थे और तत्पश्चात् प्रभुता को। उन्होंने जितने भी कार्य किये सब धर्म के लिये (शिलालेख १०वाँ)। उनकी प्रत्येक बातें धर्म का शृङ्गार किये थीं। इसके प्रमाण में निम्न वस्तुएँ दी जाती हैं—"धम्म-लिपि या धर्म-लिपि, धर्म-नियम (७वाँ स्तंभ-लेख)। धर्म-श्रवण, धर्म-घोष (शिलालेख चतुर्थ)। धर्म-स्तंभ (७वाँ शिलालेख)। सम्राट् सैनिक विजय और प्रभुता के कीर्तिस्तम्भों को अन्य राजाओं की भाँति स्थापित करने के पक्ष में न थे। उनके मतानुसार सच्ची प्रभुता, कीर्ति और सुयश धर्म पर अवलंबित थे। धर्म-सम्बन्ध, धर्म समविभाग (११वाँ शिलालेख), धर्म-नुग्रह (नवाँ शिलालेख) तथा धर्म-दान धर्म-महामात्र, धर्मयात्रा (आठवाँ शिलालेख)। इन सब का स्तभ लेख प्रथम, सामासिक उल्लेख देता है, "मेरा धर्मविधान इस प्रकार है (मैं चाहता हूँ) कि धर्म से ही पालन हो, धर्म का ही शासन हो, धर्म का ही सुख हो, और धर्म की ही रक्षा हो अथवा धर्म से ही रक्षा हो।" एक शब्द में अशोक पूर्ण धर्म थे, और सत्य-धर्मावतार थे।

सम्राट् का धर्म-ज्ञान और धार्मिक सहिष्णुता—इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले हम यहाँ पर सम्राट् के धर्म-ज्ञान तथा धार्मिक सहिष्णुता पर दो शब्द और कह देना चाहते हैं। यद्यपि सम्राट् के धर्म की विवेचना करते हुए हमें यथेष्ट रूप से उनके धर्म-ज्ञान

एवं सहिष्णुता का आभास मिल चुका है। सम्राट् के लिये मैंने निर्गुण संत की उपाधि प्रयुक्त की है। इसका कारण सरल शब्दों में यही है कि वे अपना धर्म-सिद्धांतों के आधार पर प्रचार कर रहे थे। उन्होंने साम्प्रदायिक होने पर भी, धर्म-प्रचार करते समय साम्प्रदायिकता की बू तक नहीं आने दी है। वे तो सर्व-कल्याण के अभिलाषी थे, अतः उनमें तादात्मता एवं एकरूपता का भाव आधिपत्य जमाये था। उनका धर्म-ज्ञान प्रच्छन्न था, वे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देखते थे, सब मनुष्यों में उन्हें ब्रह्म का रूप ही दिखलाई देता था, अतः सब मनुष्यों एवं पशुओं तथा प्राणीमात्र की सेवा अथवा उपासना में ही वे भगवान् की उपासना तथा धर्म की आराधना का आनन्द पाते थे। इसी हेतु उन्हें सम्प्रदाय-विशेष से आसक्ति न थी, और यही कारण था कि वे सब सम्प्रदायों को प्रेम की दृष्टि से देखते थे। निर्गुण संत रामानंद के शब्दों में सम्राट् का सिद्धांत था—

"जहँ जइए तहँ जल पखान।
पूरि रहे हरि सब समान।"

अर्थात् "जहाँ भी कोई जाता है (तीर्थयात्रा आदि से तात्पर्य है) वहाँ केवल मूर्ति और पानी (तालाब) है। किंतु परमात्मा नित्य है, सर्वत्र है।" अतः जिस सन्त अशोक के ऐसे भव्य एवं निर्मल विचार हों वह क्योंकर किसी सम्प्रदाय तथा अन्य किसी धर्म का विरोधी हो सकता है। सम्राट् पूर्ण ज्ञानी थे, वे ही प्रथम एवं प्राचीनतम निर्गुण संत हुए हैं जो देवता तथा धर्म को किसी मन्दिर, अथवा गिर्जा में आबद्ध नहीं समझते थे। वे तो सर्वत्र और सर्वभूतों अथवा प्राणियों में उसको देखते थे, अतः उनको किसी मन्दिर या गिर्जा एवं धर्म अथवा सम्प्रदाय की विशेष आवश्यकता न थी। क्या कोई कह सकता है कि "नामा" का सिद्धांत, कि हिन्दू और मुसलमान दोनों अंधे हैं, क्योंकि वे मन्दिर और मसजिद में पूजा करते हैं, जब कि ब्रह्म कहीं

भी नहीं है। अर्थात् सर्वत्र है सर्वभूतों में है।[1] फलतः सम्राट् का अद्वितीय ज्ञान सब को एक भाव से देखता था।

सम्राट् की सहिष्णुता के प्रमाण—जैसा कि शिलालेखों से उपलब्ध होता है—प्रथमतः अशोक ने दूसरों पर कभी भी अपने व्यक्तिगत धर्म का दबाव न डाला, (औरङ्गजेब से तुलना कीजिए, जिसने अपने व्यक्तिगत धर्म के कारण हिंदुओं को बुरी तरह सताया)। यद्यपि वे अपने धर्म के महान प्रेमी थे, देखिए—"देवताओं का प्रिय, मगध का सम्राट् सङ्घ को प्रणाम करता है। उनके स्वास्थ्य और सुख का वह अभिलाषी है। तत्पश्चात् वह उन्हें इस प्रकार संबोधित करता है—भद्रगण तुम्हें विदित है कि मेरी बुद्ध के प्रति कितनी भक्ति और श्रद्धा है तथा धर्म और संघ पर मेरी कितनी श्रद्धा है।" (भाबरु या वैराट शिलालेख, नं० २)। पुनः ७वें शिलालेख में सम्राट् ने विभिन्न सम्प्रदायों के बीच की विभिन्नता को मिटा कर यह आज्ञा प्रकाशित की है—(देवेन प्रिये प्रियदसि रज, सव्रत्र इछति सत्र पषड बसे यु) कि प्रत्येक स्थान पर सभी सम्प्रदाय रह सकते हैं। क्योंकि सभी परमात्मा के एक रूप हैं और सभी उसे पाने के लिये संयम तथा आत्मशुद्धि किया करते हैं (सत्रे हि ते संयम भावशुद्धि च इछति)। सम्राट् दूसरे धर्मों का आदर करने में ही अपने धर्म की बड़ाई मानते थे। तथा दूसरे धर्मों की निन्दा करने में वे अपने धर्म का अपकर्ष करना समझते थे। (१५वाँ शिलालेख)। अपनी धर्म-यात्राओं में सम्राट् स्वयं, ब्राह्मणों, श्रमणों का दर्शन किया करते थे, तथा उनका सम्मान कर, दान दिया करते थे (आठवाँ शिलालेख)। सम्राट् के शिलालेखों में सहिष्णुता का मधुर सन्देश निश्चल ध्वनि में

---

[1] नामा ये एक बड़े निर्गुण संत हुए हैं—"हिन्दू अंधा तुरकू काना दुहूं ते जानि सयाना। हिन्दू पूजै देहुरा मुसलमान मसीत। नामा सोई सेविआ जह देहुरा न मसीत।"

प्रतिध्वनित होता सुनाई पड़ता है। तीसरा शिलालेख कहता है, "माता-पिता की सेवा करना स्तुत्य है। मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण और श्रमण के प्रति उदारता, अथवा आदर-भाव रखना उत्तम है, अथवा स्तुत्य, है।" इसी ध्वनि में नवाँ शिलालेख कहता है, "मङ्गल अवश्य करने चाहियें, किन्तु ये बहुत कम फल देने वाले हैं। किन्तु धर्म-मङ्गल से बहुत लाभ होता है। इसमें ये बातें होती हैं—दास और नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियों में संयम अथवा अहिंसा, ब्राह्मण और श्रमण साधुओं के प्रति उदारता। ये तथा अन्य बातें भी धर्म-मङ्गल हैं।" अतः सुप्रकाशित है कि ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता दिखलाना, धार्मिक लक्षण माना गया है। इसी प्रकार चौथे शिलालेख में ब्राह्मणों, श्रमणों आदि के प्रति दुर्व्यवहार करने को अधर्म समझा गया है। चौथा शिलालेख लिखता है, "बहुत समय व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए, कि जीवों की हिंसा, प्राणियों के प्रति क्रूरता और सम्बन्धियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों के प्रति अनादर बढ़ता ही गया।" और शिलालेख अन्ततः कहता है कि धर्म-प्रचार के कारण अब ब्राह्मणों और श्रमणों आदि का आदर बढ़ने लगा है। इसी प्रकार ७वें शिलालेख में ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति दुर्व्यवहार करने की भर्त्सना की गई है। तथा उचित व्यवहार करने का आदेश है।

सम्राट् प्राग्भूत बुद्ध अथवा बोद्धिसत्व के उपासकों का भी आदर करते थे। अशोक ने बुद्ध-कोनकामन के स्तूप को बड़ा बनवाया (द्विगुणित किया) था, तथा उन्होंने स्वयं बुद्ध-कोनकामन की यात्रा भी की। (निगलिव, स्तम्भ-लेख नं० २)।

अशोक, निर्ग्रन्थ आजीविक के प्रति उसी प्रकार उदार थे जैसे और सम्प्रदायों के प्रति। उनका सब धर्मों के प्रति समान भाव था। तथा राजकीय संवर्धन एवं रक्षण की निर्विकारता सर्व-पाषंडों के लिये निर्विशेष थी। उन्होंने आजीविक और निर्ग्रन्थों के लिये उदारतापूर्वक

गुफायें दान की थीं। निगरोध-गुफा-लेख में सम्राट् कहते हैं—"अभिषिक्त होने के १२वें साल, प्रियदर्शी राजा ने यह निगरोध-गुफा आजीविकों को दान दी।" इसी प्रकार खलाटिक पहाड़ी गुफा भी अभिषेक के १२वें साल आजीवकों को मिली थी। अतः सुप्रकाशित है कि राजकीय उपहार का बंटवारा सबके लिये (ब्राह्मण, श्रमण, बुद्ध, निर्ग्रन्थ, आजीविक)—बराबर था। (देखिए, आठवाँ शिलालेख)। इसी प्रकार सर्व धर्मों अथवा सम्प्रदायों की श्री-वृद्धि के लिये अशोक ने धर्म-महामात्रों की नियुक्त की थी। पाँचवें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "पहिले धर्म-महामात्र नियत न थे। किंतु अभिषिक्त होने के १३वें वर्ष मैंने धर्म-महामात्रों को नियत किया है। वे सब सम्प्रदायों के लिये नियत हैं। तथा वे धर्म की अभिवृद्धि एवं धर्म-भक्तों की रक्षा के हेतु नियुक्त किये गये हैं। वे यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिकों, पैठानिकों और पश्चिमी सीमान्त पर रहने वाले अन्य लोगों के लिये नियत हैं। वे आर्यों और भृत्यों, ब्राह्मण, साधुओं, गृहस्थियों, असहायों, वृद्धों, और अन्य धर्म-सेवियों के सुख और रक्षा के हेतु नियत हैं।" पुनः ६वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "मेरा परम कर्त्तव्य सब लोगों की भलाई करना है।" इसी तरह दसवें शिलालेख में सम्राट् उचारते हैं—"जो कुछ भी उद्योग या पराक्रम मैं करता हूँ, वह सब परलोक के लिये, तथा सर्वहित के हेतु जिससे सब लोग पाप-मुक्त हो सकें।" ग्यारहवें शिलालेख में सम्राट् धर्मदान को इस प्रकार देते हैं, "दास और नौकरों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित, ब्राह्मण, और श्रमण, साधुओं के प्रति उदारता और अहिंसा।" अतः निशंक हो कह सकते हैं कि सम्राट् की धार्मिक सहिष्णुता और ज्ञान अद्वितीय एवं पारलौकिकी था।

सम्राट् की धार्मिक सहिष्णुता पर एक दृष्टि—सम्राट् की इस सहिष्णुता की समीक्षा करते हुए श्री राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं कि अशोक-कालीन विभिन्न धर्म सब एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखायें थीं,

वे यहूदी, जोरास्टर (Zoroaster) या इस्लाम धर्मों की तरह अलग-अलग न थे। अतः सम्राट् का अन्य धर्मों के प्रति उदार भाव रखना कोई कठिन एवं विशेष श्रेय का विषय न था।[1] मुकर्जी की यह समीक्षा सम्राट् की असीम उदारता तथा तादात्म-भाव पर ही ठेस नहीं लगाता अपितु यह उनके महान् देवोपम सिद्धान्त—"नास्ति हि क्रमतर सवलोक हितेन"—के महत्त्व को भी क्षीण करता है। स्मरण रहे कि सम्राट् के समय में ही जब एक ही बौद्ध-धर्म में भेद होने के कारण परस्पर विरोध हो चला था, (महावंश, तृतीय महासभा प्रकरण पाँचवाँ) तो अन्य सम्प्रदायों और बौद्ध-धर्म में कितना विरोध न होता होगा?

बौद्धों के वेद विरुद्ध तथा अनीश्वरवादी होने के कारण ब्राह्मण और बौद्धों में विरोध होना स्वाभाविक था। इस कट्टर विरोध का इतिहास हम शंकराचार्य तक अंकित कर सकते हैं। हर्ष के समय, जैसा कि ह्वेनसांग के वर्णन से प्रकाशित है, बौद्ध-धर्म तथा ब्राह्मण-धर्म का पारस्परिक विरोध इतना बढ़ चला था, कि ब्राह्मणों ने बौद्ध-धर्म का अन्त करने के हेतु उसके राजकीय रक्षक और पोषक हर्ष का तक निधन करना चाहा, किन्तु इसमें ब्राह्मण सफलीभूत न हो सके। इसी प्रकार बौद्ध-धर्म के विरोधियों ने ह्वेनसांग को भी मारना चाहा था। यही कारण है कि सम्राट् हर्ष ने ह्वेनसांग के प्रति न्यून से न्यून दुर्व्यवहार का दंड फाँसी घोषित किया। अन्ततः शंकराचार्य ने तो बौद्ध-धर्म को समूल ही उखाड़ फेंका था।[2] इसी भाँति जैन और ब्राह्मणों में पारस्परिक विरोध रहा करता था, यह बात पुष्यमित्र सुङ्ग के जैनियों का निर्दयतापूर्वक बध करने से प्रमाणित होती है। पुनः जैनियों और आजीविकों के मध्य महाबीर और गोसाल के समय से ही

[1] R. K. Mukerji's Asoka, pp. 65, 66.

[2] यही कारण है कि आज बौद्ध-धर्म भारतीय होने पर भी भारत में नहीं पाया जाता।

विरोध उत्पन्न हो गया था। क्योंकि आजीविकों का आचार्य गोसाल भले-बुरे कर्मों को भाग्य पर आरोपित कर, मनुष्यों को उसका (अर्थात् भले-बुरे कार्यों का) ज़िम्मेदार न समझता था। परन्तु महावीर इसके विरोध में थे। अतः यह परस्पर का विरोध, बौद्ध, जैन, आजीविक, और ब्राह्मणों में पाया जाना स्वाभाविक था, क्योंकि एक दूसरे के सिद्धान्त विभिन्न थे। विदित हो कि तुलसीदास के समय में भी प्रत्यक्ष एक ही ब्राह्मण-धर्म—शैव और वैष्णवों में घोर विरोध रहता था। वे लोग आपस में बहुधा लड़ा करते थे। इसी कारण तुलसीदास को राम को शिव का भक्त और शिव को राम का भक्त प्रदर्शित करना पड़ा था। आजकल भी आर्य्य-समाज और ब्राह्मण-धर्म का पारस्परिक विरोध प्रत्यक्ष है। अतः जब शैव और वैष्णव तक परस्पर एक दूसरे के मरणान्तक विरोधी थे, तो बौद्धों, ब्राह्मणों आदि सम्प्रदायों में, यहूदी, ईसाई तथा मुसलमानों का-सा पारस्परिक विरोध पाया जाना असंभव नहीं है।[1] किन्तु यह सम्राट् की महानता थी एवम् विश्व-कल्याण भावना थी जो सब धर्मों तथा पाषंडों को एक ही प्रेम-सूत्र में ग्रंथित कर सकी।

सम्राट् की सहिष्णुता पर कुछ अन्य आक्षेप—प्रथम शिलालेख को पढ़ कर कोई यह कह सकता है कि सम्राट् ने अहिंसा के हेतु यज्ञ-होमादि को रोक कर ब्राह्मणों से असहिष्णुता दिखलाई। किन्तु सम्राट् पर यह दोष लगाना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि सम्राट् ने ब्राह्मणों पर

[1] साम्राज्य के शिलालेखों की शैली से सुप्रकाशित होता है कि अशोक-कालीन विभिन्न संप्रदायों में परस्पर विरोध रहा करता था, "देवेन प्रिये प्रियदशि रज सव्रत्र इछति सत्र पषड वसेयु।" (७वाँ स्तम्भ-लेख) इसी प्रकार १२वाँ शिलालेख कहता है कि किसी की निन्दा न करो, किन्तु सब की सारवृद्धि हो ऐसा उपक्रम करो, "देवन प्रिये मञति अथ किति सलवढि, सिय सत्र पषडन ति सलवुढि तु वहुविध त चु इयं मुलेअ' वचुगति किति, अत प्रषंडपुज व परषडगरह व नो सिय अपकरणसि नहुक व सिय तसि।"

इस बात का कभी दबाव न डाला। मालूम होता है कि यज्ञ-होमादि ब्राह्मण लोग उस समय करते ही रहे। जिसमें पशुओं की बलि दी जाया करती थी। इसका प्रमाण ५वाँ स्तम्भ-लेख है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष मैंने निम्न पशु-पक्षियों के मारने का निषेध किया—तोता, मैना, अरुण, हंस, नन्दीमुख, बारहसिंघा आदि", अतः इससे प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण लोग अपने यज्ञों में पशुओं का बलिदान करते ही रहे, नहीं तो सम्राट् को कुछ चुने हुए पशु-पक्षियों के न मारने की घोषणा क्यों प्रेषित करनी पड़ती? फिर भी सम्राट् ने ब्राह्मणों पर इस बात का कोई रोष न प्रकट किया। उनके शिलालेख ब्राह्मणों के प्रति प्रथमतः उदार हैं। तथापि यदि उन्होंने अहिंसा का प्रचार कर हिंसा का पूर्ण निषेध भी कर दिया हो, तो इससे सम्राट् की सहिष्णुता पर कोई दोष नहीं आ सकता, क्योंकि अहिंसा एवम् सर्वभूतों पर दयाभाव का ईश्वरीय सिद्धान्त, ब्राह्मण-धर्म स्वयं प्रचार करता है। महाभारत शांतिपर्व, राजधर्म प्रकरण ५६, ४०, १४२—अहिंसा, सत्य, असत्य, वृद्धों की सेवा, दान, पवित्रता, पौरुष, प्राणियों पर दया (अनुकम्पा—सर्वभूतानुकम्पा), का प्रचार करता है। इसी भाँति मुण्डकोपनिषद् कहता है—"प्लवाह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त भवरंयेषु· कर्म एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढा जरा मृत्युन्ते पुनरे वापियन्ति ॥७॥ (परिच्छेद २)। इस प्रकार स्वयं ब्राह्मण-ग्रंथ यज्ञ आदि कर्म को अपरविद्या कहता है। तथा यह उपनिषद् भर्त्सना करते हुए कहता है कि जो यज्ञादि नाशवान कर्मों को अथवा कर्म-मार्ग को कल्याण देनेवाला समझते हैं वे मूर्ख हैं, उनका हर्षित अथवा प्रसन्न होना निरर्थक है, क्योंकि वे बार-बार जरा-मरण (जरामृत्युम्) को प्राप्त होते हैं। इसी भाँति वृहदारण्यकोपनिषत् (१,४-४०)—बिना आत्म-ज्ञान के यज्ञ करने वालों को अज्ञानी समझता है। अतः कह सकते हैं कि सम्राट् ने यज्ञ आदि कर्मों एवम् पशुओं की हिंसा का निषेध कर ब्राह्मणों के प्रति असहिष्णुता नहीं

दिखलाई, अपितु ब्राह्मणों के ही उच्च तथा निगूढ़ उपनिषदों के सिद्धान्त का प्रचार किया।

९वें शिलालेख में मङ्गलों का निषेध किया गया है तथा उनकी जगह धर्म-मङ्गल का विधान कहा गया है, इस पर कुछ लोगों की यह सम्मति है कि यह कार्य ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध था।[1] किन्तु हमारी सम्मति में यह कहना सत्य नहीं प्रतीत होता। ब्राह्मण-धर्म अपने सत्य रूप में सर्व-प्रकार के मिथ्या-धर्मों से अपर है। मिथ्या-धर्म का आधार अशिक्षित समाज है। और यह धर्म आश्रय भी उन्हीं के पास पा सकता है। यही सम्राट् ने भी कहा है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि लोग बहुत से मङ्गल मनाते हैं। बीमारी की अवस्था में, ब्याह के समय, जन्म-दिवस पर, विदेश जाते समय, इन तथा अन्य अवसरों पर लोग अनेक प्रकार के मङ्गल मनाते हैं। किन्तु ऐसे अवसर पर माताएँ और स्त्रियाँ, अनेक प्रकार के निरर्थक मङ्गल किया करती हैं। ......ये बहुत कम फल देने वाले हैं। किन्तु धर्म-मंगल से बड़ा लाभ होता है। धर्म-मङ्गल में ये बातें हैं—नौकरों और दासों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं की सुश्रूषा, अहिंसा, ब्राह्मण और श्रमणों के प्रति उदारता आदि।"—(शिलालेख नवाँ)। इस वृत्त से यह भी स्पष्ट है कि ब्राह्मण, क्षुद्र मङ्गलों से अछूते थे, नहीं तो ब्राह्मणों के प्रति "उदारता दिखलाने" को धर्म-मङ्गल के अंतर्गत करने से कोई अभिप्राय नहीं रह पाता। इसके अतिरिक्त इन क्षुद्र मङ्गलों का निषेध किसी के प्रति विरोध उत्पन्न करने के लिये न था और न उसमें असहिष्णुता का भाव ही मिलता है, क्योंकि सम्राट् के समय बहुत से मिथ्या धर्म थे, जैसे—भूत-प्रेत, यक्ष, किन्नर, अश्व, कुत्ता आदि की उपासना जाग उठी थी, और इन्हीं उपासनाओं के कारण समाज में क्षुद्रधर्म का प्रचार हो रहा था। इसलिये सम्राट् उन्हें समझा रहे थे कि, "मङ्गल अवश्य करने चाहिये, किन्तु मिथ्या-मङ्गल (धर्म-रहित

[1] देखिए आर० के० मुकर्जी, अशोक, पृष्ठ ६६

मङ्गल) बहुत कम फलदायक हैं" और यदि वे सच्चा सुख चाहते हैं तो धर्म-मङ्गल करें क्योंकि उसमें "इहलोक में भी सिद्धि प्राप्त होती है और परलोक में अनंत पुण्य मिलता है।" इस धर्म-मङ्गल में ब्राह्मणों के प्रति सेवा का उल्लेख है, फिर हम कैसे कहें कि वे ब्राह्मणों के प्रति अनुदार थे। अतः सम्राट् ने धर्म-शिक्षक के रूप में प्रजा की कुरीतियों को मिटा कर उन्हें सत्य-धर्म का मार्ग दिखलाना चाहा। ब्राह्मणों के अतिरिक्त इस धर्म-मङ्गल का निषेध किया जाना, और सम्प्रदायों के प्रतिकूल भी न था। सम्राट् ने दोनों मङ्गलों (क्षुद्र तथा धर्म-मङ्गल) में से किसी पर भी आचरण करने का भार लोगों की अभिरुचि पर ही छोड़ दिया। सम्राट् ने धर्म-मङ्गल पर आचरण करने का किसी पर ज़ोर न दिया, किन्तु इतना अवश्य कह दिया कि धर्म-मङ्गल के अतिरिक्त अन्य मङ्गल सन्देहात्मक, (अर्थात् उनसे अर्थ की सिद्धि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है), तथा केवल इहलौकिक है जब कि धर्म-मङ्गल समय से अभिन्न है तथा उसका फल इहलोक और परलोक दोनों में प्राप्त होता है। (नवाँ शिलालेख, कालसी)।

सम्राट् की सहिष्णुता के प्रति एक और विचारणीय प्रश्न है। सम्राट् ने जब कि पशुओं, प्राणिओं, को हिंसा का पूर्ण निषेध करवा दिया था, तब मनुष्यों को फाँसी दिया जाना नित्य ही रहा। केवल इन फाँसी वाले अपराधियों को तीन दिन आराम के मिलते थे। चतुर्थ स्तंभ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "बन्धन में पड़े हुए फाँसी के कैदी, जिनका न्याय हो चुका है, मैंने उनको तीन दिन आराम के दिये हैं। इन तीन दिनों के भीतर उनके संबन्धी रज्जुकों को फिर से न्याय करने के लिये कह सकते हैं, और यदि ऐसे कैदियों का कोई सम्बन्धी न हो, जो उनके न्याय की फिर से अर्ज करे, तो वे कैदी अपने परलोक के सुख हेतु दान देंगे, क्योंकि मेरी अभिलाषा है कि तीन दिन आराम के बीत चुकने पर, वे परलोक (स्वर्ग) प्राप्त कर सकें।" अत: सर्वथा प्रकाशित है कि सम्राट् ऐसे मनुष्यों के प्रति भी यथेष्टतया उदार

थे। उन्होंने मनुष्यों और पशुओं के प्रति कोई भेद-भाव न रक्खा था, किन्तु मनुष्यों ने स्वयं अपने और पशुओं के मध्य भेद खड़ा किया था। कहना पड़ेगा कि मनुष्य पशुओं से भी हीन है, नीच है। अपितु पशुओं को नीच कहना हमारी दुर्बलता है और अपनी ही नीचता एवं असूक्ष्मदर्शिता है। संसार में, जितने व्यभिचार दुर्व्यवहार, तथा भीषण कार्य हुए हैं, उन सब का उत्तरदायी मनुष्य है, और मनुष्यों की ही पाशविकता है। पशुओं ने संसार का कभी कोई अनिष्ट न किया, अतः सम्राट् का उनके प्रति पूर्ण उदार होना पक्षपात नहीं है, किंतु मनुष्यों के प्रति सम्राट् का फाँसी के दण्ड को बन्द न करना, सम्राट् का मनुष्यों और पशुओं के मध्य का पक्षपात अथवा समभाव के न होने के कारण नहीं, अपितु मनुष्यों की निजी नीचता और स्वभावजनित हिंस्र तथा पैशाचिक व्यवहार का कारण है। सम्राट् ने अपनी ओर से सहानुभूति में कोई कमी कभी भी किसी प्रकार न दिखलाई—उन्हें फाँसी वालों के लिये सर्व प्रकार की सुविधा का पूर्ण विचार था। वे नहीं चाहते थे कि कोई फाँसी पावे, इसीलिये तो चतुर्थ लेख फिर से न्याय करवाने की अनुज्ञा प्रदान करता है। फिर भी यदि कोई फाँसी से न बच पावे तो उनके लिए दान करने का विधान दिया गया है, सम्राट् उनसे दान करवाते हैं, क्योंकि सम्राट् सर्व-हितकारी थे, अतः फाँसी के कैदियों को कम से कम वे स्वर्गीय सुख दिलाना चाहते थे। इसी उदारता के कारण सम्राट् दंडितों को अपने राज्याभिषेक के दिवस पर छोड़ भी दिया करते थे। (स्तंभ-लेख पाँचवाँ)। निष्पादन करते हुए सम्राट् के ही शब्दों में, सम्राट् का सर्व-कल्याण से बढ़ कर और कोई कार्य न था (नास्ति हि कमतर सत्रलोक हितेन)। उनको सर्व-प्राणियों (सर्व-भूतों) के त्राण (मङ्गल) करने में ही सत्य-धर्म की अनुभूति मालूम हुई। उनके पावन शब्दों में—"सर्व-भूतानां अछति च, सयमं च, समचेरां च, मादवं च" ही धर्म एवं उपासना का मूल मन्त्र था।

छठा प्रकरण

बौद्ध-धर्म के प्रचारक अशोक

बौद्ध-धर्म—ईसा से कोई पाँच शताब्दी पूर्व लुम्बिनी बन में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। संसार की दुःख जनित उष्ण उसाँसों से इस महापुरुष का जी घबड़ा उठा, और अंततः एक दिवस विश्व-कल्याण के उत्तरदायित्व का भार अपने कोमल स्कंध पर ले कर अर्द्ध-रात्रि के मध्य अपनी नव-प्रसूता सोई हुई वल्लभा और स्नेह के पुतले राहुल को छोड़ कर सिद्धार्थ घर से निकल गये। विश्वशांति और मङ्गल की खोज में इस महापुरुष को अपूर्व कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। शाक्य महामुनि के इस अद्वितीय त्याग का सम्पूर्ण विश्व ने लाभ उठाया। इस महाऋषि को गया के पास एक बट-वृक्ष के नीचे अखंड ज्ञान की प्राप्ति हुई। सिद्धार्थ अब बुद्ध हुए। बुद्ध होने के अनन्तर भगवान् ने सर्वमङ्गल की अभिलाषा की। गौतम प्रथम सारनाथ (बनारस से नौ मील की दूरी पर स्थित है) में आये, और इस प्रकार अपने शिष्यों को संबोधन किया, "हे भिक्षुगण! विश्व-मङ्गल और कल्याण के लिये इधर-उधर भ्रमण करो। किन्तु दो एक ही मार्ग से न जाना। हे भिक्षुगण, तुम सर्व-मांगलिक, सर्व-उत्तम सिद्धांत का सर्वत्र प्रचार करो। पुण्यमय (आतपरहित, और विशुद्ध जीवन का सर्वत्र विस्तार करो।" (महावंश, पृष्ठ १८८)।

इस विवरण से सर्वथा स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म का प्रचार बुद्ध से ही प्रारम्भ हो गया था। भगवान् के जीवन-काल में ही बौद्ध-धर्म सर्वत्र अपना प्रसार पा रहा था। किंतु उसका अभी संपूर्ण भारत एवं विदेशों में पूर्णता से विस्तार न हो सका था। इस पूर्णता का श्रेय भी प्रथमतः सम्राट् अशोक को ही प्राप्त है। सम्राट् की इस धर्म-पूर्णता के प्रति

महावंश लिखता है—"दूसरी महासभा के आचार्यों ने भविष्यवाणी की थी कि सम्राट् अशोक धर्मसंपन्न और धर्म-रक्षक होंगे।" (महावंश, प्रकरण पाँचवाँ)।

बौद्ध-अशोक—पिछले दो प्रकरणों से भली प्रकार मालूम हो चुका है कि सम्राट् बौद्ध-धर्मी थे। तथा अशोक ने बौद्ध-धर्म के साधारण उपासकों अथवा गृहस्थियों के धर्म को ही अपना धर्म अंगीकृत किया। कहना न होगा कि सम्राट् का धर्म सब धर्मों का सार मात्र ही न था, तथा सर्व-ग्रहणीय एवं सर्व-धर्मान्तर्गत सुसिद्धांत ही न थे, अपितु बौद्ध-धर्म के निजी सिद्धांत भी थे, जिनका सदुपदेश स्वयं भगवान् गौतमने सिगालो को दिया था। अतः इन्हीं बौद्ध-सिद्धान्तों का सम्राट् ने सर्वत्र प्रचार किया। इन सिद्धांतों अथवा बौद्ध-धर्म के प्रचार में जो उत्साह एवं पराक्रम सम्राट् ने प्रदर्शित किया, वह अद्वितीय है। इस 'पराक्रम' का ब्रह्मगिरी शिलालेख प्रथम में निर्देश किया गया है। अतः इस प्रकरण में हम सम्राट् के इसी धर्म प्रचार के पराक्रम का वर्णन करेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि बौद्ध-धर्मप्रचारक के रूप में सम्राट् ने कितना उद्यम, उत्साह, एवं पराक्रम किया।

बौद्ध-धर्म के प्रचारक अशोक—सम्राट् की मौलिकता तथा दूरदर्शिता प्रशस्त एवं सराहनीय है। धर्म की अभिवृद्धि किस प्रकार हो सकती है, तथा वह किन कारणों से चिरजीवी हो सकता है, इस विषय का सम्राट् को पूर्ण ज्ञान था। इसका परिचय हमें ७वें स्तम्भ-लेख से प्राप्त होता है। सम्राट् विचारते हैं, "किस प्रकार लोगों में धर्म की यथेष्ट उन्नति हो सकती है। मैं किन कारणों से उन्हें धर्म के साथ उन्नत बना सकता हूँ। इस पर विचार कर, देवताओं का प्रिय कहता है, मुझे ज्ञान हुआ कि मैं धर्मानुशासन प्रकाशित करूँगा, मैं धर्म की शिक्षा दूँगा, और लोग इन धर्म सन्देशों को सुनकर उन पर आचरण करेंगे, अपना उत्कर्ष करेंगे और धर्माचरण करते हुए

आगे बढ़ेंगे।.........देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, मैंने यह विचार कर धर्म-स्तम्भ स्थापित किये, धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की और धर्म-लेख लिखाये।.........धर्म के ये लेख पाषाण-स्तम्भों तथा पाषाण-शिलाओं पर लिखे जाने चाहियें, जिससे वे (धर्म-लेख) चिरस्थायी हों।" (स्तम्भ लेख ७वाँ)। अतः सर्वशः प्रकाशित है कि सम्राट् का विशाल मस्तिष्क युक्तिमत था तथा प्रथमतः उन्होंने ही धर्म-प्रचार एवं प्रसार की सुव्यवस्थित रूप से योजना की।

दूसरी बात जिससे सम्राट् की अलौकिक दूरदर्शिता का चित्रण होता है, वह है धर्म को चिरस्थायी बनाने का सतत उद्योग। सम्राट् की सार्वभौमता श्लाघनीय है। वे औरंगजेब की भाँति धर्मोन्मत्त न थे। उन्हें सत्य-ज्ञान, सत्य-धर्म की प्राप्ति हो चुकी थी, इसीसे सम्राट् ने विश्व-कल्याण को ही अपना धर्म माना। तथा बौद्ध-धर्म के उन्हीं प्रच्छन्न सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस धर्म-कल्याण एवं मङ्गल के लिए सम्राट् ने जिस उत्साह और पराक्रम के साथ उद्योग किया वह गौण शिलाभिलेख प्रथम से सुप्रकाशित है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, लगभग ढाई साल के मैं उपासक रहा। इस समय मैंने कुछ पराक्रम न किया। किन्तु सङ्घ की यात्रा किये, लगभग एक साल से अधिक हुआ, तब से मैंने खूब उद्योग किया अथवा पराक्रम किया। इस समय के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से परिचित न थे, अब परिचित हो गये हैं। पराक्रम (उद्योग) का ही यह परिणाम है। केवल महान् व्यक्ति ही इस कार्य को नहीं कर सकते हैं, क्योंकि छोटे लोग भी सतत पराक्रम से स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं।" इस शिलालेख से सम्राट् व्यक्त करना चाहते हैं कि उन्होंने किस प्रकार धर्म के लिए पराक्रम किया और उसका क्या परिणाम हुआ? इस धर्म-प्रचार का प्रथम परिणाम जम्बूद्वीप के मनुष्यों और देवताओं का परस्पर परिचित होना अथवा पारस्परिक

संबन्ध का स्थापित करना था। तथा दूसरा फल स्वर्ग का मिलना था। मनुष्यों और देवताओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध होने से यहाँ पर क्या तात्पर्य है? इस विषय पर डाक्टर एफ० डब्लू० थोमस लिखते हैं, "अशोक यह व्यक्त करना चाहते हैं कि एक साल के लगभग उन्होंने ब्राह्मणों के देवताओं का उन लोगों से अर्थात् जङ्गली जातियों से जो अब तक उन देवताओं से अपरिचित थे, परिचय करा दिया।"[1]

इसी विषय पर श्री भण्डारकर का मत है, "अशोक के धर्मानुशासन का अनुसरण करने से लोग पुण्यात्मा हो चले। अतः उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई और वहाँ उनको देवताओं का सान्निध्य प्राप्त हुआ। अथवा देवताओं से परिचय या सम्बन्ध हुआ।"[2]

श्री राधाकुमुद मुकर्जी पुनः इसी विषय पर लिखते हैं—"इस समय (२½ वर्ष) के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से भिन्न थे, अथवा अलग थे या दूर थे अर्थात् जिनका न कोई धर्म था, न देवता थे, वे देवताओं से सम्बन्धित हुए, अर्थात् वे धार्मिक हो कर देवताओं की पूजा करने लगे।

(२) इस समय के भीतर देवताओं और उनके बीच का झगड़ा जम्बूद्वीप में शान्ति को प्राप्त हुआ। अर्थात् विभिन्न सम्प्रदायों का पारस्परिक विरोध का अन्त हुआ। अर्थात् सम्राट् की धार्मिक सहिष्णुता से सब सम्प्रदायों में परस्पर मेल स्थापित हुआ।"

किन्तु मेरी विनीत सम्मति इस प्रकार है—प्रथम इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जम्बूद्वीप के मनुष्यों और देवताओं का पारस्परिक सम्बन्ध किस विषय का परिणाम था? वस्तुतः वह धर्म का ही फल था (ब्रह्मगिरी, शिलालेख प्रथम)। जिस धर्म का प्रचार पूर्ण उत्साह के साथ सङ्घ में प्रविष्ट होने के अनन्तर किया गया था। यह धर्म

[1] Cambridge History, p. 505.

[2] डा० भंडारकर—अशोक, पृष्ठ १४०।

क्या था? द्वितीय स्तम्भ-लेख कहता है—"धर्म क्या है? अपासनीव अर्थात पाप-कृतों, (उग्रता, हिंसा, क्रूरता, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, दर्प आदि) से बचना, सुकृत करना, कृपालुता अथवा उदारता, दान, सत्यता, और विशुद्धता।" तथा आठवें और नवें शिलालेख के अनुसार—समाचरण, (सब के साथ समान आचरण या बर्ताव करना) सेवा, अहिंसा (प्राणियों में संयम) दान आदि धर्म के अन्तर्गत हैं। अतः इस धर्म-निरूपण के अनुसार सम्राट् के धर्म की दो वृत्तियाँ अथवा रूप हैं - एक अच्छा रूप या सद्वृत्ति, दूसरा बुरा रूप (अपासनीव) अर्थात् असद्वृत्ति।

१—सद्वृत्ति के लक्षण हैं—सुकृत, एकरूपता (समान भाव) कृपालुता, उदारता, दान, सत्यता, विशुद्धता, अहिंसा आदि।

२—असद्वृत्ति के लक्षण—हिंसा, क्रोध, उग्रता, क्रूरता, अहंकार, दर्प, ईर्ष्या आदि।

ये दो धर्म और अधर्म (पुण्य और अपुण्य) अथवा सद् और असद्प्रवृत्तियाँ मनुष्यों में सम्भवतः पाई जाती हैं। इसीसे तो तीसरा स्तम्भ-लेख लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, लोग अपने ही सुकृतों को देखते हैं और विचारते हैं कि 'यह सुकृत अथवा पुण्य मैंने किया है।' किन्तु वह कभी भी अपने दुष्कर्मों को यह विचारते हुए नहीं देखता कि 'यह पाप (अपुण्य अथवा दुष्कर्म) मैंने किया है, अथवा यह आसीनव मेरे द्वारा हुआ है।' यह देखना है भी अत्यन्त कठिन।" निःसन्देह संसार में ऐसे लोग बहुत कम दृष्टि पड़ते हैं, जो अपने पापों को देखते हैं, उन पर विचारते हैं और उन्हें जघन्य पाप समझते हैं। यह तो दादु ही कह सकता था। "महा अपराधी एक मैं सारे इहि संसार। अवगुण मेरे अति घने अन्त न पावे पार।"

किन्तु ये दो प्रवृत्तियाँ किसी मनुष्य में अधिकता और किसी में लघुता से पाई जाती हैं। इन दो वृत्तियों में हमेशा संघर्ष होता रहता है।

फलतः विजयीवृत्ति के अनुरूप ही मनुष्य के जीवन का निर्माण होता है। मनुष्य की बुरी वृत्तियों के प्रबल होने से वह अहंकारी, क्रूर, ईर्ष्यालु, उग्र, भीषण, अमर्यादित, असंयमी, और सम्राट् के शब्दों में आसीनव-गामी हो जाता है। ये असद्वृत्तियाँ मनुष्य को पैशाचिक बना डालती हैं, क्योंकि उनमें काम, क्रोध, लोभ आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः कामी पुरुष अथवा पापी पुरुष देवताओं से या भगवान् से अलभ्य एवं तिरस्कृत हो दूर जा हटते हैं, क्योंकि 'कबीर' निर्गुण सन्त कहते हैं—"और गुनह हरि बकससी कामी डार न मूर" भगवान् सम्भवतः और पापों को क्षमा कर सकता है, किन्तु कामी का वह जड़ (मूल) से नाश कर देता है।" फलतः परमात्मा और पापियों का परस्पर सम्बन्ध अथवा योग होना दुष्कर है। इसलिये सम्राट् कहते हैं कि मनुष्यों को अपने दुष्कर्मों अथवा पापों पर दृष्टि रखना चाहिये, जिससे वे पापकृत्यों में न फँसे, इसके उपाय का सम्राट् स्वयं निरूपण करते हैं। वे कहते हैं—"आसीनव अथवा पाप के ये कारण हैं, उग्रता, क्रूरता, क्रोध, हिंसा, अहकार, दर्प, ईर्ष्या आदि। अतः इन कारणों से मुझे अपनी क्षति अथवा विनाश न करना चाहिये। इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये, यह मेरे इहलोक के सुख का कारण है, तथा परलोक के सुख का हेतु है।" (स्तम्भ-लेख तीसरा)। इससे सर्वथा प्रकाशित है कि इन लक्षणों से रहित हो कर ही मनुष्य की आत्मा प्रच्छन्न हो सकती है, वह इस लोक में भी सुखी और परलोक में भी सुख प्राप्त कर सकती है। क्योंकि आत्म-शुद्धि होने के कारण हृदय में तादातम एवं विश्वभाव पैदा होता है, जिसके फलस्वरूप 'मैं' और 'तू' का जो भेद है, वह नहीं रहने पाता। यही तादातम भाव परमात्मा, पूर्ण-देव से योग कराता है। इसीसे कबीर कहते हैं, "आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरबान।" अर्थात् जब कि मुझे यह अनुभूति हुई कि 'मैं' और 'तू' में भेद नहीं है, या जब

मैंने सबमें एकरूपता देखी, तभी मुझको निर्वाण पद प्राप्त हुआ। इसी तादात्म भाव में आगे बढ़ते हुए कबीर पुनः कहते हैं, "जेति औरति मरदां कहिए सब में रूप तुम्हारा।" फलतः धर्म से आत्म-शुद्धि होने के कारण, तादात्म भाव की उत्पत्ति होती है, और तादात्मता से पुनः एकरूपता उत्पन्न होती है और एकरूपता से 'तू', 'मैं' और 'अन्य' का भाव जाता रहता है, और जब यह स्थिति आती है तो सब 'एक' हो जाता है। अतः जब सब 'एक' हो जाता है तो मनुष्यों, देवताओं आदि का कोई भेद नहीं रह पाता, फलतः जब मनुष्य इस दशा को पहुँचता है तो उसका भगवान् अथवा दैव (ब्रह्म—देवताओं) से योग हो जाता है या पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना होती है।

एक बात और स्मरण रखनी होगी। देवताओं से अर्थ या अभिप्राय मानुषी-रूप से नहीं है, किन्तु देवता की परिभाषा सद्गुणों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों अथवा धर्म-लक्षणों के समुदाय में है, अर्थात् सद्-वृत्तियों के समुदाय का नाम ही देवता है। अतः जिस मनुष्य के भीतर समवेत रूप में इन सद्वृत्तियों का पूर्ण उदय होता है वही व्यक्ति देवता कहलाता है, अन्यथा असुर या पापी। भगवान् बुद्ध, सद्-वृतियों के पूर्ण उदय होने से पहले सिद्धार्थ रहे। किन्तु बुद्ध अथवा भगवान् वे तभी हो सके जब पूर्ण सद्प्रवृत्तियाँ उनकी जाग्रत हो उठीं, और उनका तादात्म भाव इतना प्रच्छन्न हो चला कि वे सबमें और सब उनमें रम गये, उनका अहंभाव जाता रहा और वे प्रत्यक्ष, साकार देवरूप में परिणत हुए। किन्तु जिनके भीतर बुरी प्रवृत्तियाँ ही बल पकड़ती हैं, वे असुर में परिणत हो जाते हैं। देखिए बृहदारण्य-कोपनिषत् कहता है, "द्वैया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वः स्पर्धन्त शतं शमाः।" देवताओं और असुरों में १०० वर्ष की लड़ाई हुआ करती है। किन्तु स्मरण रहे यह लड़ाई, युद्ध-क्षेत्र में दो दलों के मध्य नहीं

हुआ करती। किन्तु इसका आध्यात्मिक भाव[1] ग्रहणीय है। यथार्थ में मनुष्य की आयु सम्भवतया १०० वर्ष की ली गई है। इन १०० वर्षों तक मनुष्यों के बुरे और भले विचारों में संघर्ष होता रहता है। वस्तुतः देवताओं का अर्थ या देवताओं से यहाँ पर अभिप्राय भली प्रवृत्तियों से है और असुरों से बुरी प्रवृत्तियों का निर्देश किया गया है। अतः इन दो देवता (सद्-वृत्तियाँ) और असुर (असद्-वृत्तियाँ) के मध्य युद्ध होता है। इस युद्ध में जो वृत्ति विजयी होती है वही मनुष्य के चरित्र का कारण बनती है। यदि मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियाँ जीतती हैं तो मनुष्य असुर हो जाता है; परन्तु यदि उसकी अंतःकरण की सद्वृत्तियाँ विजयी होती हैं तो मनुष्य देवता हो जाता है। यही देवता और असुरों की लड़ाई एवं हार-जीत है। बुरी और भली प्रवृत्तियों के विजयी होने का कारण अधर्म तथा धर्म ही है। फलतः सम्राट् का यही अभिप्राय सम्भव प्रतीत होता है कि उनके धर्म-प्रचार के परिणाम-स्वरूप लोग धर्म पर आचरण करने लगे, और इस धर्माचरण के कारण उनकी बुरी प्रवृत्तियों का नाश हुआ तथा भली प्रवृतियाँ जाग्रत हो उठीं, इसी हेतु उनका देवताओं (सद्-वृत्तियों) से सम्बन्ध स्थापित हुआ या वे ही देवता हो गये।

सम्राट् ने किस प्रकार इन सद्-वृत्तियों अथवा धर्म का प्रचार किया, इसका निर्देश चतुर्थ शिलालेख करता है, "बहुत समय व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए कि जीवों की हिंसा प्राणियों के प्रति क्रूरता, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति अनादर बढ़ता गया, किन्तु आज देवताओं के प्रिय के धर्माचरण के कारण, वीरघोष, धर्मघोष हुआ और प्रजा को विमान, श्वेत हाथी, अग्निस्कंध तथा अन्य दिव्य-रूपों के दर्शन कराये गये।" इस विवरण से प्रकाशित होता है कि सम्राट् ने प्रथमतः धर्म-प्रचार का कार्य दिव्य-रूपों के दर्शन

[1] शंकराचार्य ने प्रथम इसकी ऐसे भाव में व्याख्या की थी।

द्वारा आरम्भ किया। जनता को इन दिव्य-रूपों का दर्शन करवा कर सम्राट् उन्हें यह व्यक्त करना चाहते थे कि धर्माचरण का परिणाम परम आनन्द और स्वर्गीय उपहारों का देनेवाला है। धर्माचरण से स्वर्ग के अनन्त सुख की प्राप्ति होती है एवं मनुष्य स्वयं दिव्यरूप हो जाता है। इस प्रकार प्रथम अपने विजित राज्य में सम्राट् धर्म-प्रचारक के रूप में प्रविष्ट हुए, क्योंकि विदेशों से प्रथम अपने राज्य में धर्म का प्रचार एवं प्रसार होना आवश्यक तथा अनिवार्य था। इन दिव्य-रूपों के प्रति श्री भण्डारकर[1] की सम्मति है कि सम्राट् इन दिव्यरूपों का जनता को शासनकाल के अन्त तक दर्शन कराते रहे। किन्तु मेरी सम्मति में यह कहना सन्देहात्मक है। सम्राट् ने कुछ समय तक अवश्य इन दिव्यरूपों का प्रदर्शन करवाया था। किन्तु आगे चल कर मालूम होता है उन्होंने इन दिव्यरूपों का दिखलाना भी बन्द करवा डाला होगा, क्योंकि ये दिव्यरूप समाज में ही प्रदर्शन किये जाते थे, परन्तु बुरे समाजों के कारण अशोक को सर्व प्रकार के समाजों का निषेध करना पड़ा था। प्रथम शिलालेख लिखता है—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह धर्म-लिपि लिखवाई। यहाँ किसी जीव का होम न किया जाय, न समाज मनाये जायँ, क्योंकि देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी समाज में कई बुराइयों को देखता है, यद्यपि कुछ समाज ऐसे भी हैं जिन्हें देवताओं का प्रिय अच्छा समझता है।" अच्छे समाज यहाँ पर उन्हीं समाज से तात्पर्य है, जो धर्म के अनुरूप थे, अथवा जिन समाजों में पूर्वनिर्दिष्ट दिव्यरूपों का दर्शन कराया जाता था। अतः जब ये समाज भी बन्द करवा डाले गये तो दिव्यरूपों का शासन के अंत तक प्रदर्शित किया जाना संभव नहीं प्रतीत होता। किन्तु पहले पहल इन दिव्यरूपों (विमान, हस्ती, अग्निस्कंध आदि) के प्रदर्शन से लोग अवश्य यथेष्ट संख्या में बौद्ध-धर्म की ओर झुकते गये। साधारण जनता को इन स्वर्गीय दिव्यरूपों के उपहार का प्रलोभन उन्हें धर्म-पथ पर खींच लाया। लोग इतनी अधिक संख्या में

बौद्ध-धर्म को ग्रहण करने लगे कि सम्राट् स्वयं यह देख कर आश्चर्यान्वित थे। (गौण-शिलालेख प्रथम, ब्रह्मगिरी)।

पाली, बौद्ध-साहित्य में एक कथा आती है। इस कथा से सर्वशः व्यक्त होता है कि सम्राट् के दिव्यरूपों के प्रदर्शन का अत्यधिक प्रभाव पड़ना कोई असत्य एवं अनोखी बात न थी। कथा इस प्रकार है, "मोगालायन (Moggalana) बुद्ध भगवान् के प्रमुख शिष्यों में से था। वह धर्म-प्रचार के कार्य में अद्वितीय था। उसने अगणित संख्या में लोगों को बौद्ध-धर्म में परिणत किया था। इस कारण अन्य धर्मावलंबी लोग उससे ईर्ष्या करने लगे, अतः विरोधी संप्रदाय वालों ने उसका अंत करना चाहा। इस प्रकार उन्होंने मोगालायन के बध के निमित्त एक हत्यारे को भी नियत किया था। मोगालायन की शक्ति देवोपम थी। अपनी इस अलौकिक शक्ति से वह स्वर्ग में जाया करता था। वहाँ पहुँच कर वह देवताओं से उनके उच्च पद पाने का कारण पूछा करता था। इसी भाँति वह नरक में भी जाया करता था, और वहाँ के दुखार्त्त जीवों से उनके दुःख का कारण पूछता था। इसके अनन्तर वह पृथ्वी में लौट आता था। यहाँ आने पर वह लोगों से अपनी इस यात्रा तथा स्वर्ग और नरक के कारणों का वर्णन किया करता था। इस वर्णन का लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे अगणित संख्या में बौद्ध-धर्मी हो गये।" अतः सर्वथा स्पष्ट है कि जब एकमात्र मौखिक वर्णन का ऐसा प्रभाव होता था, तो साक्षात् स्वर्गीय उपहारों आदि दिव्यरूपों का कैसा प्रभाव पड़ता होगा। अतः सम्राट् का यह कहना कि "उन्होंने बहुत धर्म-पराक्रम किया है"—सर्वशः सत्य और नीतियुक्त था। (गौण-शिलालेख, प्रथम)।

२. धर्म-प्रचार का दूसरा उपकरण—"प्राचीन काल में देवताओं के प्रिय राजा लोग विहार-यात्रा को निकलते थे। इस विहार-यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही मन-बहलाव की बातें हुआ करती थीं। किन्तु

प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के दसवें वर्ष संबोधि (बुद्ध-गया) की यात्रा को तब से धर्म-यात्रायें आरम्भ हुईं। इसमें ये बातें होती हैं—"श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन तथा उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन और उनको सोने का दान, जनता का दर्शन, उन्हें धर्म-शिक्षा देना, और यदि उचित समझा जाय तो इसी धर्म पर जिज्ञासा।" इस संदर्भ से व्यक्त होता है कि धर्म-प्रचार के हेतु सम्राट् ने धर्म-यात्रा प्रारम्भ की। इस धर्म-यात्रा से अनेक संप्रदायों के संपर्क में आने के हेतु वे बहुश्रुत हुए, और लोगों में अथवा जनता में धर्म-विषय की जिज्ञासा करते हुए, धर्म का प्रचार करने लगे। इस प्रकार सम्राट् एक सच्चे प्रचारक के रूप में धर्म का जनता में प्रसार करने जाते थे। सम्राट् के इस प्रकार स्वयं धर्म-प्रचार करने का जो परिणाम हुआ वह चतुर्थ शिलालेख में सर्वथा व्यक्त है। (बहुविधि धर्माचरण बधेति)।

निःसंदेह महान् पुरुषों के शब्दों में अत्यधिक प्रभाव एवं जादू होता है, जो साधारण लोगों को अनायास अपनी ओर खींच लाता है, किन्तु सम्राट् का अकेला व्यक्तित्व इतने बड़े कार्य का सर्वत्र सम्पादन करने में असमर्थ था। अतः सम्राट् कहते हैं—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, विगत काल के राजाओं की इच्छा थी कि लोग धर्म के साथ उन्नति करें। किन्तु लोगों में धर्म की उन्नति न हो सकी।

"इस पर देवताओं का प्रिय कहता है, मुझे यह विचार हुआ कि विगत काल में राजाओं ने इस प्रकार अभिलाषा की। किस प्रकार लोग धर्म की उन्नति के साथ आगे बढ़ें। किन्तु लोगों में धर्म की यथेष्ट उन्नति न हो सकी। फिर किस प्रकार लोगों में धर्म-प्रचार किया जाय? किस प्रकार लोगों को धर्म सहित उन्नत बनाया जाय? मैं उन्हें कैसे धर्म के साथ उच्च बनाऊँ? इस पर देवताओं का प्रिय इस प्रकार कहता है, मैंने यह विचार किया—मैं धर्म-सन्देशों अथवा अनुशासनों

को प्रकाशित करवाऊँगा तथा धर्म-विधान अथवा धर्म की शिक्षा दूँगा। धर्म की इन शिक्षाओं को सुन कर लोग उन पर आचरण करेंगे, और इस प्रकार वे धर्म के साथ उन्नत होंगे।

"इसी कारण मैंने धर्मानुशासन प्रकाशित किये हैं तथा अनेक प्रकार से धर्म की शिक्षा दी है। मेरे पुरुष भी—जो हजारों मनुष्यों के ऊपर शासन के लिये नियत हैं—धर्म-प्रचार एवं प्रसार करेंगे, रज्जुक को भी जो सौ सहस्त्रों प्राणियों के ऊपर शासन के लिये नियत हैं—मैंने इस प्रकार शिक्षा दी है कि वे धर्मानुरक्त लोगों को धर्म की शिक्षा दें तथा उन्हें धर्म के प्रति उत्साहित करें। अतः देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि यह विचार कर मैंने धर्म-स्तम्भ, धर्म-महामात्र स्थापित किये तथा शिलालेखों को लिखाया।" (७वाँ स्तम्भ-लेख)। अत: सुस्पष्ट है कि धर्म-प्रचार के हेतु सम्राट् ने तीन उपायों से काम लिया—(१) धर्मानुशासन, धर्म-लिपि, धर्म-स्तंभ, (२) धर्म-विधान, (३) धर्म-महामात्र। इनमें से धर्म-महामात्रों का धर्म-प्रचार में प्रमुख कार्य था। जिस समय धर्म-प्रचार का बीड़ा सम्राट् ने अपने स्कंध पर लिया, उस समय विभिन्न संप्रदायों में पारस्परिक विरोध विद्यमान था। वे परस्पर लड़ते रहते थे। यद्यपि सब धर्मों का लक्ष्य एक था, किन्तु सैद्धांतिक विषय पृथक-पृथक थे, और यही विरोध का भी कारण था। सम्राट् को इस विषय का पूर्ण ज्ञान था कि धर्म का प्रचार और विस्तार होना तभी सम्भव हो सकता है, जब कि विभिन्न सम्प्रदायों में शांति रहे। तथा सर्व-धर्मों में एक दूसरे के विचारों को सुनने एवं ग्रहण करने की सहिष्णुता हो। अतः प्रथम इसी विरोध को रोकने का सम्राट् ने उपयोग किया और इसी तात्पर्य से उन्होंने धर्म-महामात्रों की प्रथमतः नियुक्ति की। पाँचवें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "पहले धर्म-महामात्र न नियत थे, किन्तु अभिषिक्त होने के १३वें वर्ष मैंने धर्म-महामात्रों को नियत किया। वे सब धर्मों अथवा सम्प्रदायों के लिये नियत हैं। वे धर्म-

स्थापना अथवा धर्म की देखभाल, और धर्म की वृद्धि तथा धर्म पर आचरण करने वालों के सुख एवं हित के लिए नियत हैं।" (मानसेरा)।

इस प्रकार धर्म महामात्रों का प्रथम कार्य विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर मेल-जोल करना तथा उनके हित का ध्यान रखना था। बौद्ध-धर्म-ग्रन्थ, संयुत्त-निकाया में (Samyutta-Nikaya) सार्वजनिक हित के कुछ कार्यों का निर्देश किया गया है।

जैसे—रेणु-रुक्ष प्रान्तर पर पेड़ लगवाना, फल-फूलों के वृक्ष रोपना, कुएँ खुदवाना, धर्मशालायें बनवाना, औषधालय निर्माण करवाना आदि। इन्हीं सार्वजनिक हित के कार्यों का ७वें स्तम्भ-लेख में सम्राट् ने भी उल्लेख किया है। इन सार्वजनिक कार्यों के सम्पादन का भार भी इन्हीं धर्म-महामात्रों पर था। ७वाँ स्तम्भ-लेख लिखता है, "मेरे धर्म-महामात्र अनेक प्रकार के हित-कार्यों में नियुक्त हैं।" इन हित-कार्यों का तात्पर्य धर्म के प्रचार से ही था। बौद्ध-धर्म के इस सार्वलौकिक कल्याण-भावना से लोगों का प्रभावित होकर बौद्ध-धर्म की ओर झुकना कोई असम्भव न था। अतः सार्वजनिक हित-कार्यों से धर्म-विस्तार में यथेष्ट सहायता मिली। इसके अतिरिक्त राजकीय कुटुम्ब के लोगों को धर्माचरण करने का कार्य भी इन्हीं धर्म महामात्रों पर निहित था। पाँचवाँ शिलालेख कहता है, "यहाँ (पाटलिपुत्र में) और बाहर के नगरों में, मेरे तथा भाइयों और बहिनों के हरम (अन्तःपुर-अवरोध) में तथा अन्य सम्बन्धियों के यहाँ वे (धर्म-महामात्र) नियत हैं।" इसी तरह ७वाँ स्तम्भ-लेख कहता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, धर्म-महामात्र तथा अन्य मुख्य धर्म-कर्मचारी, मेरे तथा रानियों के दान वितरण करने के लिए नियत हैं।" अतः सर्वथा स्पष्ट है कि रानियाँ भी धर्माचरण करतीं, तथा दान आदि कर्म किया करती थीं। इस प्रकार अशोक की रानियों और कुमारों ने भी सम्राट् के मार्ग का अनुसरण कर धर्म

प्रचार में, प्रजा के समक्ष अपना आदर्श स्थापित कर, यथेष्ट सहायता प्रदान की। सम्राट् के कुटुम्बी तथा उनकी सहचारिणी रानियों ने अनेक प्रकार से सर्वमङ्गल का कार्य सम्पादन किया। उन्होंने सम्राट् के आदर्श को ले कर स्वयं भी कुएँ, धर्मशालायें, आदि का निर्माण करवाया। गौण-स्तम्भ-लेख चतुर्थ कहता है, "देवताओं के प्रिय का सब स्थानों के महामात्रों को यह आदेश है—दूसरी रानी ने यहाँ जो कुछ दान दिया हो, चाहे आम्र-कुञ्ज, चाहे वाटिका, या धर्मशाला, चाहे और कुछ, वे सब दान देने वाली रानी के नाम पर लिखे जायँ। (यह द्वितीय रानी तिवारा की माँ कारुवाकी की विनय है)।"

"इसी प्रकार ये धर्म-महामात्र मेरे लड़कों तथा अन्य कुमारों (देवी अथवा रानियों के पुत्र) के दान वितरण करने के लिये नियत हैं।" (७वाँ स्तम्भ-लेख) (Cambridge History)। पुन: पाँचवाँ शिलालेख कहता है, "वे (धर्म-महामात्र) आर्यों तथा भटों के लिये नियत हैं। तथा ब्राह्मणों, गृहस्थियों, असहायों और वृद्धों के हित और सुख के लिये नियत हैं।" अत: सर्वथा स्पष्ट हो चुका है कि धर्म-महामात्र धर्म-प्रचार के लिये नियत थे। इन धर्म-महामात्रों ने बौद्ध-धर्म की अलौकिक-सार्वलौकिक कल्याण-भावना का प्रचार कर धर्म के प्रति तथा उसके विस्तार के लिये बहुत ही सराहनीय एवं अभिनन्दनीय कार्य किया।

इन धर्म-महामात्रों के अतिरिक्त धर्म-प्रचार के अन्य धर्म-कर्मचारी भी साथ ही साथ उद्योग कर रहे थे। ७वाँ स्तम्भ-लेख लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है—ये धर्म-महामात्र तथा अन्य मुख्य कर्मचारी, मेरे तथा मेरी रानियों के दान बाँटने के लिये नियत हैं। वे यहाँ तथा बाहर के मेरे अन्त:पुरों में अनेक प्रकार के ऐसे धर्म-कार्यों में लगे हैं, जो अनन्त सुख के

देने वाले हैं।" अतः सुव्यक्त है कि धर्म-महामात्र सर्व प्रजा में एवं राजकुटुम्ब में धर्म-प्रचार करते थे तथा धर्म-प्रचार कार्य में अशोक के निज कुटुम्बी स्त्री और लड़कों का भी पूर्ण सहयोग तो था ही। (७वाँ स्तम्भ-लेख)। किन्तु इन धर्म-महामात्रों के अतिरिक्त और भी मुख्य अधिकारी धर्म-प्रचार कर रहे थे। इन अधिकारियों के प्रति तीसरा शिलालेख कहता है—"देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, अभिषिक्त होने के १२वें वर्ष मैंने इस प्रकार अनुशासन दिया कि प्रत्येक पाँचवें वर्ष, युक्त, रज्जुक, और प्रादेशिक, सर्वत्र, मेरे विजित राज्य में और राज्य कार्य के अतिरिक्त धर्म-प्रचार के लिये दौरा करें।" (गिरनार)।

पुनः ७वाँ स्तम्भ-लेख कहता है, "धर्म-वृद्धि तथा धर्म-प्रचार के हेतु मैंने धर्मानुशासनों को प्रकाशित किया है, और कई प्रकार के धर्म-विधान, धर्म-प्रचार का आदेश दिया है। क्यों ? इसीलिये कि मेरे पुरुष भी, जो बहुत से आदमियों के ऊपर शासन के लिये, नियत हैं, धर्म का प्रचार और प्रसार करें। रज्जुकों को भी, जो सौ सहस्रों प्राणियों पर शासन के लिये नियत हैं, इस प्रकार आदेश दिया है कि धर्म-युक्त लोगों को धर्म के लिये उत्साहित करें।" अतः प्रकाशित है कि धर्म-प्रचार के मुख्य अधिकारी, युक्त, रज्जुक, प्रादेशिक, तथा पुरुष थे— (शिलालेख तीसरा और ७वाँ स्तम्भ-लेख)। इन धर्म-महामात्र तथा मुख्य अधिकारियों का कार्य सर्व-सम्प्रदायों में इस नवीन अथवा बौद्ध-धर्म की स्थापना करनी थी, जो प्रथमतः धर्म-युक्त थे (धर्म-युक्तस्य) उनमें धर्म की वृद्धि करनी थी, सेवक, नौकरों, असहायों, वृद्धों, ब्राह्मणों के सुख और हित का ध्यान रखना होता था, और इसी प्रकार धर्म-प्रचार तथा धर्म-प्रसार का शुभ और कल्याणमय कार्य, सीमान्त प्रदेशों में, जैसे यवन, कम्बोज, गांधार, तथा अपरन्ता के अन्य प्रदेश, राष्ट्रिक, पैठानिक, नाभाक या नाभपंति, भी करना होता था। इसी प्रकार उनको अन्य सर्वमङ्गल एवं कल्याण का कार्य विजित

राज्य तथा सीमान्त प्रदेशों में करना पड़ता था। अतः सर्वथा स्पष्ट है कि धर्म-प्रचार, धर्म-वृद्धि, एवं सर्वमङ्गल और कल्याण-कार्य ही अशोक का प्रथम कर्त्तव्य था। इसी हेतु उन्होंने धर्म-प्रचार के विशेष अधिकारियों को नियत किया था। एक राजा होकर सर्व-कल्याण करने में ही अशोक की विशालता है।

इसके अनंतर पशु-जीवों आदि के प्रति जो हित-कार्य सम्राट् ने किया, वह धर्म-प्रचार के रूप में बड़े महत्त्व का है। अतः हमें यहाँ पर पशुओं के प्रति जो हित का कार्य सम्राट् ने करवाया, उस पर कुछ विचार करना आवश्यक है। इस कल्याण-कार्य के दो आकार हैं, पहला प्राणियों में संयम और अहिंसा—(शिलालेख–९,६,४,३,२,१)। द्वितीय, पशुओं के प्रति उनके मङ्गल और स्वास्थ्य-वृद्धि या रक्षण और भरण-पोषण का कार्य—(७वाँ स्तम्भ-लेख, २ स्तम्भ-लेख, ६, २ शिलालेख)।

शिलालेख प्रथम कहता है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह धर्म-लिपि लिखवाई। यहाँ (पाटलिपुत्र अथवा विजित राज्य में) कोई पशु यज्ञ अथवा होम के लिये न मारा जावे।"

तीसरे शिलालेख में धर्म के लक्षणों को बतलाते हुए सम्राट् कहते हैं—"माता-पिता की सेवा करना स्तुत्य है, मित्र, परिचितों, संबंधियों ब्राह्मणों, और श्रमणों के प्रति उदारता सराहनीय है, तथा प्राणियों की हिंसा न करना प्रसंशनीय है।" अतः इस प्रकार धर्म का सिद्धान्त बना कर सम्राट् ने "अहिंसा" का प्रचार किया। अहिंसा धर्म का बहुत भारी महत्त्व है, यह सिद्धांत सूक्ष्म धर्म के अंतर्गत सनातन-धर्म ने लिया है। इस सर्व-हितकारी धर्म का महाभारत ने प्रसन्नता के साथ अभिनन्दन किया है। (देखिए महाभारत २६२ प्रकरण, अध्याय १०-३०—में वैश्यकुलोत्पन्न धर्मार्थ तत्वज्ञ ज्ञानी तुलाधार ने जाजलि से इस प्रकार कहा—"मैं सर्व-हितकारी प्राचीन सनातन धर्म को जानता

हूँ," इस प्रकार उससे धर्म-वर्णन करते हुए अन्त में कहते हैं "सारांश यह कि अहिंसा से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है।") अतः सम्राट् ने भी इस महान् तत्त्व का प्रचार करने के हेतु हिंसा का निषेध करवाया। इस सिद्धान्त का प्रचार लोगों में धर्म लक्षण बतला कर किया गया और इस पर भी जो लोग न माने, उनसे हिंसा के विरुद्ध अनुशासन निकाल कर इसका पालन करवाया। पाँचवाँ स्तम्भलेख सम्राट् के उन उपायों का उल्लेख करता है, जिनके द्वारा हिंसा रोकने का प्रयत्न किया गया था। यह स्तम्भ-लेख इस प्रकार लिखता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, कि अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष मैंने निम्न पशुओं के मारने का निषेध करवाया—जैसे "तोता, मैना, (सारिका), अरुण, हंस, बन-हंस, नन्दीमुख, सारस (बक), जलुका (चमगीदड़), चींटी, मछलियाँ, विदर्भी, विशेष मछली, संकुच मच्छ, कछुआ, कपाट-शय्यका, प्राणशाश, बारहसिंघा, बैलों को स्वातंत्र्य, ओकपिंडा, बतक, श्वेत बतक और पालतू बतक, तथा अन्य चतुष्पद जो न किसी काम में आते हैं और न खाये जाते हैं। बकरी, मेषी, शूकरी (बराही), जो नव-प्रसूता है या जो दूध देती हैं, न मारी जायँ, तथा उनके बच्चे जो ६ महीने से कम हैं वे भी न मारे जायँ। मुर्गों के मारने की अनुज्ञा नहीं है। जिस भूसे में जीव हों, वह फूँका न जाय। बिना प्रयोजन तथा प्राणियों की हिंसा के कारण जंगल जलाये न जायँ। जीव का पोषण जीव से न होना चाहिये, तीन चातुरमासों तथा तिष्य (पोष महीना) पूर्णिमा के दिवस मछली न तो मारी जा सकती है न बेची जा सकती है। ऐसा तीन दिनों तक होगा, अर्थात् प्रथम पक्ष के १४वें और १५वें दिन और दूसरे पक्ष के पहले दिन तथा अन्य उपवास के दिनों में भी इस आज्ञा का पालन करना होगा।

"इन्हीं अवसरों पर हाथियों के जंगल (नागवनसी), और केवट भोगस्तेयों में अन्य प्रकार के पशु न मारे जायँ। प्रत्येक पक्ष के आठवें, चौदहवें, पन्द्रहवें तिथि पर तथा तिष्य और पुनर्वसु दिवस के अवसर

पर तथा तीन चातुरमासों के पूर्णिमा दिवसों, और उत्सवों के अवसर पर बैलों पर गरम लोहे का दाग न लगाया जावेगा, तथा बकरों, भेड़ों शूकरों तथा अन्य पशु जो दागे जाने वाले हैं, उन पर भी ऐसे अवसरों पर दाग न लगाया जावेगा।

"तिष्य और पुनर्वसु, तथा चातुरमास के पूर्णिमा दिवसों, और पूर्णिमा के पखवाड़ों में, घोड़े, बैल और गायों का दागा जाना बन्द है।" इस प्रकार सम्राट् ने धर्म के परम सिद्धांत अहिंसा (अहिंसा परमो धर्मः) का प्रचार, पशुओं के वध का निषेध कर, करने का प्रयत्न किया किन्तु इस निषेध विधि से अधिक सफलता न प्राप्त हो सकी। उन्हें यह प्रतीत होने लगा कि धर्म का सत्य रूप से प्रचार तभी संभव है, जब लोग स्वयं अन्तर्दृष्टि से इस पर मनन करें, और देखें। मालूम होता है कि अभी तक पूर्ण रूप से यज्ञादि कर्म होते ही रहते थे जिसके फलस्वरूप प्राणियों की होम के लिये हिंसा की जाती थी। इसलिये सम्राट् चाहते थे कि लोग स्वयं अन्तर्ज्ञान से विचार कर यह देखें कि क्या सकाम हो कर यज्ञ करना ठीक है या मानसिक यज्ञ करना उचित है जिससे सर्व-कल्याण की प्राप्ति हो। (महाभारत २६वाँ अध्याय–२०, ३०—ज्ञानवान ब्राह्मण अपने को यज्ञ की सामग्री समझ कर, प्राणियों पर दया करने के निमित्त, मानसिक यज्ञ करते हैं। किन्तु सकाम ब्राह्मण हिंसात्मक यज्ञ करते हैं। कथा प्रचलित है कि भगवान् बुद्ध ने एक समय हिरण पर एक राजा को तीर चलाते हुए देख स्वयं हिरण के आगे तीर सँभालने के लिये खड़े हो गये थे)। अतः सम्राट् ने यही विचार कर अंतर्ज्ञान के प्रचार करने का उद्योग किया, और सफल भी हुए। सातवाँ स्तम्भ-लेख लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, जनता में धर्म का प्रचार दो प्रकार से किया गया है। एक धर्मानुशासनों के द्वारा और दूसरा प्रकार विचार, अन्तर्विचार (मिजहनिया—निजहति बलम्) के द्वारा। किन्तु इन दोनों में से धर्मानुशासन अधिक प्रभाव

का नहीं है, किन्तु अंतर्विचार के द्वारा धर्म का यथेष्ट प्रचार हो सकता है। धर्मानुशासन इस प्रकार से है कि मैंने आज्ञा दी कि अमुक-अमुक पशु (जीव) न मारे जावें, तथा अन्य इसी प्रकार की आज्ञायें मैंने निकालीं। किन्तु वस्तुतः अन्तर या मानसिक ज्ञान द्वारा ही लोगों की धर्म में अधिक अनुष्ठि हुई और प्राणियों में संयम अथवा यज्ञ आदि के लिये जीवों की हिंसा का होना बन्द हुआ।"

यथार्थतः स्वकामी, लालची, और नीच लोलुप मनुष्य वेद के सिद्धांतों का दुरुपयोग कर, मिथ्याधर्म पर आचरण करते हुए, अपने को आस्तिक कहते हैं। वे स्वयं हिंसापूर्ण यज्ञ करते और करवाते फिरते हैं। ऐसे हिंसात्मक यज्ञों से अपुण्य, चोरी आदि कर्मों की उत्पत्ति होती है (महाभारत—२६३, अध्याय १०)। किन्तु जब आदमी सच्चे ज्ञान को प्राप्त होते हैं तब वे अपना ही होम करने को उद्यत रहते हैं। क्योंकि वे सकामी अथवा लोभियों की तरह स्वर्ग आदि उपहार पाने के लालच से हिंसात्मक यज्ञ के विपरीत, मानसिक यज्ञ अथवा प्राणियों पर दया करने लगते हैं (महाभारत—२६३, अध्याय १०)। अतः सम्राट् ने उन्हें सत्य-धर्म की अनुभूति करवाई और उन्हें मानसिक यज्ञ कराना सिखलाया। फलतः अहिंसा और सर्वकल्याण भावना का प्रचार करने के लिये, सम्राट् ने प्रथमतः "निजहति" (अन्तर्ज्ञान) के सिद्धान्त का प्रचार किया। सम्राट् ने धर्म के सूक्ष्म सिद्धांतों, अहिंसा और सर्वमंगल के पालन का भार लोगों की ही अभिरुचि एवं स्वमनन (निजहति) पर छोड़ दिया। अतः सुप्रकाशित है कि लोगों, ब्राह्मण आदि ने, अवश्य इस सिद्धांत पर मनन किया, जिसके फलस्वरूप सम्राट् कहते हैं कि निश्चय इससे यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई, क्योंकि निजहति (मनन-शक्ति) द्वारा लोगों को यह पूर्णतया सुव्यक्त हो गया कि यथार्थ धर्म सब लोगों की भलाई में है, और सूक्ष्म धर्म का गूढ़ सिद्धांत एकमात्र अहिंसा में चरितार्थ होता है। तभी तो सम्राट् कहते हैं, "अन्तर्विचार, मानसिक ज्ञान

(निजहति), द्वारा ही प्राणियों में संयम या अहिंसा धर्म का प्रचार बढ़ा है।" अतः सर्वथा स्पष्ट है कि निजहति द्वारा ही सम्राट् "अनारंभो प्राणानां और अहिंसा भूतानां" के इन दो विमल सिद्धांतों का सर्वत्र प्रचार करने में सफलीभूत हुए। यही कारण है कि सम्राट् अपने धर्म-प्रचार करने वाले अन्य कर्मचारियों को भी इन्हीं सिद्धांतों का निजहति के माध्यम से प्रचार करने का आदेश देते हैं।

इससे प्रकाशित है कि "निजहति" का पावन सिद्धांत प्राणियों को नष्ट होने से तो बचा गया, किन्तु सम्राट् के कार्य की यहीं पर निष्पत्ति न हुई। अब उन्हें जीवों के पालन-पोषण, रक्षण, एवं स्वास्थ्य वृद्धि की चिंता ने आक्रांत कर डाला। इस विषय में जो कार्य सम्राट् ने किये, वे निःसंदेह अत्यन्त महान् और सराहनीय हैं। ७वाँ स्तम्भ-लेख कहता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, मार्ग पर मैंने वट-वृक्षों को लगाया ताकि वे पशुओं और मनुष्यों को छाया का सुख दे, आम्र-कुञ्ज लगवाये गये, और प्रत्येक दो मील पर (आधे कोस) कुएँ खुदवाये, धर्मशालाएँ बनवाईं, और पेय (आपनानी) अथवा पानी पीने के स्थान सर्वत्र (यहाँ अपने विजित राज्य में तथा अन्य राज्यों में) मैंने पशु और मनुष्यों के सुख हेतु निर्माण करवाये।" अशोक की महानता उनके अपने शब्दों में ही प्रकाशित है। वे कितने समदर्शी थे यह उनके कथन से स्पष्ट व्यक्त होता है। उनका बीज मंत्र सर्वभूतानां था, न कि "मनुष्याणां" अशोक ने कभी भी किसी प्राणी की उपेक्षा न की उनके समक्ष जीवमात्र का मूल्य समान था, उनकी कृपा मनुष्य एवं पशु आदि पर एकरूप से थी। पक्षपात उन्हें किसी का भी छू तक न गया था। इस कथन की सत्यता द्वितीय शिलालेख में पूर्णतया शरीरबद्ध है। सम्राट् कहते हैं—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित राज्य में तथा जो और सीमांत-प्रदेश हैं, जैसे चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, और ताम्रपर्णी के प्रदेश, तथा अंतियोकस नामक यवन

राजा और अन्य राजागण जो उस अंतियोकस के पड़ोसी हैं—हर एक जगह देवताओं के प्रिय ने चिकित्साओं का दो तरह का प्रबन्ध किया है—मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा का। औषधियाँ जो मनुष्यों के लिये लाभदायक हैं, और जो पशुओं के लिये उपयोगी हैं, जहाँ-जहाँ नहीं हैं वहाँ-वहाँ भेजी गईं और रोपी गईं। इसी तरह जड़ें और फलों के वृक्ष भी जहाँ-जहाँ नहीं पाये जाते वहाँ-वहाँ भेजे गये और रोपे गये। मनुष्य तथा पशु दोनों के सुख के लिये सड़कों पर कुएँ खुदवाये गये और पेड़ रोपे गये।" अतः सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट् जब कभी भी किसी हित कार्य को करते हैं, तो पशुओं का प्रथम उल्लेख करना वे कभी नहीं भूलते। सम्राट् ने प्राणीमात्र को अभयदान, करुणादान और कल्याणदान प्रदान किया। सम्राट् की मौलिकता एवं एकरूपता की किसी भी शब्द अथवा वाक्य से प्रशंसा नहीं की जा सकती। उनकी मानसिक विशालता महान् थी, और उनकी मौलिकता पूर्णतया नूतन थी। आज संसार अपने को पूर्ण सभ्य एवं सुसांस्कृतिक समझता है, किन्तु आज मनुष्य की जो दुर्गति है, और जैसे पीड़ित वे हैं, इसका विचार आते ही कोई भी सदय व्यक्ति दो बूंद करुणा के आँसू अवश्य बहा देगा। ऐसी अवस्था में यदि आज के पशुओं की भी दयनीय दशा है तो कोई आश्चर्यजनक घटना न समझी जानी चाहिये। आज मनुष्यों के लिए खाना तक पर्याप्त नहीं है, तब सुव्यवस्थित चिकित्सालयों का न पाया जाना, असंगत नहीं हो सकता। और पशुओं के प्रति तो कहने की भी आवश्यकता नहीं विदित होती। अतः आजकल जब सर्व प्रकार की सुविधाओं का आधिक्य होने पर भी पशुओं और मनुष्यों के लिए सुव्यवस्थित चिकित्सालयों का पूर्णता से प्रबन्ध न हो सका, तो सर्व प्रकार की असुविधाओं के होते हुए भी ढाई हज़ार वर्ष के प्राचीन काल में सम्राट् अशोक दृढ़ता एवं व्यवस्था-पूर्वक दोनों प्रकार के चिकित्सालयों द्वारा पशुओं और मनुष्यों के

हितकार्य करने में दत्त-चित्त थे। साथ में यह भी स्मरण रहे कि यह हितकार्य (अर्थात् पशुओं और मनुष्यों के लिये चिकित्सालय आदि का निर्माण या स्थापित करना) सम्राट् ने अपने ही राज्य के लिये न किया, अपितु वैदेशिक राज्यों—चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी के राज्यों, तथा, अंतियोकस, यवन, कम्भोज, राष्ट्रिक, पैठानिक नाभ ति, मग, तुरमय, अलिकसुन्दर, अंटिगोनस के यवन राज्यों (१३वाँ शिलालेख और दूसरा शिलालेख) में भी उसका (अशोक द्वारा अपने आप) प्रबन्ध कराने का विधान था। यह अशोक की विश्व-मैत्री थी जिसने सबको अपने स्नेह-सिक्त स्वर्ण-सूत्र में एकीकृत कर दिया। उनका हृदय विश्व का हृदय था, अतः किसी क्षुद्र से क्षुद्र जीव पर घात लगाने का तात्पर्य सम्राट् के हृदय को आघात पहुँचाना था। महाभारत के नियोगानुसार सम्राट् पूर्ण और सच्चे ब्राह्मण थे क्योंकि वे नित्य—"सर्व-भूतानां अक्षतिं च समचेरां च, संयमं च, मोदवं च" का ही जाप अथवा मानसिक यज्ञ किया करते थे। (महाभारत—शांतिपर्व, प्रकरण २६३, अध्याय २०, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग—"ज्ञानवान ब्राह्मण अपने को यज्ञ की सामग्री समझ कर, प्राणियों पर दया करने के निमित्त, मानसिक यज्ञ करते हैं।")

विविध देशों में धर्म का प्रचार—विविध देशों में धर्म-प्रचार के आरम्भ का श्रेय, जैसा कि हम इस प्रकरण के आरंभ में कह चुके हैं, सम्राट् अशोक को ही प्राप्त है। उनके कार्य की सीमा बद्ध न थी। उनका सिद्धांत ही सर्वभूतानां था, अतः विजित राज्य के अतिरिक्त इस धर्म-कार्य (सर्व-कल्याण के हेतु) के प्रचार का सर्वत्र बाह्य देशों में भी नियमन किया गया। बाह्य देशों में धर्म-प्रचार करने के लिये दो उपाय काम में लाये गये। प्रथम—सम्राट् ने स्वयं राजकीय कर्मचारियों को नियुक्त किया, द्वितीय—धर्म-प्रचारक संघ (Missionaries) की स्थापना की गई। पहली व्यवस्था के प्रमाण शिलालेख हैं, किंतु

दूसरी व्यवस्था का आधार पाली-साहित्य की गाथायें ही हैं। यहाँ पर पहले हम शिलालेखों वाली व्यवस्था का निरूपण करेंगे। १३वाँ शिलाभिलेख इस प्रकार लिखता है—"धर्म-विजय को ही देवताओं का प्रिय प्रमुख विजय मानता है। यह विजय देवताओं के प्रिय को अपने विजित राज्य, और सब सीमांत प्रदेशों में, तथा छः सौ योजन तक जहाँ यवनराज अंतियोकस राज्य करता है, तथा उसके पास जो अन्य चार राजा, तुरमय, अंटिगोनस, मग और अलिकसुन्दर हैं, तथा नीचे (दक्षिण में) चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी के राज्य हैं, सब जगह प्राप्त हुई है।" इस विवरण से प्रकाशित है कि सम्राट् को इन विदेशी राज्यों में धर्म-प्रचार के प्रति यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई, तथा इन सब देशों में उन्होंने सर्वशः धर्म का पूर्ण प्रचार किया, किंतु इस धर्म-प्रचार की सफलता का क्या कारण था, अथवा किन उपायों या उपकरणों द्वारा वे इन वैदेशिक राज्यों में धर्म-प्रचार कर सके ? निःसन्देह इस कार्य के लिये अवश्य धर्म-प्रचार करने वाले कर्मचारी नियुक्त होंगे। १३वाँ शिलालेख लिखता है—"देवताओं के प्रिय के धर्म का सर्वत्र-अनुसरण हो रहा है। उन राज्यों अथवा देशों के लोग भी, जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुनकर, धर्म पर आचरण करते हैं, और करेंगे। यह धर्म-विजय सर्वत्र प्रेम को देने वाली है। धर्म-विजय से ही स्नेह प्राप्त होता है।" अतः सर्वथा प्रकाशित है कि विदेशों में धर्म के प्रचार के लिये 'दूत' नियत थे। इन दूतों के अतिरिक्त प्रथम स्तम्भ-लेख अंत-महामात्र का भी उल्लेख करता है। विदित होता है कि ये दोनों (दूत और अंत-महामात्र) ही यह धर्म-प्रचार कार्य विदेशों में संपादन करते थे। इसके अतिरिक्त उपरोक्त विवरण से यह भी सर्वथा विदित होता है कि विदेशों में धर्म-प्रचार कार्य बड़ी निपुणता और अधिकता के साथ किया जा रहा था। यहाँ तक कि लोग सम्राट् का धर्माचरण सुनते ही सहसा इस नवीन बौद्ध-धर्म को अंगीकार कर लेते थे। इस

प्रकार स्पष्ट है कि सम्राट् का धर्म निम्न राज्यों में, जैसे—प्रथम भारत (अपना राज्य), अंतियोकस, तुरमय, अंटिगोनस, पैठानिक, राष्ट्रिक, मग, अलिकसुन्दर, कम्बोज, नाभाक, नाभपंति, आंध्र (के राज्यों) अथवा सिरिया, मिश्र, मैसीडोनिया, इपीरस, कैरीन, तथा दूरस्थ दक्षिणी चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी (के राज्यों)—पूर्ण रूप से विजय पा चुका था, अर्थात् इन सब राज्यों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत कर लिया था।

इन राज्यों के अतिरिक्त चीन और ब्रह्मा में भी बौद्ध-धर्म ने विजय प्राप्त की। इसका प्रमाण निम्न संदर्भ से प्राप्त होता है—"उन देशों के लोग भी जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुन कर, धर्म पर आचरण करते हैं और करेंगे।" (भंडारकर—अशोक, पृष्ठ १६०)।

मालूम होता है कि धर्म-प्रचार करने वाले ये नवीन कर्मचारी—दूत, अंत-महामात्र और धर्ममहामात्र आदि का सरकार की ओर से एक पृथक विभाग स्थापित किया गया था। यह सम्राट् का निज नूतन विधान अभूतपूर्व था तथा जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट कर चुके हैं इनके कार्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक था। ये लोग मध्यवर्ती गवर्नमेण्ट एवं शासन की परिधि से भी विमुक्त थे। उनके कार्य की व्यापकता पाँचवें और १३वें शिलालेख से सर्वशः स्पष्ट है। संक्षेपतः राज्य के कर्मचारियों को अपने "देवताओं के प्रिय" की तथा बाह्य राजाओं, सबकी सेवा करनी होती थी। यह सब अशोक की महानता के परिचायक हैं। (शिलालेख—द्वितीय)।

अशोक एक महान् ऋषि एवं पुरुष हुए हैं। यदि अन्तिम बुद्ध-अवतार के अनंतर कोई धर्म का अवतार हुआ तो वह केवल अशोक था। अशोक की मानवता अभिनंदनीय है और उनकी मौलिकता सराहनीय। वे प्रथम धर्म-प्रचारक थे, और धर्म-प्रचारक

मिशनों (दूतों) के योजक थे। अकेले अशोक ने जो पराक्रम धर्म-प्रचार कार्य में प्रदर्शित किया तथा जितना विस्तार अशोक ने धर्म का किया, उतना आज तक किसी धर्म-मिशनरी ने भी न कर पाया। यद्यपि २०वीं शताब्दी अपने वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप उनकी विभिन्न कठिनाइयों को हल करने में हर प्रकार समर्थ है। किंतु अशोक धन्य हैं, उनका कार्य अभिनन्दनीय है, उनका पराक्रम सराहनीय है, एवं वे सर्वप्रकार अद्वितीय और पारलौकिक हैं, जिन्होंने प्राचीनतम काल की संपूर्ण विकट अवस्थाओं तथा बाधाओं को भी लाँघते हुए, दूरस्थ यवन, सिरिया, मिश्र, कैरीन आदि राज्यों पर धर्म की कल्याणमयी विजय को, एक बार नहीं, कितनी ही बार उपलब्ध की। (१३वाँ शिलालेख)।

सम्राट् की धर्म-विजय पर कटु आक्षेप—पाश्चात्य लोगों की सर्वदा से यह धारणा रही है कि भारतीय लोग विद्वान नहीं होते। उनकी पक्षपातिता उनकी इस विरोधिता की उत्तरदायिन है। उनका संकुचित पक्षपात कभी भी उन्हें विचारने का अवसर नहीं देता कि प्रथम ज्ञान-रवि प्रकाश प्राची से ही उदय हो कर पश्चिम की ओर ढलता गया। अपितु वे सोचते हैं कि काले मस्तकों में गोरे विचारों का अभाव रहता है। हजारों वर्ष से गुलामी में घसीटे जाने वाले भारतीय कैसे स्वतंत्र गौरांगों का सामना कर सकते हैं, यही कारण है कि यूरोपीय विद्वान् सम्राट् के यवन राज्यों (अंतियोकस, तुरमय, अंटिगोनस, राष्ट्रिकों, पैठानिकों, मग, अलिकसुन्दर, कम्बोज नाभाक आदि (१३वाँ शिला-लेख) पर विजय पाना अथवा धर्मप्रचार करना असंभव ही नहीं, अपितु असत्य समझते हैं।

इसी आक्षेप को ले कर रीज डेविडस (Rhys Davids) अपनी पुस्तक बुद्धिस्ट इण्डिया (Buddhist India) में लिखते हैं, क्योंकि भारतीय महत्ता एवं गुरुता को स्वीकार करने में उनकी गोरी आत्मा काँप उठती है, "यह कहना असंभव है कि इस (धर्म-विजय) में से

कितना अंश राजकीय प्रलाप से परिपूर्ण है। यह पूर्ण रूप से सत्य भासित होता है कि यवन राज्यों पर धर्म की विजय पाने का उल्लेख केवल अपने कार्य का महत्त्व बढ़ाने के लिये किया गया है, अथवा ज़ोर देने के लिये है। वस्तुतः वहाँ पर किसी भी प्रकार का धर्म-प्रचार न किया गया, और न कोई धर्म-प्रचारक अथवा मिशन यवन-राज्यों तक भेजे गये और यदि वे भेजे भी गये हों तो यह किसी तरह संभव नहीं हो सकता कि भारतीय धर्म का, यूनानी धर्म पर कुछ प्रभाव पड़ा होगा। अतः सम्राट् का यवन-राज्यों पर धर्म-विजय का इस भाँति परिणाम दिखलाना, उन (सम्राट्) के गर्व का सूचक है। ग्रीक जाति कभी इस बात को सहन नहीं कर सकती थी कि भारतीय जैसी असभ्य वर्बर (Barbarians) जाति उनको धर्म पर शिक्षा दे। यह किसी प्रकार भी संभव नहीं, कि एक भारतीय राजा के धर्मानुशासन पर, यूनानी लोग अपने देवताओं और धर्म-तत्वों को ठुकरा देते।"

प्रथमतः एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि पाश्चात्यों की सभ्यता का नाप साधारणतया शक्ति या पशुबल से लिया जाता है। जो जाति सबल है, जिसमें औरों को ठुकराने की यथेष्ट शक्ति है, उसे यूरोपियन लोग सभ्य मानने के लिये सर्वदा तत्पर हैं। किन्तु निर्बल, दुर्बल और गुलाम जाति को वे निरा पशु समझते हैं, यही कारण है कि चीन और भारत आज असभ्य देशों में से हैं; क्योंकि ये दोनों देश गुलामी से जड़ीकृत (सीदंति गात्राणि) हैं। किंतु स्मरण रहे कि मौर्य्य-राष्ट्र के समय भारतीय यथेष्टतः सभ्य थे। उनके पास हाथ-पैर चलाने की पूर्ण शक्ति थी, और उनके गात्र संस्तम्भ (Paralized) न थे। उस समय पाश्चात्य म्लेच्छों के दाँत खट्टे करने वाले प्रगल्भ अभूतपूर्व पराक्रमी चन्द्रगुप्त सदृश क्षत्रियों की भुजा में उष्ण रक्त प्रभाव से दौड़ रहा था, जिसकी वीरता ने अभिमानी सिकन्दर को भी चकित कर, एवं उसके वीर जनरल सिल्यूकस को पराजय दे,

अपूर्व भारतीय सभ्यता का परिचय दिया। ग्रीक-जाति भारतीय सभ्यता को मान गई, और समकक्ष ही नहीं, अपितु महान् समझ कर, भारत को ग्रीक-कन्या अर्पण कर गई। इस प्रकार प्रथम मौर्य्य चन्द्रगुप्त की यूनानियों ने पूजा कर उसकी महानता को स्वीकार करते हुए अपना जामात बनाया। इसी समय सिल्यूकस का राजदूत मेघास्थनीज भारतीय मौर्य्य दरबार में आ कर रहने लगा (३०२ ई० पू०)। तत्पश्चात् निरंतर यूनानी राजाओं के दूत भारत में आने-जाने लगे। तब से दूतों का यह आवागमन क्रमबद्ध-सा हो गया। इस प्रकार सिल्यूकस के अनन्तर अन्य राजाओं ने भी अपने-अपने दूत भेजे। मिश्र के राजा फिलाडलफोस (Philadelphos) ने भी अपना दूत मौर्य्य दर्बार में भेजा था। इस प्रकार बिन्दुसार के समय दूतों का आवागमन नित्य था।

पुनः अशोक के समय विदेशों का दूत भेजा जाना १३वें शिलालेख से प्रत्यक्ष है। किन्तु अशोक के समय इन दूतों का राजनीतिक सम्बन्ध के अतिरिक्त धर्म-सम्बन्ध से अधिक तात्पर्य था, अपितु वे धर्म-प्रचार के हेतु ही भेजे जाते रहे। विदेशों में धर्म-प्रचार करने वाले इन दूतों को अन्त-महामात्र भी कहा जाता था, (स्तम्भ-लेख प्रथम)। इसके अतिरिक्त कलिंग शिलालेख द्वितीय से सम्राट् की सीमांत नीति अथवा यूनानी राज्यों के प्रति सम्बन्ध का हमें पूर्ण आभास मिल जाता है। इस शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"अविजित (अविजिता) सीमांत प्रदेश (अन्तानां) यह पूछें कि 'सम्राट् का हमारे प्रति क्या विचार (इच्छा) है?' सीमांत प्रदेशों के प्रति मेरी यही इच्छा है कि वे इस बात को समझें कि वे सम्राट् के कोप से स्वतन्त्र रहें, किन्तु मुझ पर विश्वास करें कि मेरे द्वारा दुःख के अतिरिक्त सुख ही पायेंगे। तथा वे यह भी समझ लें कि सम्राट् जो क्षमा के योग्य है उसे क्षमा करेंगे, सम्राट् उनको धर्माचरण पर लाना चाहता है, जिससे वे इहलोक और परलोक दोनों में सुख को प्राप्त

हों।" अतः इस विवरण से सुस्पष्ट है कि ये सीमांत प्रदेश यद्यपि विजित (अर्थात् राज्य के अन्तर्गत) न थे, किन्तु ये अवश्य सम्राट् के अधीनस्थ थे, अथवा अर्द्ध स्वतन्त्र थे और उनकी स्वतन्त्रता नियमित थी, अर्थात् धर्माचरण एव अच्छे या उत्तम व्यवहार पर निर्भर थी (सके छमनिवक जो क्षमतव्य है वह क्षमा किया जायगा अन्यथा दण्ड दिया जायगा)। इन राज्यों के लिए अपरन्ता (पाँचवाँ शिलालेख) कहा गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिक, पैठानिक आदि। (शिलालेख १३वाँ)। अतः अर्द्ध-स्वतंत्र या वशीकृत होने के कारण ये लोग सम्राट् के धर्माचरण अथवा धर्मानुष्ठि पर आचरण करते होंगे इसमें सन्देह नहीं (देखिए नोट—१३वाँ शिलालेख में)। इनके अतिरिक्त अन्य यवन राजा (अन्ता) जो स्वतन्त्र थे, वहाँ सम्राट् ने धर्म-विजय पाई थी। यह धर्म-विजय सम्राट् ने अपने मांगलिक एवं अभयदान के फलस्वरूप प्राप्त की थी। द्वितीय शिलालेख कहता है कि सम्राट् ने इन सीमांत राज्यों में भी सर्व-मङ्गल-हित पशुओं और मनुष्यों दोनों के लिये चिकित्सालय स्थापित किये थे, तथा अन्य धर्म-हित और धर्म से आनन्द देने वाले उपकरणों का नियमन करवाया था (देखिए, स्तम्भ-लेख प्रथम)। उपसंहार में कह सकते हैं कि 'अपरन्ता' वालों ने सम्राट् के आतंक (अथवा सभ्यता) से प्रभावित हो कर धर्म पर आचरण किया, और 'अन्ता' वालों ने सम्राट् की विश्वमैत्री एवं तादात्मता से प्रभावित होकर बौद्ध-धर्म को अंगीकृत किया। हमें कहने का अधिकार है कि रीज डेविडस् से कहीं विशिष्ट इतिहासज्ञ सम्राट् अशोक स्वयं थे, वे पक्षपातिता से सहस्रों योजन की दूरी पर थे, अतः उन्हें किसी के पक्षपात करने की आवश्यकता न थी, चाहे वे स्वयं ही क्यों न हों, इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा सत्यशः लिखा और सर्वकल्याण एवं मगल के लिये लिखा। सम्राट् में एकरूपता थी, यही कारण है कि उन्होंने सबके हित के लिये समान रूप से कार्य किया। जिस प्रकार सम्राट् अपने विजित

प्रदेश की प्रजा को मानते थे और उनका हित चाहते थे उसी तरह वे इन वैदेशिक राज्यों की कल्याण-कामना के अभिलाषी थे। (द्वितीय शिलालेख, १३वाँ शिलालेख और स्तम्भ-लेख प्रथम)।

सम्भव है कि प्रसन्नता में आ कर सम्राट् ने कुछ बढ़ा कर कह दिया हो, किन्तु यह कहना कि यवन अथवा यूनानी प्रदेशों में धर्म-विजय या प्रचार का उल्लेख करना केवल सम्राट् का प्रलाप करना है, झूठ ही नहीं अपितु सत्य पर आक्षेप लगाना है। तथा कोई भी प्रकृतिस्थ या अनुन्मत्त व्यक्ति इस प्रकार नहीं कह सकता। किन्तु डेविडस का यह कथन यथार्थ में पक्षपातिता एवं गौरवर्ण की गरिष्ठता का निर्देशक है, जिस प्लेग से पाश्चात्य लोग सर्वदा से पीड़ित रहे हैं। अतः सम्राट् ने जो कुछ कहा या लिखा वह निःसंदेह सत्य कहा। तथा शिलालेखों पर आक्षेप लगाने का तात्पर्य इतिहास को उत्पथ या मिथ्या करने का उपक्रम समझा जाना चाहिये।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति आदि से उच्च और महान् रही है। आर्य्य संस्कृति ने किस पर अपना प्रभुत्व न जमाया। यूनानी, शक, हूण आदि जो भी भारत में आये सबको भारतीय संस्कृति के समक्ष अपना मस्तक झुकाना पड़ा। इसके प्रति हमारे पास कई बहु-मूल्य प्रमाण विद्यमान हैं। जब सिकन्दर महान् भारतवर्ष में था, उसने एक भारतीय दार्शनिक (यूनानियों ने उसका नाम मैनडनिस् दिया है) के प्रति बड़ी भारी प्रशंसा सुनी। यह सुनकर सिकन्दर ने उसे देखने की अभिलाषा प्रकट की। अतः दार्शनिक को बुलाने के लिये एक दूत भेजा गया। यह दूत दार्शनिक के पास जा कर बोला, "सम्राट् सिकन्दर तुम्हें कहलवाते हैं। यदि साथ चलोगे तो तुम्हें पुरस्कार दिया जायेगा अन्यथा मृत्यु का दण्ड पाओगे।" यह सुन कर दार्शनिक ने गम्भीर भाव से कहा, "मुझे मनुष्य के देन की (अथवा दान की) कोई चिन्ता (अभिलाषा, औत्सुक्य) नहीं है। अपितु मुझे धमकियों का भी कोई भय नहीं है, क्योंकि यदि जीवित

रहूँगा तो भारतवर्ष मुझे भली प्रकार भोजन खिला सकता है तथा यदि मारा भी जाऊँगा तो मेरी आत्मा बन्धनरहित हो जावेगी...... और पुनः दिव्यरूप प्राप्त होगा।" जब सिकन्दर ने यह सुना तो वह आश्चर्यान्वित हो उठा। उसने ऐसे विशाल पुरुष की अत्यन्त प्रशंसा की और दार्शनिक को फिर कभी न छेड़ा।[1] इस विवरण से सुप्रकाशित है कि मौर्य्यों के समय भारतीय सभ्यता एवं पौरुषता का लोहा सिकन्दर सदृश यूनानियों को भी स्वीकृत करना पड़ा था। ऐसी दशा में यदि अशोक के सर्व-मंगलकारी धर्म का यूनानियों पर प्रभाव पड़ा हो तो इस पर सन्देह न होना चाहिये। सम्राट् के धर्म से प्रभावित होने का एक और कारण है, अशोक ने धर्म के निगूढ़ तत्वों "अनारंभो प्राणानां" और "अहिंसा-भूतानां" का प्रचार मौखिक ही न किया, अपितु प्रयोगों द्वारा उन्हें चरितार्थ किया, (शिलालेख द्वितीय, ७वाँ स्तम्भ-लेख)। अतः इस सार्वभौमिक एवं सार्वलौकिक मङ्गलमयी धर्म का यूनानियों पर सरलता से प्रभाव पड़ा और सम्राट् को विजय (धर्म-विजय) पाने में कोई कठिनाई न प्रतीत हुई।

इसके अतिरिक्त अन्य विदेशी लोगों पर भी आर्य्य संस्कृति का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। जितने भी शक, हूण आदि आये, उन सबको भारतीय सभ्यता के सामने झुकना पड़ा, एवं आर्य्य संस्कृति को अपना कर, ये लोग समय के साथ-साथ पूर्णतया भारतीय ही हो चले, (ये ही लोग पीछे विभिन्न जाति के क्षत्रियों में भी परिणत हुए)। महान् कनिष्क इतिहास में एक प्रसिद्ध बौद्ध-धर्मी हो चुका है। इसी कनिष्क को अधिक रूप से धर्म-प्रचार का श्रेय प्राप्त है।

एक और यवन आर्य्य संस्कृति से प्रभावित होकर बौद्ध भिक्षु बना था। इस यवन ने अपने मूल नाम को बदल कर, अपना नाम 'धर्मरक्षित' रखा। इसी धर्मरक्षित द्वारा अपरन्ता में धर्म का

[1] McCrindle Ancient India, Megasthenese and Arian, page 107.

अत्यधिक प्रचार हुआ। अतः व्यक्त होता है कि अपरन्ता आदि यवन प्रदेशों में सम्राट् की धर्म-विजय पाने का एक कारण यह भी था कि स्वयं यवन लोग धर्म-प्रचारक संघ में सम्मिलित हो गये थे।

भारतीय संस्कृति से ही प्रभावित हो कर यवन हिलीओडोरस् ने वैष्णव-धर्म को अपनाया था। इसी यवन ने 'वासुदेव' के सम्मानार्थ एक स्तम्भ स्थापित किया था। यह यवन आर्य्य अपने को भागवत या वासुदेव का उपासक कहा करता था (१४० ई० पू०)।

कहते हैं कि मिश्र के प्रख्यात पुस्तकालय, अलक्जेन्ड्रियन् लाइब्रेरी (Alexandrian Library) का निर्माण मिश्र के राजा टौलमी फिलाडलफोस (Ptolemy Philadelphos) ने किया था। इसी लाइब्रेरी के अध्यक्ष की अभिलाषा थी कि भारतीय पुस्तकों का उल्था किया जाय[1]।

इसके साथ ही यदि पश्चिमी एशियाई देशों आदि के धार्मिक इतिहास का अध्ययन किया जाय तो प्रकाशित होगा कि, ईसाई तथा अन्य धर्म जैसे—इस्सेनिस् (Essenes), थीरापन्टी (Therapente) आदि पाषंडों (धर्मों अथवा सम्प्रदायों) पर बौद्ध-धर्म का यथेष्टतया प्रभाव पड़ा था[2]।

इस वृत्त को लक्ष्य में रखकर डाक्टर भंडारकर कहते हैं, "पश्चिमी एशियाई धर्मों पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव पहली ई० के पूर्व तक अंकित किया जा सकता है। स्पष्ट है कि इसका कारण, इन प्रदेशों में सम्राट् अशोक द्वारा (धर्म-विजय) धर्म-प्रचार किया जाना ही था।"

अतः सर्वशः सुप्रकाशित है कि यवन (यूनानी) लोगों पर आर्य्य

---

[1] देखिए—Epiphanius and News et Pond, 8.

[2] देखिए—Buddhism and its Christian Critics, pp. 215-216. Also see V. A. Smith's Early History of India 3rd Ed., p. 188.

संस्कृति एवं भारतीय सभ्यता का यथेष्ट प्रभाव पड़ा तथा वे लोग भारतीयों की आर्य्य संस्कृति से भली प्रकार परिचित थे। अपितु यूनानी लोगों ने भारतीय सभ्यता में 'आदर्श' का साक्षात्कार किया। और ये लोग आर्य्यों के समक्ष नत-मस्तक हुए।

इस प्रकार की भारतीय परमार्थनिष्ठा एवं असांसारिकता थी, जो भौगोलिक सीमाओं तथा व्याघातों को लाँघती हुई, आर्य्य-संदेश तथा सर्वकल्याण के सिद्धांत को अन्य पाश्चात्य प्रदेशों में ले जा कर महान् एवं अमूर्त भारत का निर्माण कर गई।

धर्म-विजय-काल की तिथि—१३वाँ शिलालेख बहुत से स्वतंत्र और अर्द्ध-स्वतंत्र सीमांत-प्रदेशों, तथा अन्य प्रदेशों का उल्लेख करता है, जहाँ पर सम्राट् के धर्म-प्रचारकों को धर्म के प्रचार करने में यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त शिलालेख अर्थात् १३वें शिलालेख में यह भी प्रागुक्त है कि यह धर्म-विजय विजित राज्य तथा सीमांत अन्य प्रदेशों में बारबार उपलब्ध हुई थी, (सो च पुन लधो देवानांप्रियस् इह च सवेसु च अंतेषु) और इस शिलालेख की तिथि २५८ ई० पू० मानी जाती है, अतः प्रकाशित है कि २५८ बी० सी० से पहले ही इन सीमांत विदेशी प्रदेशों में धर्म-प्रचार हो चुका था, क्योंकि २५८ ई० पू० की विजय कम से कम द्वितीय वार उपलब्ध हुई विदित होती है। इस धर्म-विजय के परिणाम-स्वरूप इन बाह्य प्रदेशों में सार्वमांगलिक कार्य की स्थापना हो चुकी थी, जैसा कि द्वितीय शिलालेख से प्रकाशित है, इन वैदेशिक राज्यों में भी दो प्रकार के चिकित्सालयों (मनुष्यों और पशुओं के) का नियमन कर दिया गया था। अतः इन सर्व-मांगलिक कार्यों के विधान की तिथि २५८ बी० सी० से प्रथम ही आनी चाहिये। इसके अनंतर १३वें शिलालेख में पाँच यवन राजाओं का उल्लेख दिया गया है। ये यवन राजागण सामूहिक रूप से २५८ बी० सी० तक अशोक के समकालीन रहे, क्योंकि इनमें से एक राजा मग (मक) की

२५८ ई० पू० में मृत्यु हुई थी। अतः २५८ बी० सी० विदेशों में धर्म-प्रचार की गत अथवा पूर्ववर्तनी तिथि मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त महावंश से यह भी व्यक्त होता है कि धर्म-प्रचारक मण्डल का कार्य २५३ ई० पू० में अत्यधिक उत्साह के साथ किया जा रहा था।

विदेशों में धर्म-प्रचारक मंडल का कार्य (गाथाओं से)—सम्राट् के अतिरिक्त, महावन्श आदि से प्रकाशित होता है कि कई अन्य धर्मप्रचार भिक्षु-भिक्षुणियों के मण्डल विदेशों में बड़े उत्साह एवं उद्योग के साथ धर्म का प्रचार कर रहे थे। महावन्श (प्रकरण ५–२८०) लिखता है, कि अशोक के अभिषेक के १७वें वर्ष, पाटलिपुत्र में, सम्राट् के रक्षण एवं मोगालिपुत्त तिस्स या उपगुप्त—जैसा कि उत्तरीय गाथा कहती हैं—की अध्यक्षता में, बौद्ध-धर्म की तीसरी महासभा हुई थी। इस महासभा के साथ ही बौद्ध-धर्म का विदेशों में प्रचार प्रारम्भ होता है, क्योंकि इस सभा के विसर्जन होते ही उपगुप्त ने थीरों को इधर-उधर भेजा। इन थीरों के नाम नीचे दिये जाते हैं, साथ ही उन प्रदेशों का भी उल्लेख किया जाता है, जहाँ ये "थीरा" भेजे गये थे। (Lb. XII, 1–8.)

धर्मप्रसारार्थ-प्रेषित-गण	प्रदेश
(१) मझन्तिक (Majjhantika)	काश्मीर और गान्धार[1]
(२) महादेव	महिसामण्डल[2] (मैसूर या मानधाता)
(३) महारक्षित	यवन[3] या यूनानी प्रदेश

[1] शिलालेख पाँचवें में इसका उल्लेख आया है।

[2] महिसामंडल, दक्षिणी मैसूर था, शिलालेख द्वितीय में आये हुए "सत्यपुत्र" इसी प्रदेश के थे (J. R. A. S, 1966—p. 8. 39)।

[3] ५वें और १३वें शिलालेख में इनका उल्लेख आया है। इससे प्रकाशित होता है कि ग्रीसो-बैक्ट्रीयन-साम्राज्य इस समय, अर्थात—डायोडोटस (Diodotus) द्वारा निर्मित किया गया था।

धर्म-प्रसारार्थ-प्रेषित-गण	प्रदेश
(४) धर्मरक्षित (मूलतः यह यवन था)	अपरंतका[१]
(५) मज्झिमा	हिमालय प्रदेश[२]
(६) महाधर्मरक्षिता	महाराष्ट्र[३]
(७) रक्षित	वनवासी[४] (उत्तरी कनारा)
(८) सोन और उत्तरा	सुवर्णभूमि[५] (पेगु और मौल में)
(९) महेन्द्र, राष्ट्रीय, उत्तरीय, संबल, और भद्रासर	लंका (सिंहल) (महावंश, प्रकरण १२)

धर्म-प्रचारकों की अल्प भिन्नता के साथ—जे० आर० ए० एस० भी एक लिस्ट देता है—

(List of Missionaries sent out by Asoka, J. R. A. S., 1908, pp. 8, Table IV).

(१) मझन्तिक	गान्धार, काश्मीर
(२) महादेव	महिसा (महिसामण्डल)।

(किन्तु विगनडिट (Bigandet) कहता है कि महिसामण्डल को "रेवती" गया था।)

(३) रक्षित	वनवासी
(४) योन धर्मरक्षित	अपरंतका
(५) महाधर्मरक्षित	महाराष्ट्र (महरट्ठा)

[१]शिलालेख पाँचवें में पैठानिकों को अपरंता निवासी कहा गया है।

[२]हिमालय—सम्भवतः १३वें शिलालेख में उल्लेखित नाभाक या नाभपंति ही हिमालय निवासी लोग थे।

[३](शिलालेख पाँचवाँ और १३वाँ)—विन्ध्याचल के पास बसे हुए आन्ध्र और पुलिन्द तथा राष्ट्रिकों का प्रदेश।

[४]शिलालेख में दक्षिणी प्रदेशों, जहाँ धर्म-प्रचारक गये थे उनका नाम स्पष्टतः चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र और केरलपुत्र दिया है।

[५]ह्वेनसांग से वर्णित बङ्गाल का सुवर्ण प्रदेश, या सोन नदी (हिरण्यपात्र, सुवर्णवाहिनी) पर स्थित था। (J. R. A. S., 1910, p. 428)

धर्म-प्रसारार्थ प्रेषितगण	प्रदेश
(६) महारक्षित	यवन प्रदेश

(किन्तु विगनडिट (Bigandet) कहता है कि यवन-प्रदेश को धर्म-रक्षित भेजा गया था।)

(७) मज्झिमा, कास्सपगोत्त, दुराभिश्व और सहदेव तथा मुलकदेव	हिमवंत (हिमालय)
(८) सोन और उत्तरा	सुवर्णभूमि
(९) महिन्द (महेन्द्र) और चार साथी महावंश उनके नाम देता है— इत्तिया (Ittiya), उत्तीया (Uttiya), सम्बल (Sambala) और भद्दसाल (भद्रसाल)	लंका

गाथायें (प्रणवृत्याख्यान) कहती हैं कि प्रत्येक मुख्य धर्म-प्रचारक के साथ चार-चार साथी थे।

महावंश इन धर्म-प्रचारकों के कार्य का अत्यन्त सरसता के साथ उल्लेख करता है (महावंश--प्रकरण १२, अनेकानेक वैदेशिक प्रदेशों का धर्म-परिवर्तन)—"कल्याणमयी भगवान् बुद्ध के धर्म-दीपक, मोग्गालिपुत्त तिस्स (उपगुप्त) ने तृतीय महासभा को समाप्त कर, धर्म के भविष्य को विचारने लगे, यह समझ कर कि विदेशों में बौद्ध-धर्म प्रचार का समय आ पहुँचा है, उन्होंने कार्तिक के महीने व्यक्तिशः निम्न थीरों को विदेश में धर्म-प्रचार के लिये भेजा।" इन थीरों के नाम हम पूर्वनिर्दिष्ट कर चुके हैं। यहाँ पर हम केवल उनके कार्य-क्रम का उल्लेख करेंगे, जिस तरह महावंश में वर्णित है—प्रथम मुझन्तिक के काश्मीर और गान्धार में धर्म वर्णन का उल्लेख इस प्रकार दिया गया है—"काश्मीर और गान्धार में इस समय "अरावलो" नाम का एक राजा राज कर रहा था। यह राजा अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न था। अपनी इस शक्ति द्वारा भीषण तोयविप्लव (जलप्रलय) कर, वह

काश्मीर और गान्धार की सम्पूर्ण पकी हुई फसल को डुबा रहा था। थीरो मझन्तिक वायुमार्ग द्वारा तुरन्त उड़ कर अरावला झील में उतरा। वहाँ समाधि में ध्यानस्थ हो पानी की सतह पर घूमने लगा। नागों ने क्रोधित हो कर यह बात राजा से कही। क्रोधित नागराज ने उसे अनेक प्रकार से भयसंकुल करना चाहा। एक क्रोधाविष्ट तुफान आक्रन्दन करने लगा और प्रलय का जल बरस उठा। वज्र कड़का और स्रोत प्रवाह में बिजली स्फुरित होने लगी। चारों ओर विनाशकारी वज्रपात होने लगा और उत्तुङ्ग श्रेणी वाले पहाड़ मूल से टूटने लगे। नागों ने अनेक तरह के भीषण रूप धर कर इस थीरो को आक्रान्त कर उसे भ्रष्ट करना चाहा। नागराज ने स्वयं अनेक भाँति पीड़ित करते हुए उस पर धुआँ और आग छोड़ी। अपनी पारलौकिक शक्ति से थीरो ने सब प्रकारों के भयों पर विजय प्राप्त की। तदनन्तर अपनी अमित शक्ति को दिखा कर, थीरो ने नागराज को इस प्रकार सम्बोधित किया, "ऐ नागराज! यदि देवतागण भी मनुष्यों से मिल कर मुझे भयाकुल करना चाहें तो वह सब उपक्रम निरर्थक होंगे। और यदि तुम सागर और पहाड़ों समेत सारे संसार को मेरे मस्तक पर ढाहना चाहो, तब भी तुम मुझे भयार्त्त नहीं कर सकते हो। ऐ नागराज, फसल को नष्ट करने की यह क्रिया स्थगित कर दो।"

नागराज, थीरो के इस उत्तर को सुन कर शान्त हुआ। उसे थीरो ने धर्म के सिद्धान्तों को समझाया। इस धर्म-ग्रहण करने के फलस्वरूप नागराज को मोक्ष प्राप्त हुआ।

इसी भाँति बर्फीले प्रदेश या हिमवन्त में, चौरासी हजार (८४,०००) यक्ष, गन्धर्व, नाग और कुम्भकों ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया।

पंचक नामक एक यक्ष ने अपनी स्त्री हरित और पाँच सौ लड़कों सहित, धर्म की प्रथम अवस्था "सोवन" को उपलब्ध किया। इसके अनन्तर उसने अपने पुत्रों को इस तरह सम्बोधित किया, "पहले

की भाँति अहंकारी और क्रोधी न होना। किन्तु प्राणीमात्र के हित के लिए एकांतवास लेना तथा फसलों को नष्ट करने से अपने को रोक कर सर्वप्राणियों (सर्वभूतानां) पर कल्याण भाव रखना। मानव रक्षण करते हुए जीवन व्यतीत करना।" इन लोगों (पुत्रों) ने इसी प्रकार व्यवहार किया।

तदनन्तर नागराज ने थीरो मझन्तिक को रत्न-जटित सिंहासन पर आस्पद किया, और अपने आप आदरपूर्वक पंखा झलने लगा। नागराज के क्रोध को शान्त करने तथा फसल को विनष्ट होने से बचाने के हेतु, काश्मीर और गान्धार के निवासीगण भेंट लेकर नागराज के पास आये। किन्तु जब उन्होंने अलौकिक थीरो का वर्णन सुना तो नागराज के अतिरिक्त वे थीरो के चरणों में झुके और पास ही सम्मानपूर्वक खड़े हो गये।

थीरो ने उन्हें "असीविसोपम" (बुद्ध का सिद्धान्त) को समझाया। अस्सी हजार मनुष्यों ने उत्तम बौद्ध-धर्म को अंगीकृत किया और एक सौ हजार (१००,०००) मनुष्यों ने थीरो से प्रव्रज्या ग्रहण की।

तब से ले कर आज तक काश्मीर और गान्धार के लोगों की बौद्ध-धर्म के तीनों अंग (बुद्ध, धर्म और संघ) के प्रति अत्यन्त भक्ति है। तथा सम्पूर्ण प्रदेश पीत-पटों (भिक्षुओं के वस्त्र) की कांति से भासमान है।

थीरो महादेव महिसा-मण्डल प्रदेश को गया। (महिसा-मण्डल को स्मिथ ने मैसूर से समीकृत किया है)। वहाँ जाकर महादेव ने जनता में 'देवदूतसुत्तन्त' का प्रचार किया। इससे ४०,००० (चालीस हज़ार) मनुष्यों ने सर्वोपरि बौद्ध-धर्म को स्वीकृत (अंगीकार) किया तथा चालीस हज़ार (४०,०००) मनुष्यों को भिक्षु बनाया।

इसके अनन्तर थीरो रक्षित वायुमार्ग से वनवास प्रदेश को गया। वहाँ जाकर उसने जनता के मध्य "अनमतग्ग" (बुद्ध-सम्वाद) का

प्रचार किया। ६०,००० (साठ हज़ार) मनुष्यों ने बौद्ध-धर्म अंगीकृत किया। तथा ३७,००० (सैंतीस हज़ार) मनुष्यों ने दीक्षा ली और भिक्षु हुए। इस प्रदेश में भगवान् गौतम के धर्म को स्थापित कर, इस थीरो ने पाँच हजार विहार बनवाये।

थीरो योनको (यवन) धर्मरक्षित अपरन्तका प्रदेश में गया। वहाँ जनता के मध्य उसने "अग्गिक्खन्थोपम् सुत्त" (बुद्ध का संलाप) का प्रचार किया।

यह थीरो (आचार्य) धर्म और असत्य धर्म के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझता था। अतः एकत्रित हुए ७०,००० (सत्तर हज़ार) लोगों को इसने सत्य धर्म के सरस रस की घूँट पिलाई। विशुद्ध क्षत्रिय वंश के १,००० (एक हज़ार) पुरुष और उससे भी अधिक महिलायें, धर्म से उत्साहित होकर, भिक्षु-सङ्घ में प्रविष्ट हुए।

पवित्र (पुण्यात्मा) आचार्य (थीरो) महाधर्मरक्षित मरट्टा (महाराष्ट्र) प्रदेश को गया। वहाँ उसने भगवान् बुद्ध के "महा-नारद कस्सप जातक" का प्रचार किया। ८४,००० (चौरासी हज़ार) मनुष्यों ने सत्य बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया, तथा १३,००० (तेरह हज़ार) मनुष्यों को भिक्षु बनाया।

थीरो (आचार्य) महारक्षित यवन प्रदेश को गया। वहाँ उसने "कलकराम-सुत्त" (बुद्ध का संवाद) का प्रचार किया। १००, ७०,०००, एक सौ सत्तर हज़ार मनुष्यों ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया तथा १०,००० दश हज़ार लोगों ने दीक्षा ली।

थीरो मज्जहिमो, चार अन्य थीरों सहित (कस्सपो, मलिकदेवो, धुन्धिमुनसो, और सहसदेवो) हिमवन्त प्रदेश में गए। वहाँ जा कर उन्होंने "धम्मचक्को" (बुद्ध का सम्वाद) का प्रचार किया। अस्सी करोड़ मनुष्यों ने सत्य बौद्ध-धर्म को अंगीकृत किया। इन पाँच थीरों ने अलग-अलग हिमवन्त के पाँच विभागों में धर्म-प्रचार किया।

प्रत्येक थीरो के समाज में १००,००० (एक लाख) मनुष्यों ने अलौकिक बुद्ध भगवान् की भक्ति से प्रेरित हो कर दीक्षा ली और संघ में प्रवेश किया।

आचार्य सोन, आचार्य उत्तर समेत सुवर्णभूमि को गया। इस समय वहाँ यह हाल था कि ज्यों ही बच्चा उत्पन्न होता, एक जल-पिशाचिनी समुद्र से निकल कर उसे निगलती हुई अंतर्हित हो जाती थी। इसी समय (धर्म-प्रचारकों के वहाँ पहुँचने पर) राजगृह में एक बालक जन्मा। वहाँ के निवासियों ने भिक्षुओं को देख कर उन्हें राक्षसी (पिशाचिनी) के सहायक समझा। अतः उन्होंने घेरा डालकर उन्हें विनष्ट करना चाहा। थीरों ने अपना उद्देश्य जताकर उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया—"हम धर्म के आचार्य हैं, राक्षसी के सहायक वर्ग नहीं!" इसी समय राक्षसी अपने सहायकों सहित समुद्र से निकली। यह देख कर लोगों की भीड़ भयार्त्त हो चिल्ला उठी। थीरो ने अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा, राक्षसों की एक दूसरी सेना तैयार की। यह सेना भक्षण करनेवाली राक्षसी के दुगनी थी। इस सेना ने राक्षसी की सेना को घेर लिया। वह इन अगणित राक्षसों को देखकर, भयार्त्त हो भाग गई। इस प्रकार धर्म की रक्षा स्थापित कर, लोगों की एकत्रित हुई भीड़ को (समाज को) "ब्रह्मजालसुत्त" (बुद्ध का संलाप) का प्रचार किया। असंख्य लोगों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत किया।

६००,००० (छः लाख) मनुष्य धर्म के सिद्धान्तों में पूर्णता से भिज्ञ हो गये। २५,००० (पच्चीस हज़ार) लोगों ने दीक्षा ली, भिक्षु हुए, और १,५००, (एक हज़ार पाँच सौ) विभिन्न जाति (वर्ण) की महिलायें और पुरुष भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हुए।

उस समय के पश्चात् राजगृह में, जो भी राजकुमार जन्मा, उसका नाम, (सोनो और उत्तरो के नाम पर) सोनोत्तरो रखा गया।

निःसंदेह इन थीरों ने भगवान् गौतम के सर्व-त्याग का आदर्श रख कर, अमृत से प्रहर्ष (सुख) का परित्याग कर, विदेशों में धर्म-प्रचार का अपने स्कंध पर सर्वकल्याण के हेतु भार ग्रहण किया। जब कि संसार का कल्याण आतंक में हो, कौन उसका निवारण करने में विलम्ब करेगा। "विविध विदेशों का धर्म-परिवर्तन" नाम का यह १२वाँ प्रकरण धार्मिक लोगों की प्रसन्नता तथा धर्म के लिये, महावंश ने लिखा।"—(By the Hon. George Turnour)।

अनेक विद्वद्गण परंपरागत रूढ़ियों की चमत्कारिक एवं सरस साहित्यिक शैली को देख कर उन्हें सहसा असत्य कहने में देर नहीं लगाते। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि इन आख्यानों में, चमत्कारों एवं कवित्व के अंतर्भूत, अमूल्य ऐतिहासिक तथ्य छिपा रहता है। इनमें से चमत्कारिक ढङ्ग के अतिरिक्त, बहुतों की सत्यशीलता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हम बहुत से शिलालेख के प्रदेशों को गाथाओं के प्रदेशों से पूर्व ही निर्दिष्ट कर चुके हैं, जिससे इन गाथाओं की अमूल्यता पूर्ण सराहनीय है। एक समय आयेगा जब कि इतिहास का राष्ट्रीय स्कूल की स्थापना होगी, और यह स्कूल अपने अमूल्य परिश्रम की खोज द्वारा संपूर्ण गाथाओं को ही पूर्ण इतिहास में परिवर्तित कर सकेगा।

महावंश एवं दीपवंश की सत्यशीलता, चीनी तथा तिब्बती बौद्ध-ग्रन्थों से भी प्रमाणित होती है। तिब्बती तथा चीनी ग्रन्थ भी इस बात को अंगीकृत करते हैं कि मझन्तिक ने काश्मीर में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। महावंश के अनुरूप ही मझन्तिक के काश्मीर में धर्म-प्रचार का तिब्बती ग्रन्थों में उल्लेख विद्यमान है। ह्वेनसांग ने भी काश्मीर के प्रति बौद्ध-धर्मप्रचार का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार लिखता है—"प्राचीन काल में, भगवान् बुद्ध जब एक राक्षस को पराजित कर परावृत्त हो रहे थे, तो वायुमार्ग से होते हुए वे काश्मीर के ऊपर पहुँचे। वहाँ पर भगवान् आनन्द को संबोधित

कर बोले—'यहाँ पर मेरे निर्वाण के बाद, मज्जहन्तिक बौद्ध-धर्म का प्रचार करेगा।' "

इसी भाँति लंका, चीन और तिब्बती ग्रन्थों में धर्म-प्रचार का वर्णन मिलता है। इन विभिन्न बौद्ध-गाथाओं की अनुरूपता इन आख्यानों की सत्यता का प्रमाण है। अतः संभव हो सकता है कि अवश्य इन धर्म-प्रचारकों ने विदेशों में बौद्ध-धर्म की विजय-पताका फहराई होगी। इनकी सत्यता को प्रमाणित करने में शिलालेख भी यथेष्ट योग देते हैं। (शिलालेख पाँच, तेरह)।

महावंश के अतिरिक्त "समन्तपसादिका" भी कुछ भिन्नता के साथ इन धर्मप्रचारकों का उल्लेख देता है। इसके अनुसार मज्जहिमा कास्सपगोत्त, अलकदेव, दुन्धुभिस्सार, और महादेव समेत हिमवन्त प्रदेश को गाया। और ये पाँचों वहाँ पाँच राष्ट्रों अथवा मण्डलों में विभिक्त हो गये। किन्तु दीपवंश कास्सपगोत्त कोतिपुत्त को प्रमुख आचार्य कहता है और मज्जहिमा, दुन्धुभिस्सार, सहदेव और मूलकदेव को उसके सङ्गी बतलाता है। इन थीरों ने ८०,०००००, (अस्सी लाख) मनुष्यों को बौद्ध बनाया। इसी प्रकार यवन धर्मरक्षित ने अग्गिखन्धोपम् सुत्त का प्रचार किया और अपरन्ता के ३७,००० (सैंतीस हजार) मनुष्यों का धर्म-परिवर्तन किया। मज्जहन्तिक ने काश्मीर और गान्धार में, "आसीविसूपमासुत्त"[1] का प्रचार कर, ८०,००० (अस्सी हजार) बौद्ध बनाये। महादेव ने महिसामण्डल में "देवदूतसुत्तन्त"[2] का प्रचार कर ४०,००० (चालीस हजार) बौद्ध बनाये। रक्षित ने वानवासी में "महानारद कस्सप जातक" का प्रचार कर ८४,०००(चौरासी हजार) बौद्ध बनाये।

---

[1] "सर्प का निदर्शन्" (अंगुत्तरा, पृष्ठ ११०—१११)।

[2] "देवताओं के दूतों का संलाप" इस सुत्त में वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु का यम के दूतों के रूप में वर्णन दिया गया है। यम यह मृत्यु का राजा (मज्जहिमा, III पृष्ठ १७८, १८७ और अगुत्तरा, I पृष्ठ १३८-१४२ ।)

महारक्षित ने योनरथ्थाम् में "कालकारामसुत्त"[१] का प्रचार किया। और सोन और उत्तरा ने सुवर्णभूमि में जा कर "ब्रह्मजाल-सुत्त"[२] का प्रचार कर, ६०,००० (साठ हजार) लोगों मनुष्यों को बौद्ध-धर्म में परिवर्तित किया।

इस अनुक्रमणिका अथवा नामावली से गाथाओं और शिलालेखों की अनुरूपता अर्थात् गाथाओं और लेखों के प्रदेश की साम्यता को व्यक्त करने के अतिरिक्त यह भी सुप्रकाशित होता है कि तृतीय महासभा की समाप्ति होते ही धर्म-पराक्रम और धर्म-उत्साह ने प्रबल रूप धारण किया। १३वें शिलालेख के धर्म-दूतों का कार्य तथा द्वितीय शिलालेख में वर्णित सर्वकल्याण के कार्य और महावंश में वर्णित थीरों अथवा धर्म के आचार्यों के कार्य में तुल्यता स्पष्ट प्रकाशित होती है। अतः इन धर्म-प्रचारकों की तथा सम्राट् की विदेशों में विजय प्राप्त करने की सत्यता स्पष्टतः प्रमाणित होती है।

व्यक्तिगत धर्म-प्रचारक आचार्यों अथवा थीरों के नाम के प्रति गाथाओं की सत्यशीलता, पहली और दूसरी ई० पू० के साँची-स्तूपों में पाये गये लेखों से दृढ़ीकृत होती है।

साँची के नम्बर दो स्तूप में एक शव-सम्पुट पाया गया है। इस सम्पुट के एक ओर ब्राह्मी लिपि में निम्न लेख लिखा था—"अरहत कासपगोत्त, अरहत वाच्छि सुविजयत्त से प्रारम्भिक सब आचार्यों (अरहतों) के अवशेष (मृतक शरीर)।" इसके अतिरिक्त सम्पुट के भीतर चार अन्य मंजूषा पाई गई, जिनके अन्तर में मनुष्य की हड्डियों के अवशेष पाये गये। मंजूषा के पटल पर लिखित लेखानुसार ये अवशेष निम्न आचार्यों के दिये गये हैं—

१कहा जाता है कि बुद्ध भगवान् "कालकाराम" जगह पर इस सुत्त का उपदेश दिया था।

२"धर्म्म का जाल", देखिए—दिग्गनिकाया, पृष्ठ १. ii।

१—कास्सगोत्त, हिमवन्त (बर्फीले, हिमालय) प्रदेश का आचार्य थीरो।

२—मज्झहिमा

३—हरितपुत्र

४—वाच्छि सुविजयत्त (वातसी सुविजयत)

५—महावान्य

६—आपगीव

७—कोंदिनीपुत्त (कुन्दिनीपुत्र)

८—कोसिकपुत्त

९—गोतिपुत्त

१०—मोगलिपुत्त (मोगालिपुत्र)।

इन उपरोक्त आचार्यों में से कास्सपगोत्त और मज्झहिमा हिमालय प्रदेश में प्रचार हेतु गये थे। इनके अतिरिक्त अन्य थीरों ने बौद्ध-धर्म की तृतीय महासभा में भाग लिया था। यह महासभा नं० १० मोगलि-पुत्त अथवा मोगालीपुत्र तिस्स की अध्यक्षता में हुई थी। नं० २ मज्झहिमा का उल्लेख सोनारी के नम्बर दो स्तूप में पाये गये शव-सम्पुट लेख में भी किया गया है। तथा इसी स्तूप में कास्सपगोत्त का "कोसिमपुत्त" नाम से उल्लेख किया गया है। एक तृतीय कलश या कुम्भ-लेख (urn-Inscription) में नं० ९ गोतिपुत्त का दुन्धुभिस्सार समेत उल्लेख दिया गया है।

इस प्रकार महावंश, दीपवंश, समन्तपसादिका[१] आदि गाथाओं में आये हुए निम्न तीन—मज्झहिमा, कास्सपगोत्त और दुन्धुभिस्सार के नाम साँची-स्तूप के लेखों से भी प्रमाणीकृत हो जाते हैं। (देखिए, Sir John Marshall's guid to Sanchi, Ch. X) अतः हम यथेष्टतया गाथाओं के धर्म-प्रचार पर तथा १३वें शिला-

[१]श्री राधाकुमुद मुकर्जी से यह समन्तपसादिका का सन्दर्भ लिया गया है।

लेख की विदेशों में बारंबार धर्म-विजय की सत्यशीलता पर यथेष्टतया श्री रीज डेविड्स के सदृश आक्षेप नहीं लगा सकते।

लंका में धर्म का प्रचार—शिलालेख महेन्द्र के लंका में बौद्ध-धर्म-प्रचार के प्रति अनुत्तर हैं। किन्तु गाथायें इसके वर्णन से परिपूर्ण हैं। लंका और अशोक के मध्य समागम का प्रथमतः उपक्रम देवानांपिय तिस्स (लंकाधीप) ने किया था और तत्पश्चात् महेन्द्र लंका में धर्म-प्रचार हेतु गया। लंका और साम्राज्य के मध्य प्रथम संगम का महावंश निम्न उल्लेख देता है—"आठ प्रकार की मुक्तायें, हय (अश्व), गज, रथ, मालक, वलय (करभूषण–वलयं), अंगुलीवेलका (अंगुलीयकं, वलयं अथवा अंगुलीमुद्रा), ककुद्फल, पकातिका (प्रायिकी साधारण), समुद्र से निकलीं और किनारे पर खड़ी हो गईं।

"………इन अलौकिक उपहारों को देख कर, पुण्यात्मा राजा ने विचारा, "मेरे मित्र धम्माशोक के अतिरिक्त अन्य कोई इन रत्नों का अधिकारी नहीं है, मैं इस उपहार को उन्हें दूँगा।"

"यद्यपि ये दो राजा देवानांपिय तिस्स और धम्माशोक आपस में परिचित न थे, किन्तु बहुत काल से मित्रता के सूत्र में ग्रन्थित हो चुके थे।

"लंका के अधिपति ने चार दूतों को इस कार्य के लिये भेजा। इन चार में से प्रथम राजा का भानजा महाअरिथो (भागिनेयं, भागिनियं) था, तथा ब्राह्मण (हालो पर्वत-निवासी), मल्ला (राज-मन्त्री), और तीस्सो ये तीन भी साथ थे। इन चारों के साथ एक शक्तिशाली सैन्य भी थो, जिनके पास रत्न सौंपे गये थे। ये लोग जम्मूकीलो से जहाज में बैठ कर एक सप्ताह में ताम्रलिप्ति पहुँचे, और वहाँ से और सात दिन यात्रा करके पाटलिपुत्र पहुँचे। यहाँ पहुँच कर इन लोगों ने धम्माशोक को (लंकाधीप की) भेंट रत्न आदि दिये।"

इसके अनन्तर महावंश लिखता है कि सम्राट् अशोक ने भी प्रतिकार में अनेकानेक बहुमूल्य वस्तुएँ लंकाधीप को भेजीं, तथा लंकाधीप

के भेजे हुए दूतों को राजकीय पदों से सम्मानित किया। अरिथो को सम्राट् ने सेनापति बनाया, ब्राह्मण को राजपुरोहित, मंत्री को दंडनायक तथा तिस्सो को "सेठित्तो" का पद दिया। अशोक ने जितने अमूल्य उपहार भेजे उनमें से दो—गंगाजल, (अभिषेक के लिये यह काम में लाया जाता था) और सुन्दरी राजकुमारी थी।

महावंश पुनः लिखता है, "देवानांपिय तिस्सो के दूत पाँच महीने तक वहाँ ठहरे। वैशाख के प्रथम उज्ज्वल दिवस को वे पाटलिपुत्र से विदा हुए। ये लोग ताम्रलिप्ति से जहाज पर बैठे, और जम्बूकीलो पर जा के उतरे। तदनंतर वे लंका के राजा के पास पहुँचे।" अतः इस भाँति लंका और अशोक के साम्राज्य के मध्य प्रथम संगम हुआ। इस के अनंतर महेन्द्र लंका में धर्म-प्रचार के लिये गया था। यहाँ पर हम संक्षेप में महावंश के इस वर्णन को उद्धृत करते हैं—"अपने अपुण्य चरित्र के कारण वह प्रथम अशोक चण्डाशोक कहलाया, किन्तु पीछे पुण्यात्मा होने पर उसका नाम धर्माशोक पड़ा। अलौकिक शक्ति द्वारा उसने रत्नाकर-वेष्टित जम्बूद्वीप के चारों ओर 'विहारों' को स्थापित हुए देखा। इन विहारों को देख कर वह अत्यन्त हर्षित हुआ। तदनंतर उसने आचार्यों से प्रश्न किया, "भदन्त, भगवान् के काल से कौन अब तक सर्वमहान् दानी हुआ?" इस पर मोगालिपुत्त ने उत्तर दिया, कल्याणमय भगवान् के समय में भी आप के सदृश्य कोई दानी न था।" यह सुन कर अशोक अत्यंत हर्षित हुआ, और उसने पुनः पूछा, "क्या मैं बुद्ध के शासन योग्य हो सकता हूँ?" थीरो ने महेन्द्र तथा संघमित्रा (अशोक के पुत्र और पुत्री) में धर्म की पूर्णता निरख कर, तथा यह सोच कर कि ये दोनों धर्म-प्रचार में यथेष्ट सहायक होंगे, राजा से इस प्रकार कहा, "राजन्! तुम्हारे सदृश्य धर्म का उपकार करने वाला तुम्हीं कहला सकते हो, किन्तु जो व्यक्ति निज (अपने) पुत्र और पुत्री को

प्रव्रज्या ग्रहण करा सके, वह दायक ही नहीं, अपितु वह धर्मशासन के योग्य हो सकता है।" (महावंश, प्रकारण ५वाँ)।

अतः यह सुन कर सम्राट् ने जो महेन्द्र को उपशासक बनाने वाले थे धर्म के हेतु संघमित्रा समेत भिक्षु बनवा डाला। इस समय महावंश के अनुसार महेन्द्र की आयु बीस वर्ष की और संघमित्रा की अठारह वर्ष की थी। मोगाल[1] कुमार का आचार्य हुआ। थीरो महादेव ने उसे प्रथम भिक्षु पद दिया। थीरो मज्जहन्तिक ने "कम्मवचन" किया और तदनंतर महावन्श लिखता है कि महेन्द्र अरहत हो गया। इसी महावन्श के अनुसार संघमित्रा की आचार्य भिक्षुणी धम्ममती थी, तथा आयुपाली राजकुमारी की उपदेशिका बनी। कुछ समय पश्चात् महावन्श लिखता है, वह (राजकुमारी) भी अरहत पद को प्राप्त हो गई। ये दोनों (संघमित्रा और महेन्द्र अशोक के पुत्र पुत्री) धम्माशोक के अभिषेक के ६वें वर्ष संघ में प्रविष्ट हुए थे। इन दोनों ने भगवान् के धर्म का उज्ज्वल प्रकाश चारों ओर विकीर्ण किया। (महावन्श, प्रकरण ५वाँ)। इसके पश्चात् महावन्श १३वाँ प्रकरण लिखता है कि अपने आचार्य मोगाली के पुत्र तथा अन्य भिक्षुगणों के साथ लंका में धर्म-प्रचार के लिये जाते हुए महेन्द्र ने अपने पिता से आज्ञा ली और चार थीरों तथा समनरो सुमनो (संघमित्रा का पुत्र) को साथ ले दक्षिणगिरी को चला गया। यहाँ से वह चैत्यगिरी में पहुँचा। यहाँ पर उसकी माता रहती थी। यहाँ रहने के कुछ दिन पश्चात् वह ज्येष्ठ के महीने लंका जाने का विचार करने लगा। उसने यह भी सोचा कि मेरे पिता द्वारा भेजे हुए बौद्ध-धर्म के तीन सिद्धान्तों[2] को लंका का राजा अब अच्छी तरह

---

[1]मोगलिपुत्त = पुत्र, आचार्य उपगुप्त।

[2]सम्राट् अशोक ने लंकापति देवानांप्रिय को यह लिख भेजा था—"बुद्धं च धर्म्मं च सङ्घं च" अर्थात् मैं बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में चला गया हूँ, मैंने शाक्य-मुनि का धर्म अपनाया है, तुम भी इसे अपना कर बोध प्राप्त करो।

समझ गया होगा, अत: अब धर्म-प्रचार में कठिनाई न होगी।

इसी मध्य महिन्दो (शको = इन्द्र, देवताओं का राजा) महेन्द्र के पास आया और उससे बोला, "लंका में धर्म-प्रचार के लिये जाओ। भगवान् बुद्ध की बोधि-वृक्ष के नीचे की गई भविष्यवाणी को पूर्ण करने का समय आ पहुँचा है। हम भी वहाँ पर तुम्हें सहायता पहुँचायेंगे।"

इसी समय महारानी देवी (महेन्द्र की माता) की छोटी बहिन का लड़का बन्धु भी बौद्ध हुआ। यह बन्धु महेन्द्र का शिष्य हुआ। इस प्रकार महेन्द्र, सुमन और बन्धु तथा चार अन्य थीरो, सब अकाश-मार्ग द्वारा लंका में मिस्सा पर्वत की अम्बाथलो चोटी पर जा उतरे।

इस समय लका का राजा देवानांप्रिय तिस्सो "सलिना" त्योहार मना कर नगरवासियों का मनोरंजन करता था। इसी समय वह त्योहार से परावृत हो कर चालीस हजार परिचारकों को साथ ले कर मृग के शिकार के लिये निकला और आखेट खेलते-खेलते वह मिस्सा पर्वत के नीचे पहुँचा। इस पर्वत के एक देव को इच्छा हुई कि इन धर्म-प्रचारकों को लंकाधीप से मिला दूँ। अतः वह मृग बन कर चरने लगा। राजा उसके पीछे हो लिया। जब राजा थीरो के पास पीछा करता हुआ आ पहुँचा तो देव अंतर्हित हो गया। तत्पश्चात् महावंश लिखता है कि थोरो महेन्द्र अन्य भिक्षुओं को पीछे छोड़ कर अकेले मिलने आया। राजा उसे देख कर चकित हो उठा। थीरो ने उससे कहा, "तिस्सो, यहाँ आओ।" उसे केवल तिस्सो पुकारता हुआ सुन कर राजा ने उसे यक्ष समझा। तदनंतर महेन्द्र ने उसे जतलाया कि वे जम्बूद्वीप से धर्म-प्रचार के लिये आये हैं। जब राजा को यह विदित हो गया कि वे धम्माशोक, उसी के मित्र के आदमी हैं, तो वह निश्चिन्त हुआ। भयरहित हो उसने धनुष-वाण को अलग फेंक दिया और थीरो के पास जा कर बैठ गया। महावंश कहता है कि जब राजा ने थीरो के असंख्य प्रचारक-मंडल को देखा तो राजा चकित हो पूछने

लगा, "क्या जम्बूद्वीप में ऐसे अन्य और भिक्षुगण हैं ?" इस पर थीरो ने उत्तर दिया कि जम्बूद्वीप पीत वस्त्रों से प्रकाशमान है। तत्पश्चात् राजा के प्रश्नों का उत्तर दे चुकने पर थीरो ने राजा से कई प्रश्न किये।

"राजा इस पेड़ का क्या नाम है ?"

"यह अम्बो पेड़ कहलाता है।"

"क्या इसके अतिरिक्त भी कोई अम्बो का वृक्ष है ?"

"बहुत से अन्य अम्बो के पेड़ हैं।"

"इस अम्बो तथा अन्य अम्बो के अतिरिक्त क्या और भी कोई पेड़ पृथ्वी पर है ?"

"भद्र अम्बो के अतिरिक्त अन्य कई पेड़ हैं।"

"क्या अम्बो तथा और अम्बो के अतिरिक्त तथा अन्य वृक्षों के सिवाय भी कोई पेड़ पृथ्वी पर है ?"

"भदन्त, यह अम्बो वृक्ष।"

"नरपति, तुम ज्ञानी हो।"

"राजा, क्या तुम्हारे संबंधी हैं ?"

"भद्र, कई हैं।"

"क्या तुम्हारे संबंधियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी हैं ?"

"बहुत से मेरे संबन्धी नहीं हैं।"

"तुम्हारे संबंधियों को छोड़कर तथा जो तुम्हारे संबंधी नहीं हैं उन्हें छोड़कर, क्या और भी कोई प्राणी हैं ?"

"भद्र ! मैं स्वयं हूँ !"

"नरपति, साधु, तुम ज्ञानी हो !"

इस प्रकार बुद्ध के धर्म को समझा कर महेन्द्र ने राजा और उसके चालीस हज़ार साथियों को बौद्ध-धर्म में परिवर्तित किया। इसके पश्चात् महावंश कहता है कि लंका के राजा ने बन्धु को अलग से बुला कर उससे यह मालूम कर लिया कि महेन्द्र उसके मित्र धम्माशोक का

लड़का है। इसके अनंतर राजा चला गया। राजा के जाने के बाद बंधु भी प्रव्रज्या ग्रहण कर अरहत हुआ। इसके अनंतर थीरो ने समनरो सुमनो (सुमन) को पूजा का निर्देश करने की आज्ञा दी। उसने अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा घोष को पूर्ण ताम्रपर्णी अथवा लका में प्रतिध्वनित किया। इस घोष को सुन कर ऊपर (स्वर्गलोक) से भी देवता घोष करने लगे और ये दोनों घोष मिल कर ब्रह्मलोक को पहुँची। इस प्रकार महावंश लिखता है सब देवता भगवान् बुद्ध की उपासना के लिये एकत्रित हो आये। प्रातः राजा ने इन्हें बुलाने के लिये रथ भेजा, पर ये लोग न आये। इसके अनंतर थीरो ने अपने निवास पर एक चैत्य (डगोबा) का निर्माण किया। तत्पश्चात् महावंश कहता है कि राजा उन्हें आदरपूर्वक महल में ले गया। वहां सम्मानपूर्वक थीरों को जिमाया गया। इसके अनन्तर राजा ने उप-शासक महानूगो (राजा का छोटा भाई अथवा अनुज) की स्त्री अनुला को कहला भेजा। अनुला पाँच सौ स्त्रियों सहित वहाँ आई और आदरपूर्वक पास ही बैठ गई। थीरो ने इन्हें बुद्ध का धर्म बतलाया। अतः वे सब भी बौद्ध हो चलीं। जब नगरवासियों ने थीरो के प्रति यह बात सुनी तो वे महल अथवा प्रासाद के द्वार पर आ कर चिल्लाने लगे। राजा ने इसका कारण जान कर उनसे कहा, "प्रासाद में बहुत कम जगह है, शाही गजशाला को ठीक करो, वहाँ ही नगर के लोग थीरो से भेंट कर सकते हैं। इसके अनन्तर गजशाला में जा कर थीरो ने "देवदूत-सुत्त" को नगरवासियों को समझाया। बुद्ध का यह संवाद सुन कर लोग अत्यंत हर्षित हुए। उनमें से एक हज़ार (१,०००) ने धर्म ग्रहण किया। महावंश अंत में लिखता है, "इस प्रकार वह (महेन्द्र) लङ्का का दीपक बना जिसने इस भूमि पर धर्म का प्रकाश विकीर्ण किया।"[१]

---

[१] महावंश, प्रकरण १४वाँ।

इसके अनन्तर महावंश, प्रकरण १५, लिखता है कि लोगों ने राजकीय उद्यान में थीरो के लिये बैठने को वेदी बनाई । इस नन्दनवन में थीरो (महेन्द्र) ने "बालापण्डित्य-सुत्त" का प्रचार किया, इस समय १,००० (एक हजार) स्त्रियों ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया। तत्पश्चात् राजकुमारी अनुला पाँच सौ स्त्रियों सहित थीरो के पास आई। यह राजकुमारी दीक्षा ले कर संघ में प्रविष्ट करना चाहती थीं, किंतु थीरो ने अपनी असमर्थता प्रकट की, परन्तु उसने सलाह दी कि पाटलिपुत्र में मेरी छोटी बहिन संघमित्रा है। वह भिक्षुणी है, अतः "हमारे पिता को ऐ राजा, एक पत्र भेजो, और प्रार्थना करो कि संघमित्रा को बोधिवृक्ष की दाईं शाखा समेत यहाँ भेजिये। जब वह थेरी आयेगी, तभी ये स्त्रियाँ दीक्षा पा सकती हैं।"

तदनंतर लङ्का के राजा ने एक प्रतिनिधि-मण्डल "महाअरिह" की अध्यक्षता में पुनः अशोक के पास संघमित्रा और बोधिवृक्ष की शाखा को लेने भेजा। जब यह समाचार अशोक ने सुना तो उसने संघमित्रा से इस प्रकार कहा, "अम्मा (माता) ! पुत्रो, पौत्रों और तुमसे भी जुदा हो कर मैं कैसे अपने दुःख को शांत कर सकूँगा ?"

संघमित्रा भिक्षुणी ने उत्तर दिया, "भाई के वचन गुरु हैं, और प्रव्रज्या लेनेवाले भी असंख्य हैं, अतः मेरा वहाँ जाना आवश्यक है।" इसके अनंतर बड़े यत्न के साथ बोधिवृक्ष की शाखा काट कर निकाली गई। इसके अनंतर संघमित्रा बोधिवृक्ष की शाखा तथा अन्य लोगों सहित लङ्का को चल दी। (महावंश, प्रकरण १६वाँ) इस प्रकार दूसरा धर्म-प्रचारक मण्डल लङ्का को गया। गाथाओं के अनुसार यह मण्डल अशोक के अभिषेक के १८वें वर्ष लङ्का गया था। (महावंश, प्रकरण २०वाँ)।

एक तीसरा मिशन सुमन (अशोक का नाती) के नेतृत्व में लङ्का से पाटलिपुत्र आया था। इस मिशन का तात्पर्य भगवान् के

अवशेषों को यहाँ से लङ्का ले जाना था । महावंश इस मिशन का निम्न उल्लेख देता है—राजा ने महेन्द्र को अवशेषों के लाने के प्रति पूछा । महेन्द्र ने कहा, सुमन से सलाह लो । इसके अनंतर राजा ने सुमन से इस प्रकार कहा, "भद्र सुमन, पाटलिपुत्र जा कर, धम्माशोक को मेरा यह सन्देश कहना—महाराज, तुम्हारा मित्र देवानांपिय तिस्स एक डगोबा—स्तूप—बनाना चाहता है। तुम्हारे पास (शाक्य) मुनि के कई अवशेष हैं, उनमें से कुछ अवशेष तथा भगवान् के खाने का पात्र मुझे देने की कृपा करो !"

इसके अनंतर सुमन (अशोक का नाती) पाटलिपुत्र धम्माशोक के पास आया और यहाँ से कुछ अवशेष लङ्का को ले गया।[1]

इन गाथाओं की सत्यता पौराणिक चित्र में सुरक्षित है। अजन्ता गुफा की दीवार का एक मण्डोदकचित्र (Fresco) इन गाथाओं में उल्लेखित घटनाओं का चित्रण करता हुआ कहा जाता है। शिला-लेखों से भी लङ्का में धर्म-प्रचार का उल्लेख प्राप्त होता है। शिलालेख द्वितीय तथा त्रयोदस शिलालेख में ताम्रपर्णी का उल्लेख किया गया है, जहाँ सम्राट् अशोक ने अपने दूतों को धर्म-प्रचार के लिये भेजा था। इसी ताम्रपर्णी (तांम्बपनी) को गाथाओं में लंका द्वीप कहा गया है (१४वाँ प्रकरण–महावंश)। इस ताम्रपर्णी को स्वयं अशोक ने उन देशों की नामावली में दिया है, जहाँ सम्राट् को धर्म-विजय उपलब्ध हुई थी। इसके अतिरिक्त द्वितीय शिलालेख से यह भी सुप्रकाशित है कि सम्राट् ने ताम्रपर्णी में सर्वकल्याण का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने यहाँ पर मनुष्य और पशु दोनों के हितार्थ चिकित्सालय स्थापित करा दिये थे। तथा यहाँ की सड़कों पर पेड़, कुएँ आदि की (मनुष्य और पशु दोनों के कल्याणार्थ) व्यवस्था करा दी थी। इस

[1]महावंश, प्रकरण १७वाँ

प्रकार २५८-२५७ ई० पू० से ही लंका में सम्राट् का कार्यक्रम चल रहा था। किन्तु महेन्द्र का उल्लेख शिलालेख में नहीं आया है। इसका कारण यही संभव है कि महेन्द्र के प्रचार का समय शिलालेख के बाद अर्थात् २५२ ई० पू० के पड़ता है। किन्तु हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि सम्राट् के इस पूर्व परिचय के कारण महेन्द्र को लंका में धर्म-प्रचार के लिये यथेष्ट सहयोग प्राप्त हुआ था। इसका निर्देश स्वयं महावंश करता है—"देवानांपिय तिस्सो और धम्माशोक ये दो राजा, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से आपस में अपरिचित न थे, किन्तु इस समय के पूर्व ही वे मित्रता के सूत्र में बँध चुके थे।" (महावंश, प्रकरण ११वाँ)।

पुनः देखिए, जब महेन्द्र अपनी माँ के पास चैत्यगिरी में रह रहा था तो उसने एक दिन इस प्रकार सोचा—"पिता के दिये हुए मिशन को पूर्ण करने का समय आ पहुँचा है। देवानांपिय तिस्सो (लंकाधीप) का अभिषेक पूर्ण समारोह के साथ हो चुका है। अब वह प्रसन्नता से राज्य करता होगा। अब उसको मेरे पिता के दूत द्वारा भेजे हुए बौद्ध-धर्म के तीन रत्नों अथवा नियोगों (बुद्ध, धर्म और संघ) का ज्ञान हो गया होगा। तथा अब वह उन सिद्धान्तों को भली प्रकार समझ गया होगा।" महावंश प्रकरण १३वां। अतः इन दो विवरणों से हमें दो बातें उपलब्ध होती हैं। प्रथम हमें यह ज्ञात होता है कि लंका और मौर्य्य साम्राज्य के मध्य, महेन्द्र के ताम्रपर्णी (लंकाद्वीप) की यात्रा करने से पहले ही साहचर्य स्थापित हो चुका था, तथा लंका में महेन्द्र के धर्म-प्रचार करने से प्रथम अशोक के दूत वहाँ जा चुके थे, और बुद्ध, धर्म तथा संघ का प्रचार कर गये थे।

अतः कह सकते हैं कि महेन्द्र के धर्म-प्रचार का समय २५२ ई० के पड़ता है; (जैसा की गाथाओं से विदित है) जब कि शिलालेख के प्रकाशन का समय २५८ या २५७ ई० पू० में है, इसलिये समय की

विभिन्नता के कारण महेन्द्र का शिलालेख में उल्लेख नहीं आ सका। अर्थात् जब कि शिलालेख प्रकाशित हुआ, उस समय केवल लंका से मित्रता तथा सार्वजनिक हितकार्यों एवं बुद्ध, धर्म और संघ के प्रचारक दूतों द्वारा ही सम्बंध हुआ था, और शिलालेख के प्रकाशन से ४-५ साल के अनन्तर महेन्द्र लंका में बौद्ध-धर्म प्रचार के लिये गया, अतः इसी ४-५ साल के अन्तर के कारण शिलालेख में महेन्द्र का उल्लेख न आ सका।

धर्म--प्रचार एवं प्रसार के प्रति अशोक की संदेह-निवृत्ति—सम्राट् को अपने धर्म-प्रचार के प्रति परितोष था, यह हम उनके शिलालेखों की तृप्ति से मालूम कर सकते हैं। गौण शिलालेख प्रथम ब्रह्मगिरी कहता है, सङ्घ की यात्रा करने के एक वर्ष से अधिक मैंने अत्यन्त पराक्रम किया। अतः इस समय के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से सम्बन्धित न थे, वे देवताओं से सम्बन्धित हुए। पराक्रम का ही यह फल है।” यहाँ पर सुव्यक्त है कि सम्राट् को अपने पराक्रम से अवश्य सन्तोष हो रहा था। इसी प्रकार अपने धर्म-प्रसार के प्रति संदेह-निवृत्ति करते हुए सम्राट् चतुर्थ शिलालेख में कहते हैं, “जैसा सैकड़ों वर्ष पहले न हुआ था, वैसा देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन द्वारा आज जीवों की अहिंसा, पशुओं का मारा न जाना, सम्बन्धियों से उचित व्यवहार, और वृद्ध-जनों की सेवा बढ़ रही है। यह तथा धर्म के अन्य आचरण बढ़ गये हैं। तथा देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को और उन्नत करेगा।” इस वृत्त से सर्वथा व्यक्त होता है कि सम्राट् को अपने धर्म की अभिवृद्धि देख कर तृप्ति हो रही थी, किन्तु सम्राट् की आकांक्षा उन्हें और आगे खींचे ले जा रही थी। उनकी इस आकांक्षा की तृप्ति हम महेन्द्र, सङ्घमित्रा, सुमन आदि थीरों अथवा आचार्यों के धर्म-प्रचार में पाते हैं। इसी प्रकार उनके धर्म-प्रचार, के प्रति परितोष का उल्लेख, प्रथम स्तम्भ-लेख, सातवाँ स्तम्भ-लेख और १३वें शिलालेख

में पाते हैं। प्रथम स्तम्भ-लेख कहता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, अभिषिक्त होने के २२०वें वर्ष मैंने यह धर्म-लिपि लिखवाई। बिना धर्म-कामना, परीक्षा, अनुज्ञा और बिना उत्साह के इहलोक और स्वर्गलोक (परलोक) को पाना कठिन है। किन्तु निःसंदेह मेरे धर्मानुशासन के कारण, धर्माचरण तथा धर्मानुष्ठि में दिन-दिन बढ़ती हुई है और होगी!"

इसी तरह सातवाँ स्तंम्भ-लेख लिखता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि जो कुछ पुण्य कार्य अथवा धर्म का पालन मैंने किया है, उसका लोगों (प्रजा) ने भी अनुसरण किया है। तथा लोग मेरे धर्म-नियमों पर चलते हुए उन्नति करने लगे हैं, और माता, पिता, गुरु की सेवा तथा वृद्धों, ब्राह्मणों, श्रमणों, गरीबों, असहायों, दास एवं नौकरों के प्रति उचित व्यवहार करते हुए धर्म में बढ़ेंगे।"

अतः इन दो विवरणों में धर्मप्रसा-र के प्रति सम्राट् का परितोष पूर्णतया झलकता है। पुनः १३वाँ शिलालेख कहता है, "धर्म-विजय को ही देवताओं का प्रिय प्रमुख विजय मानता है। यह धर्मविजय, अपने विजित राज्य में तथा सभी सीमान्त प्रदेशों में छः सौ योजन तक जहाँ यवन राजा अन्टियोकस तथा उससे भी दूर जो अन्य चार राजा तुरमय, अंटिगोनस, मग (मक) और अलीकसुन्दर हैं, तथा नीचे दक्षिण में चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी तक के राज्यों में प्राप्त हुई है। इसी प्रकार सम्राट् के विजित-राज्य में यवनों, कम्बोजों, नाभाक और नाभपंतियों, पैठानिकों, आन्ध्रों, पुलिन्दों के राज्य में सर्वत्र लोग देवताओं के प्रिय के धर्माचरण का, अथवा धर्मानुशासन का अनुसरण कर रहे हैं। वहाँ के लोग भी जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मानुशासन, धर्म-प्राप्ति (धर्म-विधान) को सुन कर उस पर आचरण करते हैं और

आचरण करते रहेंगे।" इस संदर्भ से सर्वथा सुप्रकाशित है कि सम्राट् को अपने धर्म-प्रचार एवं प्रसार से भली भाँति परितुष्टि थी।

संक्षेप में भारतीय दूत और धर्म के आचार्यगण, शान्ति और सर्व-कल्याण के आर्य संदेश को ले कर साम्राज्य और वैदेशिक राज्यों में धर्म की मङ्गलदायिनी स्थापना करने में सफलीकृत हुए।

सम्राट् अशोक की इस धर्म-सैन्य ने, धर्म के कल्याणकारी मृदुल अहिंसा और स्नेह के शस्त्र द्वारा सम्पूर्ण भारत और पश्चिमी देशों के कई प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर विश्व को भीषण रक्तपात और अमानवी क्रूरताओं के प्रति सेवा और प्रेम से विजय प्राप्त करने का सिद्धान्त प्रदान किया। इसी विजय को सम्राट् ने धर्म-विजय कहा है, जिसे सम्राट् इहलोक और परलोक दोनों में सुख देनेवाली कहते हैं। क्यों? इसी कारण कि सम्राट् की यह विजय-धर्म से की गई थी, उसमें स्वार्थ, दम्भ, पाखंड, और क्रूर अमानुषिक अत्याचारों का लेशमात्र भी सहयोग न था। इसीलिए महाभारत में भी कहा है कि राजा को विजय अवश्य करनी चाहिये किन्तु दम्भ और पाखंड से नहीं। देखिये—महाभारत शान्तिपर्व, राजधर्म-अध्याय ९६, २४—सर्वविद्यातिरेकेण जयमिच्छेन्महीपतिः न मायया न दम्भेन यः इच्छेद्भूतिमात्मनः॥ सम्राट् की प्रशंसा उनके महान् कार्यों में साक्षात है। वे एक विशाल सर्वोच्च धर्म-प्रचारक, धर्म रक्षक और मांगलिक धर्म के पूर्ण अवतार थे।

सातवाँ प्रकरण

सम्राट् अशोक-कालीन भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति

अशोक-कालीन भारत की अवस्था का पूर्ण रूप से पता लगाना कठिन कार्य है। इसके लिये हमारे पास बहुत थोड़ी-सी सामग्री सम्राट् के निज शिलालेखों से ही उपलब्ध होती है। यद्यपि ये धर्मलिपियाँ केवल धर्म-प्रचार के लिये ही लिखवाई और प्रेषित की गई थीं; फिर भी अकस्मात् उन लेखों में कुछ ऐसे उल्लेख हो आये हैं, जिनसे उस समय के भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर कुछ धीमा प्रकाश पड़ता है। इतिहास के धुँधले उजियाले में अशोक-कालीन भारत के मार्ग का अभिज्ञान करते हुए हमें उस समय के भारत की अवस्था का थोड़ा सा ज्ञान हो जाता है। द्वितीय पाली साहित्य की कल्पित गाथायें भी इस अँधियाले में मशाल का काम देती हैं—जिससे हमें उस समय की अवस्था को निरखने में अवश्य कुछ सहायता मिलती है। इस प्रकार हमारे पास अशोक-कालीन भारत की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था को जानने के लिये दो उपकरण हैं—(१) शिलालेख, (२) बौद्ध-गाथायें।

प्रथम हम धार्मिक अवस्था का ही उल्लेख करेंगे। सम्राट् अपने शिलालेखों में बार-बार धर्म की परिभाषा देते हुए कहते हैं—"ब्राह्मण और श्रमणों की सेवा करना उत्तम है।" (तृतीय शिलालेख)। इन ब्राह्मण और श्रमणों को कुछ विद्वानों ने एक ही माना है। रीज़ डेविड्स ब्राह्मण और श्रमणों को इस प्रकार अनुदित करता है—"जीवन की साधुता से हुए ब्राह्मण।" किन्तु पाली-साहित्य में ब्राह्मण

और श्रमण अलग-अलग साथ ही उल्लेखित किये गये हैं तथा दोनों—ब्राह्मण और श्रमण—ही उत्तम आदर के समान अधिकारी बताये गये हैं।[1] इससे मालूम होता है कि ब्राह्मण और श्रमण दो पृथक संप्रदाय थे। श्री भंडारकरजी लिखते हैं, "ये ब्राह्मणगण संन्यासी अथवा परिव्राजक थे, जिनका धर्म वैदिक-धर्म से सम्बन्धित था। किन्तु श्रमणों का धर्म और सिद्धांत ब्राह्मण-धर्म-ग्रन्थों से अलग था। ये दोनों (ब्राह्मण और श्रमण) धर्म विभिन्न होने पर भी, साधुता का जीवन यापन करें तथा अन्य लोगों से सम आदर-सत्कार पावें इसी भावना से प्रेरित हो कर सम्राट् अशोक ने दोनों पक्षों का उचित आदर किया तथा अन्य लोगों को भी इसी प्रकार आचरण करने का आदेश दिया।" पुनः ७वें स्तम्भ-लेख से हमें अन्य तीन सम्प्रदायों के नाम मिलते हैं। इस लेख में सम्राट् कहते हैं, "मेरे धर्ममहामात्र बहुत प्रकार के उपकार के कार्यों में लगे हैं—जो संन्यासी और गृहस्थ दोनों से सम्बन्धित हैं। वे सभी सम्प्रदायों के लिये नियुक्त हैं। मैंने उन्हें संघ के लिये, ब्राह्मणों के लिये, आजीविक संन्यासी के हेतु, और निर्ग्रन्थों तथा अन्य सम्प्रदायों के लिये नियुक्त किये हैं।"

इस प्रकार संघ, ब्राह्मण, आजीविक और निर्ग्रन्थ ये चार सम्प्रदाय थे। इनके अलावा सम्राट् अन्य सम्प्रदायों का भी उल्लेख करते हैं किन्तु सम्राट ने उनके नामों का उल्लेख नहीं किया है, इससे मालूम होता है कि ये अन्य सम्प्रदाय प्रमुख सम्प्रदायों में से न थे। केवल उपरोक्त चार सम्प्रदाय ही उस समय प्रमुख अवस्था में थे। शिलालेख में आये हुए इस 'संघ' से तात्पर्य बौद्ध-संघ से है। अशोक स्वयं बौद्ध थे इसलिये प्रथम संघ का उल्लेख किया जाना ठीक ही है। अशोक के समय ही बौद्ध-धर्म में कई मत-भेद होने प्रारम्भ हो गये थे, जैसा कि हम पिछले प्रकरण में कह आये हैं, इन्हीं मत-भेदों के डर से

---

[1] L. A. 1891, p. 263.

सम्राट् ने कड़े नियमों का निर्माण किया था—"संघ का विच्छेद किसी से भी नहीं किया जा सकता। जो कोई भिक्षु वा भिक्षुणी संघ का भेद करे उसे सफेद वस्त्र पहिना कर विहार से अलग कर दिया जाय[1]।" फलतः सम्राट् अशोक के समय बौद्ध-धर्म में शाखायें फूटने लगी थीं, जिसे रोकने का सम्राट् ने पूर्णतया प्रयत्न किया। निगलिव स्तम्भ-लेख से मालूम होता है कि अशोक के समय प्राग्भूत बुद्ध बोद्धिसत्वों की पूजा भी वर्तमान थी। सम्राट् स्वयं कोनाकामन (बुद्ध) की यात्रा को गये थे, जहाँ जा कर उन्होंने कोनाकामन स्तूप का नवीनकरण किया था। इसका उल्लेख सम्राट् ने स्वयं किया है—"देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के १४वें वर्ष बुद्ध—कोनाकामन के स्तूप को द्विगुणित किया और अभिषिक्त होनेके २०वें वर्ष स्वयं आ कर पूजा की तथा (वहाँ पर) आदरार्थ एक पाषाण स्तम्भ स्थापित किया।" कोनाकामन यह चौबीस बुद्धों में से एक बुद्ध का नाम है जो गौतम बुद्ध से पूर्व तीसरा बुद्ध हुआ है। इससे मालूम पड़ता है कि अशोक के समय सभी प्राग्भूत बुद्ध-धर्मों का अन्तिम प्रमुख गौतम-बुद्ध के धर्म में समावेश हो चला था।

बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण—सभी जानते हैं कि बौद्ध-धर्म अपने असली रूप में मूर्ति-पूजक न था। मूर्ति न पूजने का स्वयं बुद्ध भगवान् ने आदेश किया था, किन्तु आगे चल कर, भगवान् गौतम की मृत्यु के कई वर्षों के उपरान्त तथागत के भक्तों की श्रद्धालुता भगवान् की मूर्तियों के निर्माण करने का कारण बनी और तत्पश्चात् वे सर्वत्र मन्दिरों में पूजी जाने लगीं। अब यहाँ पर हमें केवल यह विचार करना है कि क्या अशोक के समय बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण हो चुका था या नहीं? सम्राट् अशोक के स्मारकों पर जैसे चैत्य, स्तूप, स्तम्भ, शिलालेख, किसी पर भी बुद्ध भगवान् की मूर्ति अंकित नहीं

[1] स्तम्भ-लेख, सारनाथ।

है। कालसी शिला-प्रस्तर के उत्तर ओर हस्ती की रेखाङ्कित प्रतिकृति है, जिसके लिये 'गजोत्तम' उत्तम हस्ती लिखा है। (३वाँ शिलालेख) धौली में भी 'सेतो' सफेद हस्ती लिखा है तथा १३वें गिरनार शिलालेख में निम्न वाक्य खुदे हैं--"सव्र से तो हस्ति सव्रलोक सुख आहरो नाम" "शुभ्र हस्ती विश्व के कल्याण को लाने वाला है।" इससे मालूम होता है कि गिरनार शिला पर भी हाथी का चित्र अंकित रहा होगा।

यह शुभ्र हस्ती निःसन्देह शाक्य मुनि भगवान् बुद्ध का द्योतक है, क्योंकि बौद्ध गाथाओं के अनुरूप बोधिसत्व (आगामी गौतम बुद्ध) ने स्वर्ग को परित्यक्त कर विश्वकल्याण के लिये शुभ्र हस्ती के रूप में अपनी माता माया के गर्भ में प्रवेश किया था। (2 A.V. 257-58) फलतः अशोक के समय यद्यपि बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण न हुआ था, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्राट् के समय शुभ्र हस्ती गौतम बुद्ध की मूर्ति का लाक्षणिक था।

आजीविक सम्प्रदाय—अशोक के समय एक और सम्प्रदाय आजीविक भी विद्यमान था। श्री भंडारकर आजीविक को ब्राह्मण का विशेषण मानते हैं। उनका कहना है कि आजीविक कोई अलग सम्प्रदाय न था। किन्तु जैन इतिहास से मालूम होता है कि आजीविक एक पृथक् सम्प्रदाय था जिसका मुखिया गोसाल था। यह गोसाल पहले स्वयं जैन-धर्म के प्रवर्तक महावीर का शिष्य रह चुका था। ये आजीविक नग्न संन्यासी होते थे। ये लोग इन्द्रिय-निग्रह को धर्म का लक्षण नहीं मानते—यही कारण था कि महावीर ने पार्श्वनाथ के चार जैन-सिद्धान्तों में पवित्रता और ब्रह्मचर्य-संयम, इन दो सिद्धान्तों का भी समावेश किया। गोसाल का सिद्धान्त नियति अथवा दैवपरता था, इसलिये उसका कहना था कि प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना नियति अथवा भवितव्यता के अनुरूप ही होती है। अस्तु, किसी भी प्रकार की घटना के लिये मनुष्य उत्तरदायी नहीं, फलतः नियति के दास मनुष्य हर प्रकार के इंद्रिय-निग्रह या धार्मिक बन्धनों

से मुक्त है।" इन्हीं सिद्धान्तों पर चलनेवाले नग्न साधुओं के जत्थे का नाम ही आजीविक है।[1]

निर्ग्रन्थ--ये लोग महावीर के अनुगामिन थे। निर्ग्रन्थ यह जैनियों का दूसरा नाम है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—जिसकी ग्रन्थियाँ मुक्त हो चुकी हैं अर्थात् जो संसार के बन्धनों से विमुक्त हो चुका है अथवा 'इंद्रियजीत' या 'जिन'। जिन शब्द का अभिप्राय जैन से ही है। ब्राह्मण-धर्म के प्रति इस सिद्धान्त के कारण कि "जब तक मनुष्य ब्राह्मण न हो मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता"—कई प्रतिकोप या बग़ावतें हुईं। ब्राह्मण-धर्म के प्रति इन विद्रोहों की प्रतिध्वनियाँ आज तक सुनाई पड़ती हैं, किन्तु वस्तुतः दो प्रतिकोप ही चिरस्थायी हो सके—प्रथम बौद्ध और द्वितीय जैन। फलतः बौद्ध तथा जैन-धर्म दोनों का जन्म धार्मिक सुधारणा का परिणाम था। ये दोनों धर्म मौर्यकाल में खूब जड़ पकड़े थे, यद्यपि अशोक के समय बौद्ध-धर्म का प्रभाव अधिकता से रहा, किन्तु यह हमेशा याद रखना चाहिये कि 'जैन' यद्यपि एक बग़ावती बेटी है, किन्तु है ब्राह्मण की कन्या ही। जैन-धर्म की उपासना के बहुत से ढङ्ग आर्य नियमों से मिलते-जुलते हैं। जैन-धर्म को सम्राट् के नाती सम्प्रति ने भी यथेष्ट सहायता पहुँचाई। फलतः अशोक के समय के उगते हुए धर्मों में से जैन-धर्म प्रमुख धर्मों में से था।

इन विभिन्न सम्प्रदायों के लिये अशोक पाषडषि अथवा पासंडम्हिह या पासंड शब्दों का प्रयोग करते हैं। १३वें प्रज्ञापन—शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"नथि चा वे जनपदे यथा नथि इमे निकाया, आनंता येनेष ब्रंह्मने चाष्रभने, चा नथि, चा कुवापि जनपदषि यथा नथि मनुषानं एकतलषि पि पाषडषि नो नाम पषाडे।" अर्थात् ऐसा कोई जनपद नहीं है जहाँ ब्राह्मण, श्रमण आदि के सम्प्रदाय न हों। ऐसा कोई जनपद नहीं है जहाँ मनुष्यों की किसी न किसी धर्म में प्रीति

[1] The Heart of Jainism, Mrs. Sinclair Stevenson.

न हो ।" इस प्रकार विदित होता है कि अशोक के समय संप्रदाय अथवा धर्म के लिये 'पासंड' शब्द का प्रयोग किया जाता था। यद्यपि आजकल की संस्कृत के अनुसार इसका अर्थ अच्छे भाव में नहीं लिया जाता है। यह 'पासंड' संस्कृत शब्द पाषण्ड का अपभ्रंश है। किन्तु श्री भंडारकर की सम्मति में पासंड संस्कृत शब्द पाषण्ड नहीं वरन् 'पार्षद' वा पार्षण्ड का विकृत रूप है। यह पार्षण्ड शब्द अन्य संस्कृत ग्रंथों में नहीं मिलता है, किन्तु सम्भवतः यह शब्द अशोक के समय बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होता रहा हो।[1]

ये पासंड तीन भागों में विभाजित थे—(१) ब्राह्मण, (२) श्रमण और तीसरे वे जो न ब्राह्मण थे और न श्रमण। इस तीसरे विभाग में कौन-कौन लोग सम्मिलित थे यह निर्धारित नहीं किया जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन दो "ब्राह्मण और श्रमण" के अलावा और भी अन्य पाषण्ड वा सम्प्रदाय थे जैसा कि १३वें शिलालेख से स्पष्ट मालूम पड़ता है।

१२वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"देवानं पिये पियदषि लाजा षवा पाषंडनि, पविजितानि गहवानि वा पुजेति, दानेन विविधेन च पुजाये, नो चु तथा दाने वा पुजा वा देवानं पिये मनति अथा कित शालवठि शिया ति शवपाशंडानं शालवढिना बहुविधा।" अर्थात् देवताओं का प्रिय सब सम्प्रदायों व धर्मवालों का चाहे वे परिव्राजक हों, चाहे गृहस्थ, सब का दान और कई प्रकार की पूजा से उनका सम्मान करता है। देवताओं का प्रिय दान या पूजा को इतना नहीं मानता जितना कि सब धर्मों की सारवृद्धि हो ऐसा।" इस विवरण से स्पष्ट होता है कि गृहस्थ तथा परिव्राजक सम्प्रदायों से भिन्न भी हुआ करते थे तथा यह आवश्यकीय न था कि कोई परिव्राजक या गृहस्थ किसी सम्प्रदाय के अंतर्भूत रहे। इस पक्ष का ७वाँ स्तम्भ-लेख भी समर्थन करता है।

---

[1] Bhandarkar's Asoka, pp. 179.

पाषंड से अभिप्राय जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं 'धर्म' से भी है। अस्तु इस धर्म का तात्पर्य क्या है? इस धर्म से सम्राट् का तात्पर्य उन्हीं सद्वृत्तियों से है जिन्हें वे सब धर्मों के अंतर्गत समझते हैं तथा जिनको सर्व पाषंड, ब्राह्मण अथवा श्रमण सभी समान तौर पर मानते और अंगीकार करते हैं तथा उन धर्म-नियोगों पर आचरण करते हैं। इसीसे तो सम्राट् ७वें शिलालेख में कहते हैं, "देवताओं के प्रिय की अभिलाषा है कि सभी सम्प्रदाय एक हो स्थान पर रहें, क्योंकि वे सब आत्मा की शुद्धता एवं संयम चाहते हैं।" इसी प्रकार सम्राट् १२वें शिलालेख में एक दूसरे के धर्म को श्रवण करने का आदेश करते हैं। फलतः अशोक के समय सम्प्रदायों के अच्छे सिद्धांतों, नियमों अथवा शुद्ध संयमित आचरण का दूसरा नाम ही धर्म था। इस धम्म वा धर्म का लक्षण जानने के लिये द्वितीय गौण शिलालेख को देखिये, "देवताओं का प्रिय कहता है, माता और पिता की आज्ञा का पालन होना चाहिये। इसी भाँति अन्य जीवधारियों का आदर भी अनिवार्य है। सत्यभाषी होना अच्छा है, ये ही धर्म के लक्षण हैं जिनका अवश्यमेव अनुशीलन होना चाहिए।"

प्रोफेसर जौली का कहना है कि "संस्कृत साहित्य में 'धर्म' एक प्रच्छन्न तथा प्रमुख शब्द है। भारतीय आलोचकों के अनुरूप धर्म का आचरण अपूर्व आत्मा के विकास का मूल है। धर्म स्वर्गिक उपहारों एवं सुख का प्रदक तथा मोक्षदायक है।" इस प्रकार धर्म उन शिव, सुन्दर, साधु और देव-प्रवृत्ति अथवा सद्वृत्तियों का निर्मल समूह है जिन पर आचरण करने से मनुष्य इहलोक और परलोक, दोनों पर विजय प्राप्त कर सच्चे सुख का भागी हो सकता है। इसीसे तो सम्राट् अशोक कहते हैं कि प्रत्येक सांसारिक या साम्प्रदायिक रीति-रिवाज संदेहात्मक तथा निरर्थक हैं, क्योंकि उनसे सच्चे सुख का लाभ होना कठिन है, किन्तु जो फल धर्ममंगल से होता है वह अक्षय सुख का प्रदक है। इस धर्ममंगल से सबसे बड़ा सुख अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति होती

है। ये धर्ममंगल क्या हैं ? केवल सद्वृत्तियों, सुन्दर भावनाओं या नियोगों की एक शुचि शृंखला । ९वाँ शिलालेख कहता है—"धर्ममंगल में निम्न बातें होती हैं, दास और नौकरों से उचित व्यवहार, वृद्ध तथा गुरुजनों की पूजा, अहिंसा या प्राणियों में संयम, (प्राणियों में संयम का अर्थ है हिंसा से अलग रहना, किसी जीव को अपने सुख के लिये नष्ट न करना, सर्व प्राणियों की रक्षा करते हुए, मंगल गाते हुए अहिंसा व्रत का पालन करना), श्रमणों और ब्राह्मणों को दान देना तथा इसी प्रकार के अन्य कर्म धर्ममंगल के कर्म (कार्य) हैं। इस धर्ममंगल से यहाँ (इस संसार में) मनचाहा फल मिलता है और परलोक में भी अनंत पुण्य का देनेवाला है।"

उपरोक्त धर्म की व्याख्या से हम कह सकते हैं कि सम्राट् अशोक 'कर्म' पर अधिक जोर देते थे। कर्म अच्छे होने चाहिये चाहे मनुष्य किसी विशेष देवता का अथवा धर्म का उपासक क्यों न हो।

सम्राट् अशोक ने जैसा कि हम पहले कह आये हैं, पासंड, (सम्प्रदाय—धर्म) परिव्राजक और गृहस्थ इनको पृथक भी लिया है। अशोक के अनुसार कोई भी मनुष्य किसी सम्प्रदाय में न रह कर भी साधु अथवा गृहस्थ हो सकता है। इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्राट् सुन्दर प्रवृत्तियों का अपने अन्दर समावेश करना तथा सद्वृत्तियों या नियमों पर आचरण करने के 'कर्म' को ही प्रधान धर्म समझते थे। इसीसे वि० स्मिथ अशोक के धर्म को बिना ईश्वर का धर्म कहता है।[1] फलतः अशोक के समय कर्मवाद (Theory of golden deeds) साधारण उपासक से ले कर सभी पाषंडों, सम्प्रदायों और धर्मों में खूब उग्रता से प्रचलित था। उस समय लोगों का पूर्ण विश्वास था कि अच्छे कर्म का

---

[1] वि० स्मिथ अशोक, पृष्ठ ३३-३४।

संपादन करने से ही उन्हें अनंत सुख प्राप्त हो सकता है। उनका विश्वास था और सत्य विश्वास था कि सद्वृत्तियों एवं सुन्दर कर्मों के पालन से, उनका इहलोक और परलोक दोनों शुद्ध होंगे और उन्हें परम सुख की प्राप्ति होगी। सम्राट् स्वयं जनता को इन सद्वृत्तियों पर अनुशीलन करने का परिणाम, 'समाज' में दिव्यरूपों अर्थात् स्वर्गीय उपहारों (विमान, अग्निस्कंध, शुभ्र हस्ति, आदि) को दिखला कर स्पष्टतः व्यक्त करते जाते थे—जिससे जनता अच्छे कर्मों की ओर झुके, उनके परस्पर के धर्म का मन-मुटाव जाता रहे, धर्म का भेद न रह पावे, और सुन्दर 'कर्म' पर आचरण करना ही प्रमुख धर्म हो जाय, लोग स्वर्गीय सुख की अभिलाषा करते हुए धर्ममंगल मनाते हुए सद्वृत्तियों का पालन करें। फलतः यथेष्ट रूप में ये ही धर्ममंगल या सुन्दर कर्म के सिद्धान्त अथवा नियमों को ही लोग अपने देवता समझ कर, उन्हीं (सिद्धान्तों) की पूजा करने लगे। इस प्रकार कर्मवाद या कर्मयोग अशोक-कालीन भारत का प्रमुख धर्म हो चला। सम्राट् भी स्वयं जनता को इसी प्रकार शिक्षा देते जाते थे। सम्राट् कहते हैं, "यह कहा गया है कि 'दान देना पुण्य कर्म है,' किन्तु धर्म-अनुग्रह और धर्मदान से बढ़ कर और कोई दान नहीं है। इसलिये मित्र, सुहृद, सम्बन्धी और साथियों को समय-समय पर प्रभावित कर यह कहना चाहिये कि यही (सत्य) कर्त्तव्य है, यह सुन्दर है, इससे स्वर्ग प्राप्त होता है। इससे बढ़ कर और क्या लाभ हो सकता है कि स्वर्ग की प्राप्ति हो। तथा यह धर्मदान और धर्म-अनुग्रह केवल माता-पिता की सेवा, गुरुजनों की सुश्रूषा, भृत्य और नौकरों से उचित व्यवहार आदि के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"

फलतः जब सब पुण्यों तथा स्वर्ग के सुख आदि की प्राप्ति केवल धर्म-अनुग्रह अथवा धर्म पर आचरण करने से हो सकती है, तो एक जीवित ईश्वर की कल्पना कर उसकी आराधना और पूजा

में समय व्यतीत करना उस समय के लोग ठीक तथा लाभजनक न समझते थे। अथवा कहिए कि अशोक-कालीन लोगों का विश्वास अपने व्यक्तिगत अच्छे और भले कर्मों पर ही था न कि किसी जीते जागते व्यक्तिगत देवता की प्रतिकृति पर। परन्तु यह भी पूर्णतया संभव नहीं कि अशोक-कालीन सम्पूर्ण जनता ज्ञाननिष्ठ या तत्त्वविद् हो चली थी। उस काल में भी आजकल की भाँति बहुत से अन्धविश्वास बहुलता से समाज में प्रचलित थे। विशेषतः जैसा कि आज भी देखने में आता है, उस समय भी सशंकित हृदयवाली स्त्रियाँ स्वभावतः विश्वासनिष्ट (superstitious) हुआ करती थीं। अशोक-कालीन स्त्रियों में मिथ्याधर्म का बहुलता से प्रचार था—इस बात को स्वयं सम्राट् ने ९वें शिलालेख में कहा है, "देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, जनता में बहुत से 'मंगल' मनाये जाते हैं। किसी के बीमार होने पर, लड़के और लड़कियों के व्याह के अवसर पर, बच्चों के जन्मोत्सव पर, घर से बिदा होते समय, आदि सभी अवसरों पर लोग बहुत प्रकार के मंगल मनाते हैं। किन्तु ऐसे अवसरों पर माँ और पत्नियाँ, बहुत तथा विभिन्न प्रकार के मूढ़ उत्सव या मगल मनाती हैं। मंगल अवश्य मनाने चाहियें, किन्तु उपरोक्त मंगल बहुत कम लाभप्रद हैं। जो मंगल धर्म से संबद्ध हो वह अतीव फलदायक होता है। इस धर्म-मंगल में निम्न बातें होती हैं—वेतनभोगी और दासों से उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर-सत्कार, अहिंसा (प्राणियों में संयम), ब्राह्मणों और श्रमणों की सुश्रूषा—इन्हें और ऐसे ही अन्य मंगल धर्म-मंगल कहलाते हैं।" इस विवरण से मालूम होता है कि अशोक-कालीन भारत विभिन्न प्रकार के मिथ्याधर्म का यथेष्ट उपासक था। आजकल की अशिक्षित जनता और अशिक्षित स्त्रियों में जिस प्रकार बहुत से मूढ़ तथा अन्धविश्वास—जैसे भूत, प्रेत आदि की पूजा—प्रचलित हैं, इसी प्रकार अशोक के समय भी अशिक्षित स्त्री

और जनता में कई प्रकार के अन्धविश्वास प्रचुरता से पाये जाते थे। इसी मिथ्याधर्म का अनुसरण करने के कारण उस समय के समाज में—यक्ष, किन्नर, गंधर्व, नाग, सुपसी, हस्ति, अश्व, काक आदि की उपासना जाग उठी थी। यही कारण है कि बौद्ध-ग्रन्थ सुत्तपिटक-निद्देश कई प्रकार के विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख करता है, जैसे—जटिल, अवरुद्धक, परिव्राजक, हस्ति-पूजक, अश्व और गौ के उपासक, कुत्ता और कौआ के उपासक, यक्ष, गन्धर्व, चन्द्र, सूर्य, पुण्णभद्द, मणिभद्द, वासुदेव, बलदेव, ब्रह्मा, इन्द्र तथा विभिन्न दिशाओं के उपासक। इन्हीं अन्धविश्वासों को नष्ट करने के लिये सम्राट् ने धम्ममंगल को अन्य मंगलों से सर्वोत्तम कहा है। अशोक ने जनता को विश्वास दिलाया कि उनमें प्रचलित अंधविश्वास और निष्फल मंगल कोई अधिक तथा स्थायी फल के देने वाले नहीं हैं। किन्तु धर्म-मंगल ही एकमात्र सत्य मंगल है जिससे इहलोक और परलोक दोनों में पुण्य का फल मिलता है।

जाति-निरोध या निबंध—अशोक-कालीन समय अथवा प्राचीन काल में जाति के नियम कड़े न थे। उस समय का धर्म संकुचित न था अपितु सार्वलौकिक और प्रमुखतया विशाल था। जनता जातिगत दारुण नियमों से संबद्ध न थी, लोगों में तथा विभिन्न जातियों में स्वच्छन्दता-पूर्वक परस्पर हेल-मेल था। जाति के नियमों की कर्कशता उनको एक दूसरे से पृथक न किये थी। विभिन्न जाति यवन आदि और आर्य जाति में छूत-छात का पूर्णतया अभाव था, सब लोग जाति तथा वर्ण-भेद से अलग थे। सम्राट् के प्रतापी पितामह ने सहर्ष यवन कुमारी हेलेन का प्रेम-अंचल अंगीकार किया था।

जाति की उच्चता और नीचता के अंतर न होने के कारण ही यवनराज तुषास्प अशोक के सौराष्ट्र का अधिनायक था। प्राचीन काल में आर्य मिशनें यवन प्रान्त—सिरिया, मिश्र, कैरीन,

मैसिडोनिया, और इपीटस्—में धर्म का प्रचार कर रही थी।[1] इन धार्मिक मिशनों ने सामुद्रिक तथा वैदेशिक यात्रा की सामाजिक समस्या को मिटा दिया और लोग स्वतंत्रतापूर्वक विदेशों से व्यापार करने लगे। उस समय का धर्म जाति के बन्धन से बिलकुल मुक्त था। इस सर्वगत (सार्वलौकिक) धर्म के अंवेषण का आदर्शभूत दृष्टान्त हिलीओडोरस् का स्तंभ है। हिलीओडोरस् एक यवन था, जो दूत बन कर विदिसा आया था। यहाँ आ कर उसने भगवान् वासुदेव के नाम पर एक स्तंभ खड़ा किया। यह आर्य-यवन अपने को भागवत कहता था। यह घटना करीब १४० ई० पू० की है। धर्म की विशालता एवं जाति की स्वच्छंदता का एक और प्रतिरूपक प्रमाण एक यवन के हिन्दू-धर्म ग्रहण करने से मिलता है। आर्य धर्म में प्रविष्ट होने पर इस यवन ने पहले के यवन नाम को बदल कर अपना नाम धर्मरक्षित रखा था।

सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचारक सभी यवन-प्रांतों में धर्म-प्रचार कर रहे थे, जाति का कोई भेद-भाव न था, विदेश और स्वदेश में कोई धार्मिक अन्तर न समझा जाता था। जिस प्रकार सम्राट् ने अपने देश में धर्मप्रचार के लिये धर्म-महामात्र नियुक्त किये थे उसी प्रकार विदेशों के लिये अंतपाल और दूत नियुक्त थे। इस धर्म-प्रचार में कहाँ तक सम्राट् विजयी हुए—यह सम्राट् के ही शब्दों में देखिए, "देवानांप्रिय धर्म-विजय को प्रमुख विजय समझता है। यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय को यहाँ (अपने राज्य में) और सीमांत राज्यों में, छः सौ योजन तक जहाँ यवनराज अन्टीयोकस् (राज्य करता है) और अन्टीयोकस् के बाद टौलिमी, अन्टीगोनस, मग, अलिकसुन्दर के राज्यों में, और नीचे, चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी के राज्यों में प्राप्त हुई है।" इस वृत्त से स्पष्ट है कि अशोक के समय

[1] महाभारत, अ० १२, ६।
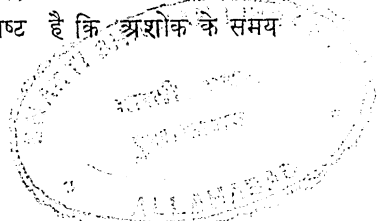
जनता पर तथा धर्म पर जाति का कोई निरोध या बंधन न था और लोग स्वेच्छापूर्वक विदेशों में भ्रमण तथा सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ थे। उस समय का धर्म सङ्कुचित न था, और जाति-भेद अथवा वर्ण-भिन्नता धर्म में कोई बाधा उपस्थित न कर सकती थी।

सामाजिक अवस्था—सम्राट् अशोक के समय मांस-भक्षण लोगों में यथेष्ट रूप से पाया जाता था। प्रथम शिलालेख में सम्राट् कहते हैं कि राजकीय पाकशाला में कई सहस्र प्राणी शोरवे के लिये मारे जाते थे, किन्तु मांसाहारी होने पर भी मालूम होता है कि उस समय भोजन की व्यवस्था शास्त्रोक्त थी। यद्यपि शोरवे के लिये बहुत से जीव मारे जाते थे, किन्तु कई पशु ऐसे थे जिनका मारा जाना धर्म के रूप में पाप समझा जाता था। ५वें स्तंभ-लेख में सम्राट् कई प्रकार के पशु और पक्षियों के मारने का निषेध करते हैं जिन्हें सम्राट् का कहना है, "पटिभोगमिनो इति"—"न काम में आते हैं और न खाये जाते हैं।" इससे मालूम होता है कि उस समय भोजन शास्त्रीय विधि से किया जाता था, जिन वस्तुओं, पशुओं आदि का शास्त्र निषेध करे वे अग्रहणीय थीं। धर्म-शास्त्र और धर्म-संहिता में कई ऐसे पशु-पक्षियों का नाम दिया है जिनका मारना पाप के अंतर्गत है। धर्म-शास्त्र में कहे गये ऐसे ही बहुत से धार्मिक पशु-पक्षियों का अशोक के स्तंभ-लेख में भी निषेध किया है। स्तंभ-लेख में निम्न पशु-पक्षियों का नाम दिया है—शुक (तोता), सारिका (मैना), अरुण बारासिंघा, चक्रवाक, हंस आदि। इनका तथा ऐसे ही अन्य पशु-पक्षी निषेधात्मक बताये गये हैं। फलतः सम्राट् के समय भोजन का विचार शास्त्र के नियमों के अनुसार किया जाता था यद्यपि स्तंभ-लेख में बहुत से ऐसे पशु-पक्षियों का उल्लेख नहीं किया गया है जिनका मारना स्मृतियाँ निषेधात्मक बतलाती हैं जैसे मोर। मोर का अशोक ने निषेध नहीं किया है। कई जानवर सम्राट् ने ऐसे भी दिये हैं जिनका मारना वे निषेधात्मक बतलाते हैं, किन्तु याज्ञवल्क्य, गौतम, मनु,

वशिष्ठ आदि उनकी हिंसा का निषेध नहीं करते जैसे गंडक और खड्गधेनु।

अशोक के समय होम, बलि और यज्ञ आदि की प्रथा का भी खूब प्रचार था। ब्राह्मणों के देवता बिना खून के तृप्त न हो पाते थे। इस बलि प्रथा के कारण जनता में हिंसा का दिन-दिन प्रचार होता जाता था। शिलालेख चतुर्थ लिखता है, "बहुत समय बीता, सैकड़ों वर्ष हो गये, कि जीवों का यज्ञ के लिये बलि होना, जीवहिंसा, और संबन्धियों, श्रमणों तथा ब्राह्मणों का अनादर बढ़ता ही गया। किन्तु आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से, भेरीघोष धर्मघोष में परिवर्तित हो चला।" इन्हीं बढ़ते हुए पापाचार जीवहिंसा आदि को रोकने के लिये सम्राट को राजकीय आज्ञायें प्रेषित करनी पड़ी थीं। प्रथम शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "यहाँ इस राज्य में कोई जीव मार कर होम न किया जाय। न समाज किये जायँ, क्योंकि देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ऐसे समाजों में कई विकारों को देखता है।" (शाहबाजगढ़ी)

जीवहिंसा बढ़ने का दूसरा कारण शिकार की प्रथा थी। राजागण बहुधा विहारयात्रा को निकला करते थे। इन विहारयात्राओं में शिकार खेलते हुए वे मनोरंजन किया करते थे। इस प्रकार जीवहिंसा बढ़ती जाती थी। निरपराध जंगली पशुओं का निर्दयता के साथ वध किया जाता था। इस बढ़ती हुई जीवहिंसा को रोकने का भी सम्राट् ने प्रयत्न किया। आठवाँ शिलालेख लिखता है, "विगत समय में राजा लोग, विहारयात्रा को निकलते थे। इस (विहारयात्रा) में शिकार आदि मनोरंजन हुआ करते थे, किन्तु देवताओं के प्रिय ने अभिषिक्त होने के १०वें वर्ष सम्बोधि की यात्रा की—जब से कि ये धर्मयात्रायें आरंभ होती हैं। इस धर्मयात्रा में निम्न बातें हुआ करती हैं—ब्राह्मणों का दर्शन, श्रमणों का दर्शन और उन्हें दान देना, गुरुजनों का दर्शन और उन्हें सोने का दान देना, जनपद के लोगों का दर्शन, उन्हें धर्म की शिक्षा देना, और यदि उचित समझा जाय

तो उनके साथ धर्म पर जिज्ञासा करना है।" (शाहबाजगढ़ी) इस प्रकार विहारयात्रा को धर्मयात्रा में बदल कर सम्राट् ने जनता को हिंसा के मार्ग से हटा कर धर्म-पथ पर प्रवृत्त किया। इस धर्मयात्रा के कारण लोगों की आसुरी वृत्तियों का अन्त हुआ और सद्वृत्तियाँ जाग उठीं। इस धार्मिक सुधार के फलस्वरूप जनता में जीवहिंसा कई अंशों में कम हो गई। जीवहिंसा को रोकने का अन्य अहिंसात्मक सम्प्रदाय, जैसे आजीविक, जैन आदि ने भी जो इस काल में जड़ पकड़े थे, यथेष्ट प्रयत्न किया। जीवहिंसा को रोकने के लिये सम्राट् ने कई और नियमों का भी निर्माण किया था। (चतुर्थ स्तम्भलेख)।

अशोक-कालीन स्त्री-समाज—स्त्री के विषय में शिलालेख से हमें बहुत कम ज्ञान होता है। केवल ९वें शिलालेख से हमें अवश्य इतना मालूम है कि उस समय की स्त्रियों में अन्धविश्वास का प्रचुरता से प्रचार था। जैसा कि आज भी अशिक्षित स्त्री-समाज में अधिकता से पाया जाता है। जनता में विवाह, जन्म आदि के अवसर पर कई प्रकार के मंगल मनाये जाते थे इस पर सम्राट् कहते हैं कि "ऐसे अवसर पर माताएँ और पत्नियाँ बहुत से क्षुद्र और निरर्थक मंगल मनाया करती हैं।" इस प्रकार स्त्री-समाज अन्धविश्वास के कूप में डूबा हुआ था।

स्त्रियों में पर्दा-प्रथा—श्री भंडारकर की सम्मति में अशोक-कालीन स्त्रियों में प्राचीन काल से पर्दा की प्रथा विद्यमान थी। इसके प्रमाण में वे 'अवरोधन' शब्द देते हैं। उनका कहना है कि अशोक ने अपनी रानियों के महल के लिये अवरोधन शब्द प्रयुक्त किया है, इससे मालूम होता है कि अशोक की रानियाँ बन्द पर्दे में रहा करती थीं। इसी के प्रमाण में वे कौटिल्य के 'अंतःपुर' को भी देते हैं। श्री सत्यकेतु ने भी भंडारकर जी के मत का समर्थन करते हुए सहसा स्वीकार किया है कि प्राचीन समय में पर्दा प्रथा का रिवाज था।

पर्दा-प्रथा की विवेचना करने से पहले हमें पर्दा का अर्थ पूर्णतया समझ लेना चाहिये। 'पर्दा' के दो अर्थ हैं। प्रथम 'गुप्तता' के लिये पर्दा, दूसरा 'पर्दा' जैसा कि 'बुर्के' के अर्थ में विद्वानों ने लिया है। यदि कोई व्यक्ति किसी बात को पर्दे में गुप्तता के साथ करना चाहता है तो क्या वह व्यक्ति पर्दा-प्रथा का अनुगामिन कहा जायेगा ? यदि रानियों का अंतःपुर गुप्त या विविक्त स्थान में बनाया जाता है, तो क्या इसका अर्थ पर्दा-प्रथा के रूप में लेना चाहिए ? अवरोध या अंतःपुर को अवश्य अवरुद्ध रहना चाहिये, क्योंकि यह तो निजी गुप्तता (Privacy) के हेतु है। यदि कौटिल्य राजकीय अंतःपुर का निर्माण सुरक्षित जगह पर जहाँ कोई विदेशी आक्रमणकारी न पहुँच सके, करने को कहे तो उचित ही है। स्त्रियाँ कोमल हृदय की होती हैं, उनमें पुरुषों की-सी हिंसा, पशुता तथा पौरुषता का अभाव रहता है, फलतः विदेशी आततायी, आक्रमणकारी तथा षड्यन्त्रकारियों से उनकी रक्षा करने के लिये सुरक्षित अवरोधन या अंतःपुरों का निर्माण अनिवार्य है ! इसलिये अवरोधन तथा अंतःपुर शब्दों को पर्दा-प्रथा के प्रमाण रूप में देना भूल है। आर्य-आदर्श हमें स्वतंत्र रखने पर भी पर्दा करने को बाध्य करते हैं। आजकल यदि शिक्षित स्त्री-समाज पर्दा-प्रथा का विरोधी है तो क्या इसका अर्थ यह होना चाहिये कि वे आर्य-आदर्श तथा चरित्र की पवित्रता और गुप्तता को भी छोड़ निर्लज्ज हो बैठी हैं ? कहने का अभिप्राय यह है कि पर्दा लज्जा और चरित्र के लिये आवश्यक है, न कि बुर्का डाल कर रीक्ष की प्रतिमूर्ति का लाक्षणिक बनने के लिये। उस समय पर्दा था, किन्तु उतना ही जहाँ तक मर्यादा कहती है। रानियों के अंतःपुर गुप्त या एकांत स्थान में होते थे, इसलिये नहीं कि पर्दा का रिवाज था, किन्तु इसलिये कि वे मर्यादा और चरित्र के अन्तर्भूत रहना चाहते थे। आर्य-आदर्श इस चारित्रिक गुप्तता, मर्यादा और संयम का अभिनन्दन करता है। गौरांगों की भाँति आम सड़क पर ही

अमर्यादित चुम्बन-प्रणाली को सुरुचिपूर्ण पर्दा-प्रथा का विरोधक कहना अच्छा नहीं, न हम ऐसी प्रथा को समाज के लिये श्रेयस्कर ही समझते हैं। अस्तु, जिनका अभिप्राय इस प्रकार की प्रथा से हो, वे भली प्रकार कह सकते हैं कि अशोक के समय पर्दा-प्रथा प्रचलित थी। अशोक कालीन लोग सभ्य उज्जड न थे, उनमें बुर्का न था किन्तु मर्यादा अवश्य थी। यदि कोई व्यक्ति दश आदमियों के समक्ष अपनी स्त्री से वार्तालाप अथवा प्रेमालाप करने का पक्षपाती नहीं है, तो उसे पर्दा-प्रथा का अनुसरणकर्ता भी न समझना चाहिये। क्योंकि गुप्तता और पर्दा दो भिन्न विषय हैं। श्री भंडारकर ने अपने पक्ष की प्रबलता के लिये पाणिनि के सूत्र 'असूर्यपश्या' को ला कर दिया है जिसका अर्थ कासिकाकार ने "असूर्यपश्या राजदारा" "राजा की स्त्री" किया है। यह "असूर्यपश्या" कौमुदी महोत्सव नाटक में भी एक राजकुमारी के लिये प्रयुक्त किया गया है। इन्हीं सब बातों को लक्ष्य कर श्री भंडारकर कहते हैं कि "राजा की स्त्रियाँ या रानियाँ इतनी निर्दयता और दृढ़ता के साथ बन्द रहती थीं कि सूर्य भी उनको न देख पाता था।" किन्तु खेद है कि बिना विवेचना के ही "असूर्यपश्या" का सरल अर्थ लगा कर इतिहास पर अनर्थ किया गया है। यद्यपि साधारणतया असूर्य-पश्या का अर्थ "जिनको सूरज नहीं देख पाता" ही लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः उसका पारिभाषिक अर्थ है कि "वे (स्त्रियां) इतनी पतिव्रता होती थीं कि परपुरुष का मुख देखना तो असंभव ही है वे सूर्य के मुख को भी न देखती थीं।"[1] ब्राह्मण-धर्म में स्त्रियों के लिये सूर्य को अर्घ्य देना नहीं लिखा है इसलिये भी वे असूर्यपश्या कहलाती थीं। पुनः संस्कृत साहित्य के इस श्लोक को देखिये "ललाट तप्तसूर्य्यं तु ताऽ सौंदर्य विघातक मुखमेचकिमोत्पादकत्वेन न पश्यन्ति" स्त्रियाँ इतनी कोमलांगी होती थीं, उनका सौन्दर्य इतना तरल और स्निग्ध था कि

---

[1] "सूर्यं दर्शनस्य पातिव्रत विधानकत्वे तु अथैनां सूर्य मुदीक्षयति इति गृह-सूत्रोक्तकर्मणाऽकरणेऽङ्गवैगुण्युमेव स्यादिति केचित्।"

सूर्य की तीखी किरणों के भाले उनके लावण्य कुसुम को विदीर्ण कर देते थे। इसलिये सौंदर्य की रक्षा के हेतु वे सूर्य को न देखती थीं जिसके फलस्वरूप उनका असूर्यपश्या नाम पड़ा। फलतः असूर्यपश्या स्त्रियों की पवित्रता, चारित्र्य की उज्ज्वलता तथा कोमलता का बोधक है। प्राचीन काल की स्त्रियों में पाश्चात्य ढङ्ग की स्त्रियों की-सी फैशन की चुलबुलता न थी किन्तु सतीत्व की गुप्तता थी जो उन्हें सूर्य के मुख पर देखने से भी रोके थी। कह सकते हैं कि उस समय पर्दा-प्रथा का रिवाज न था किन्तु चारित्रिक उज्ज्वलता और सतीत्व की उपासना के लिये मर्यादा और सयम का पर्दा आवश्यक था। पाठकों को इस पर्दा शब्द से भ्रम में न पड़ना चाहिये, हम पहले ही कह चुके हैं कि पर्दा के दो अर्थ हैं—गुप्तता (Privacy) और बुर्का (veil) पहिनना। हमने पर्दा का अर्थ गुप्तता भी लिया है, क्योंकि चारित्रिक गुप्तता, मर्यादा और संयम का पालन करते हुए पर्दा-प्रथा का विरोधी होना ही वस्तुतः पर्दा-प्रथा को नहीं मानना है। न कि सिर नंगा कर आम सड़क पर हँसी के प्रवाह में शब्दों को उछालते-उछालते बात-चीत करने में तथा असंयमित भ्रमण करने में ही स्त्रियाँ सच्ची पर्दा-प्रथा की विरोधी कही जा सकती हैं। तितलियाँ बन कर सड़कों पर चहकती और फुदकती हुई स्त्रियाँ अनंग की सुसज्जित सेना है जो लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर अनंग की जय घोषणा करती हैं। हमारी सम्मति में पर्दा का विरोध न होना चाहिये, जैसा कि प्राचीन काल में था, और उसी संयमित और मर्य्यादित गुप्तता को अपर्दा-प्रथा कहना ही सत्य है।

सत्यकेतु जी ने एक और शब्द 'अनिष्कासिनी' को आगे कर जल्दी में कह दिया, "क्योंकि कौटिल्य ने स्त्रियों के लिये अनिष्कासिनी (बाहर न निकलने वाली) शब्द का प्रयोग किया है। इसलिये सिद्ध है कि स्त्रियों में प्राचीन काल से पर्दा की प्रथा क़ायम

थी ।"[१] सत्यकेतुजी ने इतना ही कह कर अपना कार्य समाप्त कर दिया । यदि वे थोड़ा कष्ट उठाने की हिम्मत करते तो विदित हो जाता कि यह शब्द पर्दा-पर्था का कतई प्रमाण नहीं है । 'अनिष्कासिनी' कौन हुआ करती थीं ? और कहना होगा कि राजरानियाँ ही जिनके लिये कौटिल्य आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने यह शब्द प्रयुक्त किया है । अनिष्कासिनी शब्द ऐश्वर्य और वैभव का द्योतक है । सम्राज्ञियों को बाहर निकलने की कोई आवश्यकता ही नहीं, जब कि उनके लिये भोग और ऐश्वर्य के सभी उपकरण पास ही पड़े हैं । फलतः अनिष्कासिनी असीम ऐश्वर्य का लाक्षणिक है । माँ सीता के लिये भी इस अनिष्कासिनी शब्द का प्रयोग किया गया है । सीता भगवान् राम की सहचारिणी थीं, जिन्होंने कभी पलंग से नीचे पाँव भी न रखा था, किन्तु वनवास के समय वही सीता बिना पदत्राण के पैदल रामजी के साथ वन को गई थीं । यदि सीता अनिष्कासिनी होतीं तो वे किस प्रकार वन को जातीं ? यद्यपि सीता वन जाने से पहले, जब आर्य कवि उनके ऐश्वर्य का उल्लेख करता है—अनिष्कासिनी थीं—क्योंकि ऐश्वर्य और वैभव की विपुलता के कारण उन्हें पलंग से नीचे पाँव रखने की तब कोई आवश्यकता थी ही नहीं । प्राचीन काल में हमें मालूम है कि यज्ञ करते समय स्त्रियाँ भी साथ रहा करती थीं । लंका विजय करने के पश्चात् रामचन्द्रजी ने अश्वमेध यज्ञ किया था । इस राजसूय-यज्ञ के समय सीता जी पुनः राम से परित्यक्त हो वन में रहा करती थीं । उस यज्ञ को करते समय सीता जी की उपस्थिति अनिवार्य थी और स्पष्टतः धर्मपत्नी की उपस्थिति आवश्यक थी । अस्तु, रामचन्द्रजी को सीताजी की एक स्वर्ण प्रतिमा बनानी पड़ी, तभी यज्ञ प्रारंभ हो सका । जब सीताजी ने यह वृत्तांत सुना तो वे व्याकुल हो उठीं । महाकवि लिखता है—

---

[१] मौर्य-साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ ६०९ ।

"वृत्तान्तेन श्रवणविषय प्रणिना तेन भर्त्तुः ।
सा दुर्वारं कथमपि परित्याग दुःखे विषेहे ॥" रघुवंश, ८७ ।

महाराज रामचन्द्र के पूर्वज श्री दिलीप नृपति को जब कोई पुत्र न हुआ, तो राजकार्य छोड़ दिलीप और उनकी धर्मपत्नी सुदक्षिणा मुनि वशिष्ठ के आश्रम में जा कर, कामधेनु की उपासना करने लगे। वहाँ रात को गाय की आराधना कर चुकने पर जब कामधेनु सो जाती थी तो दोनों राज-पति-पत्नी गुरु और गुरु-पत्नी की सेवा में संलग्न हो जाते थे। महाकवि कालिदास ने इसका बड़ा ही रोचक वर्णन किया है—उनके एक दो श्लोक यहाँ पर उद्धृत किये जाते हैं—

"अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयातौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वशिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥
तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसु मपांसुलानां धुरि कीर्तिनोया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृति मन्वगच्छत् ॥"
(रघुवंश, १-३५)

इसी प्रकार कालिदास के नाटक शकुन्तला आदि में भी पर्दा-प्रथा नहीं पाई जाती। शकुन्तला की सखियाँ प्रियम्वदा और अनसूया दुष्यन्त से खूब खुल कर वार्तालाप करती हैं इसी प्रकार भास के नाटक में भी वासवदत्ता अपने राखीबन्ध भाई के साथ विदेश निकल जाती है। इन सब प्रमाणों के आधार पर कह सकते हैं कि प्राचीन काल में पर्दा-प्रथा न थी। इसके प्रमाण में हमारी प्राचीन चित्रकला, पाषाण-शिल्पकला भी साक्षी हैं। प्राचीन काल की जितनी भी चित्रकारी है, सब नग्न है, किसी पर पर्दा (बुर्का) का चिह्न भी अंकित नहीं है। मौर्य्य काल में स्त्रियाँ सैर के लिये ही नहीं, अपितु आखेट के लिये भी बाहर निकला करती थीं। मेघास्थनीज़ ने लिखा है कि आखेट को जाते हुए चन्द्रगुप्त की सेनाओं के साथ-साथ, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित स्त्रियों की भी एक अलग सेना होती थी। अस्त्र-शस्त्रों से सजी-धजी ये स्त्रियाँ ऐसी मालूम देती थीं मानो किसी युद्ध में जा

रही हों।" अब यदि कहें कि स्त्रियों में पर्दा का रिवाज था तो क्या शिकार में खुले आम जानेवाली स्त्रियों को स्त्री न कहा जाय ? इसके अलावा अशोक के समय स्त्रीअध्यक्ष-महामात्र भी नियत किये गये थे। इससे मालूम होता है कि स्त्रियाँ, राजकार्य, धर्मकार्य, आखेट· आदि सभी विभागों में नियुक्त थीं। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार स्त्रियाँ शिल्प-शालाओं में भी काम किया करती थीं।

सम्राज्ञियों का बाहर आना दिव्यावदान से भी प्रमाणित है। दिव्यावदान लिखता है कि अशोक अपनी ईर्षान् रानी तिष्यरक्षिता के साथ बोधि वृक्ष के पास गये थे। यह बोधि-वृक्ष तिष्यरक्षिता के कुमंत्र के कारण झुलस उठा था। इस वृक्ष को सम्राट् सुगन्धित जल से सींचना चाहते थे। यह चित्र सांची-स्तूप पर दिया गया है।[१]

अशोक-काल में स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति संघ में सम्मिलित हुआ करती थीं। पुरुष और स्त्रियों में कोई धार्मिक तथा सामाजिक अन्तर न था। स्त्रियाँ उसी प्रकार प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी हो सकती थीं जिस प्रकार पुरुष भिक्षुक हो सकते थे। धर्म के प्रचार में इन स्त्रियों ने भी यथेष्ट प्रयत्न किया धार्मिक मिशनों में स्त्री भी हुआ करती थीं और संभवतः स्त्रियों के मिशन पृथक ही हुआ करते थे। अपने भाई महेन्द्र के प्रव्रज्या ग्रहण करने के दो वर्ष पश्चात् संघमित्रा ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी हो चली। इस समय सघमित्रा की आयु केवल बीस वर्ष की थी। तत्पश्चात् राजकुमारी संघ में आ मिली और धर्म-प्रचार का बीड़ा अपने कोमल स्कंध पर ले, गौतम के धर्म-पथ का अनुसरण करती हुई, भाई के साथ दूर लंका को जा पहुँची। लका में पहुँचने पर वहाँ के राजा तिस्स ने संघमित्रा के लिये एक विहार का निर्माण करवाया। संघमित्रा ५६ वर्ष तक लंका में रही और ७६ वर्ष की अवस्था में यहीं शरीर त्याग किया।

[१] दिव्यावदान, पृष्ठ ३९७-३९८

महावंश के अनुसार, "थीरो मोगाली, राजकुमार महेन्द्र का आचार्य था और आयुपाली संघमित्रा की याजिका (आचार्य) थी। धर्म को उज्ज्वल करने वाले ये दोनों व्यक्ति धम्माशोक के अभिषिक्त होने के ६वें वर्ष परिव्राजक हुए थे। जिस प्रकार सूर्य्य और चाँद विश्व को प्रकाशमान करते हैं उसी तरह संघमित्रा और महेन्द्र ने गौतम के धर्म का प्रकाश किया।"[1] वस्तुतः इन सब विवरणों से यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है कि प्राचीन काल में पर्दा-प्रथा का रिवाज न था।

समाज का विधान—धार्मिक वर्ग के अलावा और भी कई वर्ग अशोक के समय में विद्यमान थे। पाँचवें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "ये (महामात्र) भियेषु, ब्राह्मण, अभेषु और गृहस्थियों, अनाथों (निराश्रयों), बुड्ढों तथा धर्मगामिन लोगों के सुख और रक्षा के लिये नियत किये गये हैं।" इस शिलालेख से पता लगता है कि अशोक के समय समाज का रूप कैसा था ? उस समय का समाज, ब्राह्मण, भियेसु या वैश्य, भट और उनके अधिपति (अधिनायक) क्षत्रिय, दास वेतनभोगी (शिलालेख ६, ११, और १३, तथा स्तम्भलेख ७वाँ में इनका उल्लेख है) अथवा शूद्र आदि विभिन्न वर्गों या जातियों में विभाजित था।

ये विभिन्न जातियाँ साम्राज्य के सभी प्रदेशों में पाई जाती थीं। केवल यवनों का प्रदेश ही एक ऐसा प्रदेश था, जहाँ सम्राट् कहते हैं—"यवनों के जनपद प्रदेश को छोड़ कर, कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ ये जातियाँ (ब्राह्मण, श्रमण, साधु, क्षत्रिय आदि जो ऊपर लिखी हैं) न पाई जाती हों।" एक बात यहां पर ध्यान देने की है, वह यह कि पाँचवें शिलालेख में उल्लेखित ब्राह्मणों से तात्पर्य सांसारिक ब्राह्मणों से नहीं है, किन्तु उसका अर्थ ब्राह्मण-परिव्राजक अथवा ब्राह्मण-साधु लेना चाहिये।

---

[1] महावंश, प्रकरण पाँचवाँ।

भियेपु—यह शब्द केवल एक बार उपनिषद् में आया है, किन्तु पाली साहित्य में यह कहीं नहीं पाया जाता।[1] महानारद-कश्यप जातक में इस भियेपु को गहपति या गृहपति कहा गया है। गृहपति का अर्थ तृतीय वर्ग अर्थात् वैश्यों से लिया जाता है। इस वर्ग का समाज में यथेष्ट स्थान था, क्षत्रियों के बाद यही वर्ग विशिष्ट वर्ग समझा जाता था।

क्षत्रिय—अशोक के शिलालेख क्षत्रियों का कुछ भी उल्लेख नहीं करते हैं, किन्तु मानना पड़ेगा कि क्षत्रिय उस काल में एक शासक जाति थी। सम्राट् अशोक स्वयं अभिजात मौर्य्य क्षत्रिय कुल के थे; अशोक ने अपने सम्बन्धियों तथा भाइयों आदि का शिलालेख में उल्लेख किया है। शिलालेखों में अन्य क्षत्रिय सीमांत दक्षिणी राजाओं का भी उल्लेख किया गया है। तथा भट और उनके अधिनायकों का भी शिलालेख उल्लेख करते हैं। इन्हीं सब वृत्तों के बल पर कह सकते हैं कि शासक वर्ग होने के कारण सम्राट् ने उनका पृथक रूप से उल्लेख नहीं किया, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से क्षत्रियों का अवश्य उल्लेख किया गया है।

शूद्रवर्ग पूर्णतया अवस्थित वर्ग न था। समाज के इस निकृष्टतम वर्ग में भृत्य और दास भी शामिल थे। इन भृत्यों और दासों के प्रति अच्छा व्यवहार करने का सम्राट् बार-बार आदेश करते हैं तथा भृत्य और दासों के प्रति इस अच्छे व्यवहार को सम्राट् धर्म का लक्षण समझते हैं। मालूम पड़ता है कि अशोक के पहले दास और भृत्यों से लोग अच्छा वर्ताव न करते थे। संभवतः यही कारण था कि सम्राट् को दास और भृत्यों के प्रति अच्छा व्यवहार करने का जनता को आदेश देना पड़ा। अपितु निकृष्ट-वर्ग के प्रति इस अच्छे व्यवहार को धर्म का एक लक्षण ही बना डाला।

---

[1] Bhandarkar's Asoka, pp. 190.

अशोक के दूसरे शिलालेख से भी उस समय की सामाजिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। दूसरा शिलालेख कहता है—"देवताओं के प्रिय ने सर्वत्र दो प्रकार के चिकित्सालयों की स्थापना की है, मनुष्यों के चिकित्सालय और पशुओं के चिकित्सालय। औषधियाँ भी जो मनुष्यों के लिये फलदायक हैं और जो पशुओं के लिए लाभदायक हैं—जहाँ जहाँ वे नहीं पाई जातीं और पैदा नहीं होतीं, वहाँ वहाँ भेजी गई और रोपी गई हैं।" इस वृत्त से मालूम होता है कि उस समय का समाज २०वीं शताब्दी से भी यथेष्ट विशिष्ट था। उस समय मनुष्यों को ही नहीं, अपितु पशुओं की भी यथेष्टतया देखभाल की जाती थी। लोगों के हृदयों में प्राणियों का मूल्य सम था, जीव रूप में मनुष्य तथा अन्य प्राणियों—पशु आदि में कोई अन्तर न समझा जाता था। यही कारण था कि मनुष्य और पशु दोनों के लिये एक ही प्रकार के चिकित्सालयों का प्रबन्ध किया जाता था। मनुष्यों की मुफ़ चिकित्सा होती थी और स्वतंत्रतापूर्वक दवाइयों का वितरण किया जाता था। पशुओं का भी इसी प्रकार प्रबन्ध था, असहाय पशुओं तथा बीमार जानवरों के लिये अलग अस्पताल निर्मित कराये गये थे। सम्राट् किस प्रकार औषधियों का स्वतंत्रतापूर्वक और उदारता के साथ वितरण किया करते थे, यह महावंश की निम्न कथा से स्पष्ट है। महावंश लिखता है—"पाटलिपुत्र का एक यात्री जंगल में भ्रमण कर रहा था। इसी समय एक युवती कुन्तीकिन्नारया (एक काल्पनिक पशु) से उसका संबन्ध हो गया। इस संबन्ध से उनके दो पुत्र हुए—ज्येष्ठ का नाम तिस्सो था और कनिष्ठ का नाम सुमीतो था। ये दोनों समय बीतने पर थीरो महावरुणो को शिष्यता ग्रहण कर संघ में सम्मिलित हुए। पाँव में काँटा चुभने के कारण तिस्सो के घाव हो चला था। इस घाव के लिये शुद्ध नवनीत की आवश्यकता थी किन्तु मक्खन नियत समय पर न मिल सका। बीमारी बढ़ती गई और थीरो इसी बीमारी का ग्रास हुआ। जब सम्राट् (अशोक) ने थीरो

तिस्स के इस कारुणिक अन्त का हाल सुना तो वह थीरो के निवास-स्थान पर अपने परिचारकों के सहित गया और उस (थीरो) के अवशेषों को एकत्र करवाया। इसके पश्चात् थीरो के अवशेष राजकीय हाथी पर रखे गये, तथा उसके अवशेषों के आदर में उत्सव मनाया गया। उत्सव मना चुकने के पश्चात् सम्राट् ने पूछा कि यह थीरो किस बीमारी के कारण मरा? जब सम्राट् को मालूम हुआ कि थीरो की मृत्यु औषधि के समय पर उपलब्ध न होने के कारण हुई, तो उन्होंने नगर के चारों द्वार पर शुभ्र चूने के चार तड़ाग बनवाये और उनको औषधीय, रोगहारिन पेय (पानीयं) से भरते हुए कहा—"भिक्षुगणों को प्रति दिवस औषधि देने में, कभी कमी न रहने पावे।"

अशोक के समय प्रत्येक चिकित्सालयों के अपने-अपने आयुर्वैदिक वाटिकायें हुआ करती थीं। इन वाटिकाओं में जगह-जगह से लाकर औषधि के वृक्ष लगाये जाते थे। इस प्रकार चिकित्सालय स्वयं औषधियाँ उगाया करते थे। फलस्वरूप चिकित्सालयों को कभी औषधियों की कमी न रहा करती थी। सम्राट् स्वयं इन वाटिकाओं (botanical gardens) की देख-रेख किया करते थे। उन्हें औषधियों की कमी का हर समय ध्यान रहता था। जहाँ जिस औषधि के वृक्ष न पाये जाते थे वहाँ उस औषधि के विरवों, क्षुपों, जड़ों आदि भेजने का प्रबन्ध स्वयं सम्राट् द्वारा किया जाता था। दूसरे शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"औषधियाँ जो मनुष्यों के लिये गुणकारी हैं, और जो जानवरों के लिये उपयोगी हैं, जहाँ जहाँ नहीं हैं वहाँ भेजी गई और रोपी गई हैं। इसी तरह जड़ें और फलों के वृक्ष भी जहाँ जहाँ नहीं पाये जाते वहाँ वहाँ भेजे गये और रोपे गये।" यह सम्राट् की अपूर्व मौलिकता थी, यह सम्राट् का महान् कार्यों में से एक महान् कार्य था। जिस समय गौरांग प्रदेशों तथा पश्चिमी एशियाई प्रदेशों में मनुष्यों को ही औषधियाँ प्राप्त न थीं, सम्राट् पशुओं को भी स्वतंत्र रूप से औषधियों वितरण किया करते थे। मनुष्यों के लिये विशाल चिकित्सालय और

पशुओं के लिये पिंजरापोलों (pinjrapol) की कमी न थी। इतना ही नहीं अशोक की महानता का कारण है उनकी 'सार्व-लौकिकता।' ये दोनों प्रकार के औषधालय सम्राट् के विजित या अपने ही राज्य में न थे, अपितु यवन प्रदेशों में भी सम्राट् ने इन दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध करवाया। सम्राट् की इस असीम कृपा के फलस्वरूप सर्व-प्रकार की औषधियों का उपचार विश्व भर में व्याप्त हो गया, जिससे यवनों ने भी यथेष्ट लाभ उठाया।

अशोक-काल में विद्या की अभिवृद्धि—अशोक के समय दो प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं (१) ब्राह्मी लिपि और (२) खरोष्ठी लिपि। शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के चतुर्दश शिलालेख खरोष्ठी लिपि में लिखे गये हैं। इनके अलावा अन्य शिलालेखों की लिपि ब्राह्मी है। बुलेर का कहना है कि खरोष्ठी लिपि के नाम का मूल खरोष्ठ (खर-ओष्ठ) से है। इस लिपि का प्रवर्तक खरोष्टी नामक एक साधु था, जिसके कारण इस लिपि का नाम खरोष्टी पड़ा। डाक्टर सिलमन के अनुसार यह लिपि मूलतः खरोष्ट्र-प्रदेश में पाई जाती थी, जिसके कारण इस लिपि का नामकरण इसी प्रदेश के नाम पर खरोष्टी रखा गया। खरोष्ट्र-प्रदेश भारत के समीपस्थ एक बाह्य प्रदेश का नाम है।

ब्राह्मी लिपि—प्राचीन लोगों का जघन्य विश्वास था कि यह लिपि साक्षात् ब्रह्मा से प्रसूत हुई थी, जिसके परिणाम-स्वरूप इसका नाम ब्राह्मी लिपि रखा गया। खरोष्टी लिपि की लेखन-शैली दायें से बायें थी, किन्तु ब्राह्मी लिपि के लिखने का ढङ्ग आजकल की अंग्रेजी और हिन्दी लेखन प्रणाली की तरह बाईं से दाहिनी ओर थी। खरोष्टी लिपि का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारत से लेकर सीमांत प्रदेशों को होते हुए चीनी तुर्किस्तान तक था। किन्तु ब्राह्मी-लिपि भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित थी। इस खरोष्टी लिपि का ५वीं शताब्दी के लगभग देहावसान हो गया, और वह भारत से प्रयाण कर गई।

किन्तु ब्राह्मी लिपि आगे चल कर सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं की माता बनीं। अपितु सिलोन, ब्रह्मा और तिब्बत की भाषाओं की भी ब्राह्मी ही प्रसूतिनी कही जाती है। ब्राह्मी लिपि के प्रति बहुत से यूरोपियनों के विभिन्न मत हैं। वेबर (Weber) और बुलेर (Buhler) का मत है कि ब्राह्मी लिपि का मूल फोनिसियन वर्णमाला है। इस फ्रानिसियन वर्णमाला का समय आठवीं बी०सी० के लगभग कहा जाता है। किन्तु कनिंघम (Cunningham) इसके (Semitic origin) सामि-मूल को स्वीकार नहीं करता। कनिंघम का कहना है कि ब्राह्मी लिपि सिमिटिक न थी, क्योंकि उसकी लेखन-प्रणाली हमेशा बाईं से दाहिनी ओर रही है। इन सब विवादों को देख कर श्री भंडारकर कहते हैं, 'यह अनुमान करना अधिक नीतियुक्त है कि ब्राह्मी लिपि स्वदेशीय है। ब्राह्मी लिपि आठवीं ई०पू० के सीमिटिक वर्णमाला से उद्भूत न हुई थी, अपितु उसे प्रागैतिहासिक काल (pre-historic) की लेना चाहिये।"

अशोक के शिलालेखों में वर्ण-विन्यास अथवा अक्षर-विन्यास की विचित्रता पाई जाती है। अशोक के शिलालेखों में कहीं भी समान व्यंजन द्विगुणित नहीं किये गये हैं। इस काल में दो प्रकार की भाषाओं का व्यवहार किया जाता था। ७वें स्तम्भ-लेख की भाषा तथा चतुर्दश शिलालेखों के धौली, जौगडा और कालसी प्रज्ञापनों की भाषा सर्वतया एक ही है। किन्तु शाहबाजगढ़ी, मानसेरा और शिलालेखों की भाषा में पर्याप्त भिन्नता और निजी विचित्रतायें पाई जाती हैं, यद्यपि स्तम्भ-लेख की भाषा के बहुत से लक्षण उनमें अवश्य विद्यमान हैं। इस प्रकार इस काल में दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया जाता था।

स्तम्भ-लेखों की भाषा का भारतवर्ष में बहुलता से प्रचार था। यह भाषा सम्पूर्ण मध्यदेश, बिहार, उड़ीसा, और देहरादून तक प्रचलित थी। इससे मालूम होता है कि बोलचाल की साधारण भाषा

यही स्तम्भ-लेखों की भाषा थी। शिलालेखों और स्तम्भ-लेखों का उद्देश्य जनता को धार्मिक शिक्षा देना था, अतः उन लेखों का साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में लिखा जाना आवश्यक था तथा श्री भंडारकर के अनुसार मौर्य्य-दर्बार की राजकीय भाषा भी यही थी। विद्वानों ने इस भाषा का मूल 'मागधी' को माना है। विद्वानों का कहना है कि स्तम्भ-लेखों की भाषा की भाँति मागधी भाषा में भी 'ल' का 'र' और 'उ' का 'ई' होना पाया जाता है। मागधी की यह शाब्दिक विचित्रता रामगढ़-पहाड़ी के जोगीनारा-लेख्य से स्पष्ट विदित है। (तीसरी ई० पू०)—यह रामगढ़-पहाड़ी बिहार में अवस्थित है। अस्तु, स्तम्भ-लेखों की भाषा मगध की राजकीय भाषा थी। तथा सर्वत्र मध्यदेश और कलिङ्ग तक इस भाषा का प्रचार था। अतः कह सकते हैं कि यह भाषा उस समय की राष्ट्र-भाषा (Lingua-Franca) थी।[१] किन्तु उत्तरापथ के शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के लेखों की भाषा तथा दक्षिणापथ के गिरनार की भाषा में अंतर है। इन लेखों की भाषा पर प्रान्तीय भाषाओं की छाप पड़ी है। मध्यदेशादि की भाषा की तरह यहाँ (उत्तरापथ-दक्षिणापथ) की भाषा में 'ल' का 'र' होना नहीं पाया जाता। उत्तरापथ और दक्षिणापथ की भाषाओं में भी कुछ-कुछ अंतर पाया जाता है।

ध्वनिशास्त्र—एक बात और ध्यान देने की है। कालसी और गिरनार की भाषाओं की ध्वनि का निरीक्षण करने से मालूम होता है कि कालसी की भाषा में, गिरनार की भाषा से अधिक ध्वनिशास्त्र में अपकर्ष है। संस्कृत रूप 'सर्वत्र' को गिरनार—'सर्वत' और कालसी 'सवता' लिखता है। इसी तरह 'सुकृत' (संस्कृत) को गिरनार, 'सुकतं' और कालसी 'सुकटं' बाँचता है। गिरनार संस्कृत शब्द 'कर्त्तव्य' को 'कतव्य' और कालसी 'कटविय' लिखता है। इस 'ध्वनि अपकर्ष' का निरीक्षण कर प्रो० मिचलसन कहते हैं, "कालसी की भाषा गिरनार की भाषा

---

[१] Bhandarkar's Asoka, pp. 207.

से उत्तर-कालीन है।" यह भाषा-विज्ञान पर एक छोटी सी विवेचना है। अब यह मालूम करना है कि अशोक के समय शिक्षा का कितना प्रचार था, विद्या की उन्नति तथा ज्ञानोत्कर्ष के प्रमुख केन्द्र विहार तथा संघ आदि ही थे। इन धार्मिक मठों में धर्म की व्याख्या, तथा धर्म की जिज्ञासा हुआ करती थी। दार्शनिक तत्त्वों का भी यहीं निर्माण और पालन होता था। विद्या और संस्कृति की स्वर्ण-किरणें मठों से उदित हो कर सम्पूर्ण भारत को ज्ञान के प्रकाश से निर्मल कर गईं। साधारण जनता में भी दिनानुदिन ज्ञान का उत्कर्ष बढ़ता गया, और लोग अधिक से अधिक संख्या में शिक्षित होने लगे। अशोक-कालीन जनता अपनी शिक्षा के बल सम्राट् के साथ धर्म पर जिज्ञासा करने के योग्य हो चली थी। आठवें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "बहुत समय बीता, प्राचीन राजा लोग विहार-यात्रा को निकलते थे। इस विहार-यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही अन्य मनोविलास के विषय थे। किन्तु देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा को, अभिषिक्त होने के १०वें वर्ष सम्यक-ज्ञान की प्राप्ति हुई (या बौद्धधर्म की तीर्थयात्रा की), तब से इस धर्म-यात्रा का आरम्भ हुआ। इस धर्म-यात्रा में निम्न बातें हुआ करती हैं—श्रमणों, ब्राह्मणों का दर्शन और उनको दान देना, बुड्ढों का दर्शन और उन्हें स्वर्ण दान देना, जनपद राज्य के लोगों से मिलना और उनसे धर्म के विषय पर जिज्ञासा करना आदि।"

राजा जनता से तभी धर्म पर जिज्ञासा कर सकता है जब वह सुशिक्षित हो तथा जब वह धर्मशास्त्र का यथेष्ट रूप से ज्ञान रखे। अतः निःसंदेह अशोक-कालीन जनता में विद्या का खूब प्रचार रहा होगा। विद्या की अत्यधिक उन्नति होने में—धर्म विषय पर जिज्ञासा, दार्शनिकों, ज्ञानियों आदि का परस्पर वाद-प्रतिवाद, विभिन्न पाषंडों (धर्मों) का एक दूसरे के धर्म का श्रवण, पारस्परिक भावों का एक दूसरे से आदान-प्रदान (विनिमय) आदि सबने मिल कर यथेष्ट रूप से सहायता पहुँचाई। अशोक-कालीन समाज कई सम्प्रदायों

में बँटा था। इनके विभिन्न सम्प्रदायों को परस्पर भाव-विनिमय करना होता था—जैसा कि १२वें शिलालेख के धर्मानुशासन से मालूम होता है। सम्राट् कहते हैं, "समवायो एव साधु किति अंञ-मञ'स धम्म स्रुणरु"—"आपस का मेल-जोल अच्छा है, जिससे लोग एक दूसरे के धर्म को सुनें।" वस्तुतः अशोक के समय विद्या का यथेष्ट प्रचार था तथा सम्पूर्ण जनता शिक्षा के प्रभाव से सुसंस्कृत हो चली थी। इस बात के अन्य प्रमाण शिलालेख हैं। यदि जनपद के लोगों को भाषा का ज्ञान न होता सम्राट् इस प्रकार आदेश न देते कि "ऐसा (धर्म-लेख) एक लेख 'विहार' में स्थापित किया जाय और दूसरा वैसा ही लेख उपासकों (साधारण जनता) के लिये लिखा जाय। जिससे हरएक व्रत (उपवास) के दिन जनता इस लेख को पढ़ने के लिये एकत्र हो सके।" (गौण-स्तम्भ-लेख, सारनाथ)। इस प्रकार लेखों को जनता के लिये स्थापित करवाना, जिससे जनपद के लोग एकत्र होकर उन धर्म-लेखों को पढ़ें, तथा उन धर्म के सिद्धान्तों पर आचरण कर सकें, इस बात की पुष्टि करता है कि सम्राट् के समय जनता में शिक्षा का यथेष्ट रूप से प्रचार था।

विद्या की उन्नति में प्रमुख कार्य विहार, सङ्घ आदि ने किया था। श्री राधाकुमुद मुकर्जी कहते हैं, "विहार तथा मठों ने जिस सरलता और कुशलता के साथ शिक्षा को उन्नति दी, उसका साक्षात्कार आज अवनत अवस्था में पड़े हुए ब्रह्मा के मठों (Monasteries) की शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति को देख कर किया जा सकता है। ब्रह्मा के इन मठों में प्रति १००० हज़ार मनुष्यों में ३७८ पुरुष और ४५ स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी हैं। जब कि १९०१ की गणनानुसार संयुक्त-प्रांत की—जिसमें कई ऐतिहासिक राजनगरियाँ और भीमकाय नगर बसे हैं—शिक्षा की दर प्रति १००० में ३७ पुरुषों और दो प्रति हज़ार स्त्रियों की है।"[१] इसीको लक्ष्य कर श्री वि० स्मिथ कहते हैं,

१ R. K. Mookerji's Asoka, pp. 102.

"अशोक के समय स्थूल रूप से शिक्षा की प्रतिशत दर आज के ब्रिटिश राज्य के कई प्रांतों से बढ़कर थी।" (Ibid)

गृहस्थ-जीवन—अशोक-कालीन गृहस्थ-जीवन या पारिवारिक जीवन शुद्ध, निर्मल और विशाल था। स्नेह, सद्व्यवहार और कल्याण-कामना, ये तीन ही पारिवारिक जीवन के आधार स्तम्भ थे। कुटुम्ब ही 'धर्म' के प्रमुख शिक्षालय थे। गृहस्थ-जीवन की साधुता और स्नेह,—'धर्म का प्रथम तथा प्रमुख लक्षण था'। परिवार के लोगों को माता-पिता की सेवा करने, मित्र, परिचितों के प्रति उदारहस्त होने, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों, श्रमणों की सेवा और प्राणियों का संमय आदि की शिक्षा घर में ही दी जाती थी। (गिरनार-शिलालेख तीसरा)। लोग अपने सम्बन्धियों, मित्रों और परिचितों के प्रति ही अच्छा व्यवहार न करते थे, अपितु पशुओं, दास और नौकरों आदि का भी उतना ही ध्यान रखते थे।

ब्राह्मण तथा श्रमण साधु और परिव्राजक आदि (जो सत्य की खोज में सब कुछ त्याग कर धर्मानुरत थे) का भार भी गृहस्थों को ही वहन करना पड़ता था। गृहस्थी वर्ग इन साधु-सन्तों का आदर करते थे। इन साधुओं की संख्या कोई कम न थी। ये लोग विहार, मठ, संघ तथा गुफ़ाओं और जंगलों में रहा करते थे, सम्राट् ने स्वयं आजीविक साधुओं के लिये गुफ़ाओं (निगरोध—खानाटित गुफ़ायें) का निर्माण करवाया था। बहुत से साधु सामाजिक-कार्यों में भी (धर्म मान कर) भाग लिया करते थे। अशोक के मिशन-कार्य अथवा धर्म-प्रचार में कई साधुओं ने अमूल्य सहायता प्रदान की।

अशोक के समय बहु-विवाह या बहुभार्यत्व की प्रथा भी पाई जाती है। शिलालेख से हमें अशोक की दो रानियों का उल्लेख मिलता है। तथा पाली-साहित्य के अनुसार, तिष्यरक्षिता, और देवी (महेन्द्र और संघमित्रा की माँ) और प्रधान रानी संघिमित्रा का उल्लेख मिलता है। बहुविवाह के अलावा बाल-विवाह भी हुआ करते थे।

अशोक का पहला विवाह अठारह वर्ष की उम्र में हुआ था। सम्राट् की पुत्री संघमित्रा १४वें वर्ष ब्याही गई थी तथा २०वें वर्ष वह भिक्षुणी हो चली (महावंश)।

विशिष्ट वर्ग के अतिरिक्त बहु-विवाह की प्रथा साधारण लोगों में भी प्रचलित थी या नहीं, इसका निर्णय करना कठिन है। किन्तु आजकल की अवस्था को देख कर यह अनुमान करना सरल है कि बाल-विवाह साधारण जनता में भी हुआ करते थे।

आठवाँ प्रकरण

अशोक-कालीन कला और वास्तु-निर्माण-कौशल तथा कृतियाँ

मानव कलात्मक कृतियाँ ही मानव-सभ्यता के दर्पण हैं— जिन पर देखने से स्पष्टतः प्रकाशित होता है कि उस समय का समाज कितना उन्नत था। कला मानव हृदय की कोमल, आकर्षणशील, सूक्ष्मतः एवं स्निग्ध भावनाओं की सर्व सुन्दर प्रतिमूर्ति है। किसी देश की कला उसकी सभ्यता का आदर्श है। जो देश अथवा जाति जितनी ही उन्नतिशील होगी वैसी ही उन्नत उसकी कला भी होगी। जीवन की सूक्ष्मतम अनुभूतियों, हृदय की स्निग्धमयी भावनाओं और मस्तिष्क के उच्चतम विचारों का एक विवेचनात्मक प्रदर्शन ही कला है, अतः कला की उत्कृष्टता समाज की उत्कृष्टता है, मानव-हृदय की चारुता है, मस्तक की विशालता है और सुन्दर सौंदर्यमयी अनुभूतियों की सौजन्यता है।

अतः इस प्रकरण में हम अशोक-कालीन कला पर कुछ कहेंगे। अशोक कला का एक उच्चतम प्रेमी था। प्राचीन गाथाओं से मालूम होता है कि अशोक ने असंख्य स्तूपों, विहारों एवम् कई नगरों तथा प्रासादों का निर्माण करवाया था। दिव्यावदान में अशोक आचार्य उपगुप्त से प्रतिज्ञा करता है, "भगवान् बुद्ध के सब निवास-स्थानों की मैं यात्रा करूँगा और भावी सन्तान के हेतु वहाँ पर स्मारकों का निर्माण कराऊँगा।" (२७वाँ प्रकरण)। अतः दिव्यादान कहता है कि अशोक ने बड़ी स्फूर्ति के साथ चौरासी हज़ार स्तूपों को बनवाया था। इसी प्रकार महावंश के अनुसार अशोक ने चौरासी हज़ार विहार तीन

वर्ष के भीतर ही बनवा दिये थे। इसी तरह ह्वेन-सांग भी अशोक के बनाये हुए चौरासी हज़ार विहारों का उल्लेख करता है। इन वृत्तों से मालूम होता है कि अशोक स्तूपों आदि का एक महान् निर्माणकर्त्ता था।

गाथाओं से मालूम होता है कि अशोक ने दो नगरों का निर्माण करवाया था—श्रीनगर और देवपट्टन। श्रीनगर काश्मीर की राजनगरी थी। यहाँ पर अशोक ने, कहा जाता है, ५०० विहार बनवाये थे। ह्वेनसांग लिखता है, "अशोक ने सम्पूर्ण काश्मीर को बौद्ध-विहार के हित दान दिया था"—(Watters, p. 267)। साथ ही यह चीनी यात्री यह भी उल्लेख करता है कि अशोक के बनाये चार स्तूपों तथा एक सौ विहारों को उसने भी स्वयं देखा था।

देवपट्टन—यह नगर सम्राट् ने नैपाल में बनवाया था। कहते हैं यहाँ अशोक स्वयं अपनी पुत्री चारुमती समेत यात्रा के लिये आये थे। इस यात्रा में चारुमती का पति भी साथ था। चारुमती के पति देवपाल ने यहीं बसने की इच्छा की, अतः उसने यहाँ पर भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिए मठ बनवाया। अशोक ने भी अपनी यात्रा की स्मृति के उपलक्ष में यहाँ पर देवपट्टन नगर को बसवाया तथा साथ ही चार और स्तूपों को भी बनवाया था। (देखिए, Cambridge History, p. 501) नगर-निर्माणक से अधिक अशोक स्तूपों और विहारों का निर्माता माना जाता है। महावंश लिखता है कि अशोक ने एक समय अपने आचार्य मोग्गालीपुत्त तिस्स से यह प्रश्न किया, "भगवान् का धर्म कितना महान् है?" इस पर मोग्गालीपुत्त ने उत्तर दिया, "भगवान् के धर्म के ८४००० हज़ार खंड हैं।" इस पर अशोक ने कहा, "मैं प्रत्येक के अर्थ एक-एक विहार अर्पण करूँगा।" तत्पश्चात् अशोक ने अपने अधीनस्थ सब राजाओं को विहार बनवाने का आदेश दिया और स्वयं भी उसने पाटलिपुत्र में "अशोकाराम" विहार बनवाया। फाई-हान ने इस गाथा को दूसरे ढङ्ग से लिखा है कि अशोक बुद्ध के अवशेषों पर बनाये गये आठ स्तूपों को तोड़ना

चाहता था और उनकी जगह चौरासी हज़ार स्तूपों को बनवाना चाहता था (Leggs, p. 89) । किन्तु हमें इन चौरासी हजार स्तूपों के प्रति कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है । पुरातत्त्व-विभाग अशोक के बहुत थोड़े ही स्तूपों तथा विहारों को खोज सका है । अशोक के शिलालेख से हमें केवल निगलिव के कोनाकामन स्तूप तथा आजीविकों के लिये बनाई गई तीन गुफ़ाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु पुरातत्त्व विभाग की खोज से इतना और पता लगा है कि साँची-स्तूप, बरहुत-स्तूप (इस पर अशोक-लिपि में लेख खुदे हैं) भी अशोक के ही बनवाये हुए थे । बरहुत के स्तूप का अब पता नहीं है ।

७वीं शताब्दी में ह्वेनसांग भारत आया था । इस चीनी यात्री ने लगभग अशोक के ८० अस्सी स्तूपों और विहारों का काश्मीर के ५०० पाँच सौ विहारों सहित वर्णन किया है । ह्वेनसांग के विवरण के अनुसार निम्न अशोक के स्तूपों का उल्लेख दिया गया है—(१) कपिसा—(काफरिस्तान)–यहाँ पर अशोक ने एक सौ फीट ऊँचा पीलुसार-स्तूप बनवाया था । (२) नागर (जलालाबाद), (३) उदयान—(यहाँ पर भगवान् बुद्ध ने राजा शिवि के रूप में कबूतर को छुड़ाने के लिये बाज को अपना मांस दिया था)। (४) तक्षशिला—(यहाँ पर बुद्ध ने अपने सिर को दान दिया था । यहीं सौतेली माँ के कुचक्र के कारण कुनाल की आँखें भी निकाली गई थीं) । (५) सिंहपुर—(यहाँ से ४०-५० ली दक्षिण-पूर्व में २०० फीट ऊँचा पत्थर का स्तूप था—इस स्थान पर बुद्ध भगवान् ने एक भूखी बाघिन को अपना शरीर खिलाया था) । (६) उरस, (७) काश्मीर—यहाँ पर चार स्तूप थे । (८) थानेश्वर—यहाँ पर ३०० फीट ऊँचा स्तूप था। (९) श्रुयन, (१०) गोविसन—(जहाँ बुद्ध ने धर्म का प्रचार किया) । (११) हयमुख—यहाँ पर एक स्तूप था । (१२) प्रयाग—(यहाँ पर सौ फ़ीट ऊँचा स्तूप था । इस जगह पर भगवान् बुद्ध ने दूसरे शास्त्रार्थ करने वालों को हार दी थी ।) (१३) कौशाम्बी—(यहाँ बुद्ध ने धर्म-प्रचार किया था)। (१४)

कपिलवस्तु—इसके उत्तर में एक स्तूप था, जिसके सामने शिला-स्तम्भ गड़ा था। इस स्तम्भ के सिर पर शेर की मूर्ति बनी थी और लगभग २० फीट ऊँचा था। (१५) श्रावस्ती—यहाँ पर ७० फीट ऊँचा स्तम्भ था। (१६) रामग्राम—(इस स्थान पर बुद्ध ने अपने बालों को कटवाया था और अपने रथवान छंदक को वापिस लौटाने के लिये थोड़ी देर रुका था।) । (१७) कुशीनगर—यहाँ पर २०० फीट ऊँचा स्तूप था (इसी स्थान पर आठ राजाओं के मध्य भगवान् बुद्ध के अवशेषों का बँटवारा हुआ था।)। (१८) सारनाथ, (१६) गाजीपुर, (२०) महाशाल—यहाँ पर कुम्भ-स्तूप था । (२१) वैसाली—यहाँ पर ५०, ६० फीट ऊँचा स्तूप था। (२२) वज्जी (यहाँ पर भगवान् बुद्ध ने धर्म का प्रचार किया था) । (२३) गया, (२४) बौद्ध-गया—(इस स्थल पर एक घास काटने वाले ने भगवान् बुद्ध को बैठने के लिये घास दिया था)। (२५) पाटलिपुत्र, (२६) राजगृह, (२७) ताम्रलिप्ति—नगर के एक ओर स्तूप था। (२८) कर्नसुवर्न—यहाँ पर बहुत से स्तूप थे । (२६) उड़ीसा—१० स्तूपों से भी अधिक स्तूप यहाँ पर थे। (३०) दक्षिण कोशल, (३१) चोल प्रदेश, (३२) द्रविड़ और काँची-प्रदेश—(यहाँ पर बहुत से स्तूप थे) । (३३) वल्लभी—यहाँ पर बहुत से स्तूप थे। (३४) महाराष्ट्र—यहाँ पर पाँच स्तूप थे। (३५) मुलतान के पास चार स्तूप थे। (३६) अफन्तु—(सिन्ध के पास)। (३७) सिन्ध में बहुत से स्तूप थे। (३८) चीनपटी—यहाँ २०० फीट ऊँचा स्तूप था । (३६) मथुरा, (४०) पाटलिपुत्र में अशोकाराम या कुक्कुटाराम विहार था।

अत: ह्वेनसांग के विवरण से स्पष्ट है कि अशोक बहुत से स्तूपों का तथा विहारों का निर्माता था। विहारों और स्तूपों के अतिरिक्त सम्राट् प्रस्तर-स्तम्भों के भी एक महान् निर्माणकर्त्ता थे। फाय-हान ने केवल ६ स्तम्भों का उल्लेख किया है। इनमें से दो स्तम्भ श्रावस्ती

में जेतवन विहार के दर्वाजे के दोनों तरफ थे। इन स्तम्भों के सिरे पर चक्र तथा बैल बने थे। तीसरा स्तम्भ संकाश्य में था। यह ५० हाथ (cubits) ऊँचा था, इसके सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी। इसके चार भागों पर भगवान् बुद्ध की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। पाँचवाँ स्तम्भ पाटलिपुत्र में था। छठा स्तम्भ भी पाटलिपुत्र के पास ही था। यह स्तम्भ ५० फीट ऊँचा था तथा सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी। किन्तु ह्वेनसांग ६ स्तम्भों की जगह १५ स्तम्भों का उल्लेख करता है। ह्वेनसांग ने निम्न स्थलों पर अशोक के स्तम्भों को देखा था —(१) सनकस्सा—यह स्तम्भ चमकीला पाटल रंग का था तथा सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी (इस शेर को फाय-हान ने भी देखा था) (Watters, 1, 334.) (२, ३) श्रावस्ती के जेतवन विहार में दो स्तम्भ थे—इनकी लम्बाई ७०-७० फीट की थी। (४) कपिलवस्तु के पास भी एक स्तम्भ था। यह स्तम्भ ३० फीट ऊँचा था और सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी। (५) कपिलवस्तु में एक और स्तम्भ था। यह स्तम्भ २० फीट ऊँचा था। यह स्तम्भ शायद निगलिव के पास पाया गया स्तम्भ हो सकता है। (६) लुम्बिनी-बन—(वर्तमान रुमिनन्दी जो नैपाल में है) यहाँ पर भी एक स्तम्भ था। इस स्तम्भ के सिरे पर अश्व की मूर्ति बनी थी। ह्वेनसांग कहता है कि वज्र गिरने के कारण यह बीच में से टूटा हुआ था। (७) कुशीनार—इस स्तम्भ पर बुद्ध के निधन का उल्लेख दिया गया है। इस स्तम्भ का अभी कुछ पता नहीं चला है। (८) यहीं पर एक और स्तम्भ भी मिला है। (६) सारनाथ के रास्ते पर भी एक स्तम्भ था—यह स्तम्भ चिकने हरे पत्थर का बना था। यह स्तम्भ निर्मल और दर्पण की तरह चमकीला था, जिसमें भगवान् बुद्ध का प्रतिबिम्ब निरन्तर दिखलाई पड़ता था। इस स्तम्भ को वि० स्मिथ ने बनार की लाट भैरो से मिलाया है। यह लाट १६०८ वाले दंगे (riot) में तोड़ दी गई। (१०) सारनाथ—यहाँ पर ७० फीट ऊँचा एक

स्तम्भ था। यह स्तम्भ बहुत कोमल और चमकीला था। यह स्तम्भ वहाँ पर गाड़ा गया, जहाँ पर ज्ञान अथवा बोध पाने के अनन्तर भगवान् बुद्ध ने पहले-पहल धर्म की शिक्षा दी थी। सारनाथ में निःसंदेह एक स्तम्भ पाया गया है, जिसके सिरे पर चार शेर बने थे, किन्तु यह स्तम्भ ७० फ़ीट के अतिरिक्त केवल ३० फ़ीट ऊँचा था। (११) महाशाल—यहाँ पर एक स्तम्भ, स्तूप के सामने पर मिला है। इस स्तम्भ पर एक लेख खुदा था कि किस प्रकार भगवान् बुद्ध ने राक्षसों को शान्त कर उन्हें धर्म में परिवर्तित किया। (१२) वैशाली —यहाँ पर ५० फ़ीट ऊँचा एक स्तम्भ था। इस स्तम्भ को कनिंघम ने बखुरा गाँव के पास के अशोक स्तम्भ से मिलाया है। (१३) पाटलिपुत्र—यहाँ पर ३० फ़ीट ऊँचा स्तम्भ था। इस स्तम्भ पर एक मिटा हुआ लेख भी खुदा था। इस स्तम्भ के कुछ हिस्से मिले हैं। (१४) एक और स्तम्भ पाटलिपुत्र में मिला था, यह स्तम्भ अशोक के "नरक" के स्थल को बतलाता है। (१५) राजगृह—यहाँ पर भी एक स्तम्भ था। यह स्तम्भ ५० फ़ीट ऊँचा था और सिरे पर हाथी की मूर्ति बनी थी। इस स्तम्भ पर एक लेख भी खुदा था।

राजगृह को आते हुए रास्ते में ह्वेनसांग को दो और स्तम्भ मिले थे। इन दो स्तम्भों में से एक उस स्थल पर था, जहाँ पर बुद्ध-कश्यप समाधि लगा कर बैठे थे और दूसरा स्तम्भ एक "तिर्थिका" से संबंधित था (Watters, ii, 141)। इन स्तम्भों को ह्वेनसांग ने अशोक के स्तम्भों के रूप में नहीं लिया है।

अब तक अशोक के स्तम्भ तोपरा, मेरठ (तोपरा और मेरठ के दोनों स्तम्भों को सुलतान फिरोज तुगलक सन् १३५६ ई० के लगभग दिल्ली हटा ले गया था)। इलाहाबाद (यह स्तम्भ मूलतः कौशाम्बी में था जिसे शायद अकबर इलाहाबाद हटा ले गया), लौरिया-अरराज, लौरिया नन्दनगढ़—(इन स्तम्भों के सिरे पर शेर की मूर्ति है), रामपुरवा (इसके सिरे पर उल्टा कमल "bell-capital" और शेर की

मूर्ति है), साँची (इसके सिरे पर चार शेर हैं), सारनाथ (इसके सिरे पर चार शेर हैं) । रुमिनिन्दी—(इसके सिरे पर उल्टा-कमल या बेल-कैपटिल (bell-capital) हैं), और निगलिव में पाये गये हैं । किंतु यह बात निश्चयात्मक रूप से नहीं कही जा सकती कि ये सब स्तम्भ सम्राट् के अपने ही बनाये हुए थे। सम्राट् स्वयं कहते हैं, "ये लेख चट्टानों पर खोदे जायँ । यहाँ और दूरस्थ जगहों में जहाँ शिला-स्तम्भ हों, इन लेखों को शिला-स्तम्भों पर लिखो ।" इसी तरह सातवें स्तम्भ-लेख में सम्राट् फिर कहते हैं, "देवताओं का प्रिय कहता है कि यह धर्म-लिपि जहाँ कहीं शिला-स्तम्भ तथा प्रस्तर हों, वहाँ लिखवाई जाय, जिससे वह चिरंजीवी हो ।" अतः स्पष्ट है कि कुछ स्तम्भ अशोक के पहले से ही स्थित थे। तथा साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि अशोक ने नित्य इन सभी स्तम्भों से काम न लिया। अत: रामपुरवा के दो स्तम्भों में से एक स्तम्भ पर कोई लेख ही नहीं खुदा हुआ है । स्तम्भों की भाँति स्तूप भी अशोक के पहले से विद्यमान थे, क्योंकि निगलिव-स्तम्भ-लेख में सम्राट् ने कहा है कि उन्होंने बुद्ध-कोनाकामन के स्तूप को द्विगुणित किया था।

अशोक-कालीन कृतियाँ, उनकी बनावट और आकार की विशेषतायें— साँची-स्तूप यथेष्ट बड़ा था, किन्तु अब वह एक गोलाकार खंड मात्र रह गया है। पूर्णावस्था में इसकी पूरी ऊँचाई ७७½ फीट रही होगी, आधार के पास इसका व्यास ११० फ़ीट के है । यह स्तूप ईंटों का बना है । साँची स्तूप के दक्षिणी द्वार पर एक शिला-स्तम्भ के कुछ भाग मिले हैं।

बरहुत—यह जगह इलाहाबाद से ६५ मील की दूरी पर है । सब से प्रथम कनिंघम ने सन् १८७३ ई० पू० इसका अन्वेषण किया था। यह बरहुत स्तूप भी ईंटों से बना हुआ था । इस स्तूप का व्यास ६८ फ़ीट था । स्तूप के चारों ओर से एक पाषाण-वेष्ठिनी थी । यह पाषाण वेष्ठिनी लगभग ७ फ़ीट ऊँची थी, जिस पर बहुत-सी बौद्ध-गाथाएँ

चित्रित की हुई थीं । मौर्य्य चित्रकला के ये अंकित चित्र सर्वोत्तम उदाहरण हैं । यह स्तूप अब प्राय: नष्ट हो गया है । इसकी पाषाण-वेष्ठिनी का कुछ भाग कलकत्ता म्यूजियम में है ।

श्री मार्शल तथा वि० स्मिथ का कहना है कि साँची स्तूप अशोक के समय का नहीं है—वह लगभग अशोक के १०० वर्ष पश्चात् बनाया गया होगा, क्योंकि अशोक-कालीन ईंटों और इस स्तूप की ईंटों में अन्तर है । किन्तु ईंटों के द्वारा अथवा ईंटों के आकार से शिल्प के काल का ठीक-ठीक पता नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि पहले की निर्मित ईंटों और पीछे की निर्मित ईंटों में तथा मौर्य्य-कालीन ईंटों में ही परस्पर अन्तर देखा गया है—मौर्य्य-काल की बनी हुई भीता की ईंटों का नाप है—$१९\frac{१}{२} \times १२\frac{१}{४} \times २\frac{१}{४}$ इंच और $१७\frac{१}{२} \times ११\frac{३}{४}$ $२\frac{३}{४}$ मथुरा की ईंटों का नाप है—$१३\frac{१}{२} \times १२\frac{१}{४} \times ३$ इंच तथा कटरा की ईंटें "$११ \times ८\frac{१}{२} \times २\frac{१}{३}$" इस नाप की हैं । सारनाथ अशोक-स्तम्भ के आधार पर की ईंटों का नाप है—$१६\frac{३}{४} \times ११ \times$ $२\frac{३}{४}$ इञ्च किंतु अन्य भागों की ईंटें इस नाप की हैं—$१५\frac{१}{२} \times ६\frac{१}{२} \times$ $२\frac{१}{२}$ और $८ \times ६\frac{१}{२} \times २\frac{१}{२}$, आधार पर की ईंटें सबमें बड़ी हैं । पीछे के अर्थात् बाद के बने हुए भीतर गाँव के, मन्दिर की ईंटें क़रीब मौर्य्य-कालीन ईंटों के बराबर बड़ी हैं । इन ईंटों की लम्बाई $१८ \times ९ \times ३$ इञ्च है । अतः सर्वशः प्रकाशित है कि ईंटों के नाप से हम शिल्प-काल का समय ठीक अथवा निश्चयात्मक रूप से निर्धारित नहीं कर सकते ।

मौर्य्य-कालीन गुहा-भवन—अशोक-कालीन सात गुहा-भवन प्राप्त हुए है । ये गुहा-भवन गया के पास बराबर और नागार्जुन पहाड़ियों पर मिले हैं । ये गुहा-भवन पहाड़ियों को काट कर बनाये जाते थे । इन सात गुहा-भवनों में से तीन अशोक के नाती (पौत्र) दशरथ के बनाये हैं । इन गुहा-भवनों में से सबसे बड़ा गुहा-भवन गोपिका-गुहा है । इस गुहा के दोनों किनारे अर्द्धगोलाकार हैं । इसकी लम्बाई

४० फ़ीट ५ इञ्च तथा चौड़ाई १७ फ़ीट २ इञ्च है; इसकी ऊँचाई १० फ़ीट ६ इञ्च है। बराबर पहाड़ी पर की तीन गुफ़ायें अशोक की हैं जिन पर उनका लेख खुदा है। प्रथम गुहा का नाम कर्ण-चौपर गुहा है। इस गुहा-भवन की लम्बाई ३३ फीट ६ इञ्च, चौड़ाई १४ फ़ीट और ऊँचाई १० फ़ीट ९ इञ्च है। दूसरी गुहा—सुदामा गुहा है। इस गुहा-भवन के बाहरी और भीतरी दो कोष्ठ हैं—भीतरी कोष्ठ गोलाकार है तथा छत अर्द्धगोलाकार है। बाहरी कोष्ठ दीर्घाकार है, जिसकी लम्बाई ३२ फ़ीट ९ इञ्च, चौड़ाई १९ फ़ीट ६ इञ्च, और ऊंचाई १२ फ़ीट २ इञ्च की है। तीसरी लोमस् ऋषि गुहा है। इस गुफा पर अशोक का कोई लेख नहीं है, अपितु इस पर मौखरी सम्राट् अवन्तीवर्मन का लेख खुदा है। चौथी गुहा—विश्वमित्र गुहा है, इस गुहा के भी दो कोष्ठ हैं जो अच्छी प्रकार पूरे नहीं हो सके हैं। बाह्य कोष्ठ, कोष्ठ के प्रति एक वरंडा के सादृश्य है।

इन सब गुफ़ाओं अथवा गुहा-भवनों पर मौर्य्य शिल्पकला की पूर्ण विशेषतायें अंकित हैं। इन गुहा-भवनों की दिवालों तथा छतों पर चमकीली स्निग्धता (polish) की कांति है। इनमें से अभिलिखित गुफायें अथवा गुहा-भवन आजीविकों को प्रदान की हुई हैं। ह्वेनसांग के अनुसार अशोक ने कई गुहा-भवन पाटलिपुत्र में अपने आचार्य 'उपगुप्त' को भेंट किये थे।[1] इसी तरह महावंश आदि गाथाओं के अनुसार सम्राट् अशोक ने अपने भाई महेन्द्र तथा अन्य "अरहतों" के लिये भी गुहा-भवन का निर्माण करवाया था।

अशोक कालीन वास्तु-निर्माण-कौशल को देखने से ज्ञात होता है कि इस काल में कला कितनी विशालता को पहुँच चुकी थी। इस काल की कला का निरीक्षण करने से समाज की उत्कृष्टता प्रत्यक्ष प्रतिबिंबित होती है। अशोक की कला आज मानव शक्ति के बाहर

[1] Watters, ii 95.

की वस्तु है। अशोक की कला के सर्वोत्कृष्ट प्रतिरूप उनके पूर्वनिर्दिष्ट स्तूप, शिला-स्तम्भ और गुहा-भवन हैं जिन पर सम्राट् की धर्म-लिपियाँ अङ्कित हैं। फरगुसन (Fargusson) लिखता है—"The noblest and most perfect examples of it are the works of the Emperor Asoka." अर्थात् कला के रूप में सर्वसुन्दर और पूर्ण उदाहरण सम्राट् अशोक की कृतियाँ हैं (Cambridge History, Volume I, p. 618)

किन्तु ललितकला के क्षेत्र में मौर्य्यों की मुख्यतः विजय स्तम्भों के निर्माण-कौशल में है। ये शिला-स्तम्भ एकाकी स्थूलाकार या पिंडाकार हैं। इन स्तम्भों की लम्बाई ४० फीट से लेकर ५० फीट तक है, और सामान्यतः इनका व्यास २ फीट ७ इञ्च से लेकर ४ फीट १½ इञ्च तक है। तथा ऊपरी भाग का व्यास १ फीट ६ इञ्च से लेकर २ फीट ११ इञ्च तक है। ४ फीट वर्गाकार और ५० फीट लम्बा पाषाण स्तम्भ आजकल के वैज्ञानिकों को भी हैरान कर देता है। २०वीं शताब्दी की विज्ञान-विद्या को भी इस कला के समक्ष मस्तक झुकाना पड़ता है। स्तम्भ का ऊपरी भाग घंटाकार है। सर्वसुन्दर स्तम्भ इस समय लौरिया-नन्दनगढ़ का है। इस स्तम्भ के सिरे पर शेर की मूर्ति बनी है। इसका अबेकस (abacus) सुन्दर हंसों से चित्रित है। हंस खाना चुगते हुए दिखाये गये हैं, ये बुद्ध के शिष्यों के लाक्षणिक हैं। रामपुरवा और कोलुहा (बखर) के स्तम्भों पर केवल सिंह की मूर्ति है। किन्तु साँची तथा सारनाथ स्तम्भ पर आगे पीछे चार सिंहों की मूर्ति बनी है। सारनाथ के सिरे पर बनी हुई सिंहों की चार मूर्तियाँ बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविकता के साथ बनी हैं।[1] इस स्वाभाविकता को चित्रित करने में ही कलाकार की महान् कुशलता है—उसने अपना आदर्श इन सिंहों के निर्माण में पूर्णतया प्रकृति को लिया है। सिंहों के

[1] The capital is one of the most magnificent specimen of art. (Catalogue Sarnath Museum, p. 293).

निर्माण में, उनकी पुष्ट नसों को अंकित करने तथा प्राकृतिक शौर्य प्रदर्शित करने में कलाकार की हस्त-कुशलता कला की सीमा को भी पार कर गई है। इन सिंहों की आँखें मूलतः मणियुक्त थीं, जैसी कि बहुत से विद्वानों की धारणा है। सिंह की मूर्तियों के नीचे चार चक्र बने हैं, इन चक्रों के मध्य, हस्ती, अश्व, बैल तथा अश्व के चित्र अंकित हैं। नीचे का भाग विशाल घंटाकार है। यह स्तम्भ बलुए पत्थर का बना है। सन्किस के स्तम्भ के सिरे पर हस्ती की मूर्ति बनी है। रामपुरवा स्तंभ के सिरे पर बैल की मूर्ति है तथा लोरिया-अरराज स्तम्भ के सिरे पर गरुड़ की मूर्ति है (वि० स्मिथ)। किंतु श्री राधाकुमुद मुकर्जी इस मूर्ति को गरुड़ के प्रति इसे अकेले सिंह की मूर्ति बतलाते हैं।

फायहान और ह्वेनसांग के अनुसार सन्किस, कपिलवस्तु के दो स्तम्भों महाशाल और वैसाली तथा पाटलिपुत्र के स्तम्भों के सिरे पर सिंह की मूर्तियाँ थीं, और अवस्ती-स्तम्भ के सिरे पर बैल की मूर्ति, लुम्बिनी स्तम्भ के सिरे पर अश्व की मूर्ति और राजगृह-स्तम्भ के सिरे पर हस्ती की मूर्ति बनी थी। अतः प्रकाशित है कि अशोक-कालीन स्तम्भों के सिरे पर बहुधा, सिंह, हंस, हस्ती, बैल, गरुड़, चक्र और अश्व की प्रतिमूर्तियाँ अंकित हुआ करती थीं।

इन स्तम्भों की एक और प्रधान विशेषता उनके एबेकस (abacus) सजावट है। एबेकस पर कमल, हनीसकल (Honey-suckle) चक्र, पशु आदि क्रम से अंकित किये जाते थे। पूर्वनिर्दिष्ट स्तम्भों की निर्माण कौशलता का निरीक्षण कर श्री मार्शल कहते हैं—"These sculptures are master-pieces in point of both style and technique—the finest earning, indeed, that India has yet produced and un-surpassed, I venture to think by anything of their kind in the ancient world." (A. S. R. 1904-5, p. 36)—अर्थात् शिल्पकला-विज्ञान और

कलात्मक शैली के रूप में—(ये अशोक कृतियाँ) सर्वसुन्दर शिल्प और चित्रकला के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, जो भारत ने अब तक प्रसूत की तथा जिनका पार पाना कठिन है।

तीसरी विशेषता स्तम्भों पर चमकीली कांतियुक्त पालिश की स्निग्धता देने में है। यह पालिश करने की कुशलता मौर्य्य कलाकारों की उत्कृष्टता का सर्वसुन्दर प्रमाण है। वि० स्मिथ की सम्मति में इस काल के पाषाण-कलाकारों (छेदकों) की हस्तकुशलता पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी। उनकी पूर्णता का यही सर्वोच्च प्रमाण है कि उन्होंने कला की ये वस्तुएँ निर्माण कर रखी हैं, जिनका निर्माण करना आज २०वीं सदी की शक्ति के बाहर है। निःसन्देह ४० और ५० फ़ीट के भीमकाय पाषाण-स्तम्भों को परम लालित्य, सुरुचिपूर्ण और सूक्ष्मता के साथ मंडित करना कला की पराकाष्ठा का उज्ज्वल दृष्टांत है, जिसे देख कर आज का युग भी दाँतों तले उङ्गली दबा लेता है। इस पालिश की उज्ज्वलता के कारण पहले बहुत लोगों का यह विचार था कि ये स्तम्भ धातु के बने हैं। १७वीं सदी के लगभग टौम कैरट (Tom Coyrate) ने दिल्ली स्तम्भ (अशोक-स्तम्भ) को देख कर उसे पीतल का बना बतलाया था, (V. Smith's Oxford History, p. 113) स्तम्भों पर पूर्णतया यही स्निग्ध पालिश है, किन्तु भूमि में गड़े हुए स्तम्भ के भाग मंडित नहीं किये गये हैं।

संक्षेप में कलाकारों की इस निपुण कुशलता और विलक्षणता को अवलोकन कर आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। उनका हस्त-कौशल सर्वोत्कृष्ट था एवं उनमें पाषण को चारुता और सौजन्यता समेत ठीक ठीक काटने, छेदने और मंडित (polish) करने की दैवी शक्ति विद्यमान थी।

अशोक-स्तम्भों के नीचले भाग पर, हम कह चुके हैं कि पालिश नहीं की गई है, अतः दिली-तोपरा स्तम्भ पर केवल ३५ फीट तक पालिश मिलती है, जब कि सम्पूर्ण स्तम्भ मिला कर ४२ फ़ीट ७ इञ्च

लम्बा है। रामपुरवा का स्तम्भ लगभग ८ फीट ९ इञ्च के मण्डित नहीं है, जब कि पूरा स्तम्भ ४४ फीट ९½ इञ्च है। इसी तरह लौरिया नन्दनगढ़ स्तम्भ भूमि के नीचे ८ फ़ीट तक मंडित नहीं है—यह नीचला आठ फ़ीट का भाग कठोर है, जिस पर तक्षणी (chisel) के चिह्न अंकित हैं। यह स्तम्भ ३९ फ़ीट ७½ इञ्च ऊपर की ओर लम्बा है और १० फ़ीट जमीन के अन्दर गड़ा है। इस स्तम्भ के खोदने पर एक चार इञ्च की, मयूर-प्रतिमा पाई गई है। इससे मालूम होता है कि यह मौर्य्यों (मौर्य्य—मयूर शब्द से निकला है) का अपना राजकीय चिह्न था जैसा "गरुड़" गुप्तों का राज-चिह्न रहा है। (देखिये—A. S. R. xxii 46, 47)।

अशोक के स्तम्भ एकाकार पाषाण हैं। ये स्तम्भ चुनार पत्थर के बने हैं। अनुमानतः चुनार में ही ये शिला-स्तम्भ काट कर बनाये गये थे, तथा वहीं से इधर-उधर भेजे गये। सामान्यतः ये स्तम्भ ५० फीट ऊँचे हैं जिनका व्यास भी सामान्यतः ५० इञ्च का है। इन स्तम्भों का वजन कनिंघम ने लगभग ५० टन बतलाया है। स्तम्भों की इन भीमकाय लम्बाई-चौड़ाई और वजन को मालूम कर आश्चर्य ही नहीं, अपितु हमारे सामने यह समस्या खड़ी होती है कि ये भीम-काय स्तम्भ उस काल में किस विधि से एक जगह से दूसरी जगह हटाये या ले जाये जाते होंगे। निःसंदेह उस काल के इञ्जीनियर दैवी शक्ति वाले थे। उस प्राचीनतम विज्ञान-शून्य काल का इञ्जीनियरिङ्ग विद्या की वर्तमान वैज्ञानिक इंजीनियरिङ्ग विद्या क़तई सामना नहीं कर सकती। अशोक के कलाकारों की हस्तकौशलता श्लाघनीय है; उसके इञ्जीनियरों का स्तम्भों के गढ़ने तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का उपक्रम और विधि योजना अद्वितीय एवं अभिनन्दनीय है। अशोक के इञ्जीनियरों को उस काल में इन स्तम्भों को एक स्थल से दूसरे स्थल पर ले जाने में जो पराक्रम तथा कठिनाइयाँ उठानी पड़ी होंगी, उसका अनुमान शम्स-ई-सिराज के निम्न वर्णन से किया

जा सकता है । इस वर्णन में "सिराज" ने बतलाया है कि कैसी कठिनाइयों के साथ फ़िरोजशाह, अशोक के तोपरा स्तम्भ को दिल्ली ले गया था । शम्स-ई-सिराज फ़िरोजशाह का समकालीन था । वह लिखता है—"थाटा से लौटने पर सुल्तान फ़िरोज देहली के आस-पास भ्रमण किया करते थे । इस प्रदेश के भाग में दो शिला-स्तम्भ थे । इनमें से एक स्तम्भ सलुरा और खिजराबाद जिले के तोपरा नामक गाँव की एक पहाड़ी पर था और दूसरा स्तम्भ मिरथ क़स्बे के पास स्थित था । इन स्तम्भों को देख कर फ़िरोजशाह ने ख़ूब तारीफ़ की और उन्हें विजय-स्तम्भ के रूप में दिल्ली हटा ले जाने का विचार फर्माया ।......................................लाट को उखाड़ने का विचार होने पर, दोआब के निवासियों तथा सब पैदल और घुड़सवार सैनिकों को फ़र्मान भेजे गये कि सब यहाँ पर इकट्ठे हों । इसके बाद सेमल की रुई मँगवाने का हुक्म हुआ । यह रुई स्तम्भ के चारों ओर रखी गई..........और जमीन खोदने के पश्चात् स्तम्भ मुलायमी के साथ रुई पर लिटा दिया गया । स्तम्भ के नींव की जाँच करने पर एक चौकोर पत्थर हाथ लगा । यह पत्थर भी बाहर निकलवा लिया गया । इसके बाद सारा स्तम्भ ऊपर से नीचे तक कच्ची खाल और घास से लपेट दिया गया । जिससे स्तम्भ पर कोई नुक्स न आ सके । तब ४२ पहियों की एक गाड़ी बनवाई गई जिसके हर एक पहिये पर रस्सियाँ बँधी थीं । इन हरएक रस्सियों को खींचने के लिये हज़ारों मनुष्य जुटाये गये और बड़ी मेहनत और कठिनाइयों के साथ स्तम्भ गाड़ी पर रखा गया । गाड़ी के प्रत्येक पहिए पर मज़बूत रस्सी बाँधी गई और हरएक पहिये को खींचने के लिये २०० आदमी तैनात हुए ।" अर्थात् ४२ पहियों को ४२×२००=८४०० (चौरासी सौ) मनुष्यों ने खींचा था । "इस प्रकार हज़ारों आदमियों के एक साथ मेहनत करने से गाड़ी खींच कर जमुना के किनारे पहुँचाई गई । जमुना में पेश्तर से ही नावों की एक

बड़ी भीड़ इकट्ठी की गई थी। इन नावों में से कोई नाव ५,००० और कोई ७,००० मन नाज ले जाने के क़ाबिल थी, और छोटी से छोटी नाव २,००० मन तक नाज ले जा सकती थी। इसके बाद, बड़ी लियाक़त के साथ लाट उन नावों पर रख कर फिरोज़ाबाद पहुँचाई गई," (Elliot—History of India III, 350)। फ़िरोजशाह अशोक के मध्यम श्रेणी वाले कुल तीन स्तम्भों को उनके स्थित स्थान से हटा कर १५० मील की दूरी पर ले गया था। किन्तु सम्राट् अशोक को ऐसे ही तथा इससे भी बड़े ३० स्तम्भों को उनके निर्माण-स्थान से १५० मील से भी अधिक दूरी पर ले जाना पड़ा था। ये स्तम्भ चुनार में निर्मित किये जाते थे। इस वृत्त से सर्वथा प्रकाशित है कि अशोक-कालीन कलाकार ही कला-कौशल में अद्वितीय न थे, अपितु अशोक के यंत्रकार अथवा वास्तुविद्या-विशारद (Engineer) भी कोई कम अद्वितीय न थे। इन यंत्रकारों की अद्वितीयता स्तम्भों को दूर-दूर स्थानों पर सुगमता और सरलता सहित ले जाने तथा स्थापित करने में प्रत्यक्ष है।

अशोक से पहले वास्तुनिर्माण-कला का साधन लकड़ी रहा है। वस्तुतः शिल्प-कला के लिये शुङ्ग-राजाओं के समय से लकड़ी की जगह पत्थर काम में लाया जाने लगा। किंतु काठ की जगह पाषाण पर वस्तुनिर्माण करने का श्रीगणेश इससे प्रथम ही हो चुका था, इसका श्रेय भी अशोक को ही प्राप्त है। यथार्थतः सम्राट् की अभिलाषा थी कि उनकी धर्म-लिपियाँ चिरस्थायी हों—(ध्रमदिपि लिखित चिरठितिकं होतु। ६वाँ शिलालेख, मानसेरा) अतः सम्राट् को यह योजना करनी पड़ी कि किस प्रकार उनके लेख चिरकाल तक रह सकें। इसके लिये यदि काठ काम में लाया जाता तो धर्म-लेखों का चिरस्थायी होना सम्भव न था, अतः सम्राट् को यह काम पाषाणों पर कराने का विचार आया। अतः सम्राट् ने धर्म-लिपियों के खुदवाने के हेतु शिला-स्तम्भ, पाषाण चट्टानों आदि का उपयोग किया। अन्यथा

इससे पहले बहुधा लकड़ी ही का प्रयोग किया जाता था । मेघास्थनीज ने पाटलिपुत्र का उल्लेख करते हुए कहा है कि राजा का प्रासाद लकड़ी का बना था तथा यह प्रासाद संसार के सर्वोच्च प्रासादों में से था। जातकों में भी लकड़ी के भवनों का अधिकतर वर्णन मिलता है। किन्तु पाषाण निर्मितु वस्तुओं का कहीं उल्लेख ही नहीं पाया जाता। फरगुसन (Fargusson) लिखता है कि अशोक से पहले ही जरासन्ध की बैठक पत्थर से बनाई गई थी (H.I.E.A. Volume I, page 75—quoted by Sh. Dr. Bhandarkar in his Asoka, p. 319)। परखाम में भी अशोक से पहिले की बनी हुई ७ फीट ऊँची एक पाषाण मूर्ति मिली है। अशोक से पूर्व पाषाण-कला का एक और दृष्टांत पिपरावा-स्तूप है। यह स्तूप एक बड़ी पाषाण शिला के आकार का है। इस शिला का नाप इस प्रकार है—४ फीट ४ इञ्च × २ फ़ीट ८$\frac{3}{4}$ इञ्च × २ फ़ीट २$\frac{3}{4}$ इञ्च। उत्कृष्ट कला का यह भी एक अच्छा दृष्टांत है।

जलप्लावन-विधि—अशोक के यन्त्रकारों की विलक्षणता का दूसरा प्रमाण उनके जलप्लावन (Irrigation) का कलात्मक ढङ्ग है। मौर्य्य सुदर्शन झील की सुन्दरता और सुरम्यता की प्राचीन कलाविदों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। रुद्रदामन के लेख से स्पष्ट है (१५० ई०) कि यह झील रैवतिक और ऊरजयक (Raivataka-urjayat) पहाड़ियों पर स्थित थी। यह झील पलासिनी आदि नदियों के बहाव को रोक कर बड़ी सुन्दरता के साथ सम्राट् मौर्य्य चन्द्रगुप्त के समय में, प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त द्वारा निर्मित हुई थी। अशोक के समय यवन-राज तुहषाष्प ने इस भील में जलनिर्गम के लिये मार्ग बनाकर, भील को और भी सुन्दर बना दिया; क्योंकि अब भील का जल सुगमता से स्वच्छ किया जा सकता था। इन भीलों से सिंचाई का काम लिया जाता था । इस सिंचाई विभाग के लिये मेघास्थनीज के कथनानुसार कर्मचारी नियुक्त थे। इन कर्मचारियों

का कार्य भूमि नापना तथा जलद्वार (जहाँ से नहरों में पानी दिया जाता था) की रक्षा करना था। इस झील (सुदर्शन झील) का वर्णन स्कन्दगुप्त के एक लेख में भी पाया जाता है—(No. 14 of Fleet's Gupta Inscirptions dated,458)। यह झील गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेश अथवा सौराष्ट्र में थी। इस समय सौराष्ट्र का पर्णदत्त अधिपति था (प्रान्तीय शासक–Provincial Governor) इस पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को गिरनार का शासक बना कर वहाँ भेजा। इस समय गिरनार में अतिशय पानी बरसने के कारण झील टूट गई। अतः झील में वर्षों से बन्दिनी हुई नदियाँ, पुनः अपने स्वामी समुद्र को मिलने के लिये दौड़ीं, किन्तु चक्रपालित ने बहुत व्यय तथा कठिनता के साथ कुशलतापूर्वक जल्दी ही इस झील को ठीक बनवा दिया।

मौर्य्य-कालीन सिक्के—मौर्य्य-कालीन सिक्के परिष्कृत न थे। उनका आकार सुचारु न था तथा देखने में रमणीय न थे। कहा जा सकता है कि 'सिक्का' बनाने की कला इस काल में उन्नत न थी।

आभूषण और मणिकार-कला—आभूषणों के निर्माण में मौर्य्य कलाकार अत्यन्त कुशल थे। इन आभूषण बनाने वाले तथा मणिकारों की कुशलता धातु की वस्तुओं पर बीजाकार रूप देने में है, तथा उनका अद्वितीय हस्तकौशल सूक्ष्म निपुणता के साथ अविधेय-पाषाण (refractory) को काट कर उसे मंडित करने तथा स्निग्ध बनाने में है। मौर्य्यकाल के सुवर्ण और चाँदी के बने आभूषणों के सर्वोच्च कला के प्रमाण वे दो आभूषणों के टुकड़े हैं जो डायोडोटस के सिक्कों के साथ तक्षशिला में प्राप्त हुए थे। (इन आभूषणों की उत्तमता के प्रति सर जान मार्शल की उक्ति है—The art of the Jeweller had at all times appealed strongly to Indian genius, and throughout

Indian History, has exercised a deep influence upon the national sculpture and painting. Cambridge History, I Volume, 623).

पाषाण-कलाकारों (अथवा कलाविदों) की सुन्दरतम कला के कुछ अन्य दृष्टान्त भी मिलते हैं। बिरैल (Beryl) में पाई गई शव-मंजूषा (Relic casket) और भाटिप्रोलु (Bhattiprolu) तथा पिपरहावा स्तूप पर बने पाषाण-सितमणि (Rock-crystals) पाषाण-कला के उत्कृष्ट प्रमाण हैं। (Cambridge History, p. 623) इसके अलावा बेसनगर में एक स्त्री की प्रतिमूर्ति पाई गई है तथा हाल ही में पटना और दीदारगंज में दो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। किन्तु ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से अच्छी नहीं हैं। श्री कुमार-स्वामी इन्हें ग्रामीण कला के प्रतीक कहते हैं।[१]

मौर्य्य-कालीन नगर-निर्माण कार्य—मौर्य्य-कालीन इंजीनियर अथवा वास्तुविद्याविशारद नगर बनाने में भी अत्यन्त कुशल थे। अजातशत्रु के पोते (नाती) उदय ने पाटलिपुत्र की नींव डाली थी। यह पाटलिपुत्र भी मौर्य्य-सम्राटों की राजधानी थी। चन्द्रगुप्त के समय पाटलिपुत्र यथेष्टतः उन्नति के शिखर पर था। पाटलिपुत्र के प्रति भगवान् बुद्ध ने जो उसके उत्कर्ष की भविष्यवाणी की थी वह मौर्य्यों के समय में जाकर प्रत्यक्ष चरितार्थ हुई। मेघास्थनीज लिखता है—"गंगा नदी की चौड़ाई १०० स्टैडिया, और गहराई न्यून से न्यून २० फैदम है। इसी गंगा तथा सोन नदी के संगम पर पाली-बोथरा (पाटलिपुत्र) नगर बसा है। यह नगर लम्बाई में ८० स्टैडिया और चौड़ाई में १५ स्टैडिया के है। (अर्थात् ९½ मील लम्बा और १½ मील चौड़ा है) इसका आकार समानांतर चतुर्भुज है। यह नगर

[१] History of Indian and Indonisian Art, p. 16.

चारों ओर काठ की दीवाल से वेष्टित है। इन दीवालों पर तीर चलाने के लिये छेद बने हैं सामने की तरफ़ रक्षा हेतु एक बड़ी खाई खुदी है, (McCrindle Ancient India, Megasthenese and Arian, 65-66) आगे मेघास्थनीज फिर लिखता है—"पाटलिपुत्र की इस काष्ठ नगरी में राजा का भव्य प्रासाद है। यह प्रासाद संसार के राजकीय भवनों में सबसे सुन्दर है। इस प्रासाद के सामने सुसा और इकबतान के राजप्रासादों का वैभव भी तुच्छ प्रतीत होता है। इस प्रासाद के मण्डित स्तम्भों पर स्वर्ण अंगुरी लतिकायें खचित हैं, जिन पर चाँदी की चिड़ियायें खेलती हैं। प्रासाद के पास मछलियों के सरोवर बने हैं—जिनकी शोभा को उत्कीर्ण करने के लिये कई सजावटी वृक्ष, कुञ्ज, तथा झाड़ियाँ रोपी गई हैं।"

इसी राजप्रासाद को देख कर फाय-हान आश्चर्यान्वित हो उठा था। उसकी समझ में नहीं आया कि यह अद्वितीय राजप्रासाद मनुष्यों का बनाया है या देवताओं का! वह लिखता है—(यह लेख अशोक के बाद ६५० वर्ष का है)—"राजप्रासाद और कमरे जो अभी तक वैसे ही नगर के मध्य में स्थित हैं—यक्षों द्वारा बनाये गये थे…… यह राजप्रासाद ऐसी सुन्दरता और सौन्दर्यता सहित बनाया गया है कि संसार की मानवीय कला इस प्रकार कभी नहीं बना सकती;" (Leggs, p. 77)।

पुराणवस्तु-शास्त्रभिज्ञों की खोज के फलस्वरूप मौर्य्य-प्रासाद के कुछ अवशेष उपलब्ध हो सके हैं। इस खोज का कार्यारंभ श्री पी० सी० मुकर्जी ने ही कर दिया था। उनकी खोज के परिणाम-स्वरूप अशोक के स्तम्भों के कुछ खण्ड प्राप्त हुए थे। कुछ वर्षों के पश्चात् डाक्टर स्पुनर ने फिर से खोज-कार्य प्रारम्भ किया। इस खोज से चुनार के बलुए पत्थर से बने कुछ स्निग्ध मंडित स्तम्भ प्राप्त हुए। ये स्तम्भ प्रत्येक २० फीट ऊँचे और नीचे आधार पर ३½ इञ्च व्यास के थे। ये स्तम्भ समानान्तर श्रेणी में १५ फ़ीट के फ़ासले पर खड़े

मिले हैं। इससे ज्ञात होता है कि मौर्य्य प्रासाद के अन्दर ११० स्तम्भों का एक विशाल दालान अथवा हॉल रहा होगा। बहुत से विद्वानों का मत है कि मौर्य्य राजप्रासाद डेरियस् के ऐचिमिनियन् प्रासाद की नक़ल है तथा वह परशिया के कलाविदों से बनवाया गया था। किन्तु विद्वानों की इस धारणा में सत्य का अंश बहुत थोड़ा है। इस निर्मूल धारणा की उपेक्षा करते हुए भारतीय कला के प्रमुख माननीय कलाविज्ञ श्री हवेल लिखते हैं—"स्तम्भों की बनावट को परसिपोलस के अपदान से मिला कर जल्दी में यह निष्कर्ष निकाल लिया गया है कि चन्द्रगुप्त ने परशियन शैली पर अपना प्रासाद बनाने के लिये विदेशी कारीगरों को बुलवाया। जैसे वर्तमान समय में ऐंग्लो-इंडियन इमारत बनाने वाले यूरोपियन शैली की नक़ल किया करते हैं। निःसन्देह चन्द्रगुप्त की प्रशंसा सुन कर बहुत से कलाकार आकर्षित हो चले हों, किन्तु भारतीय इतिहास चन्द्रगुप्त से ही प्रारम्भ नहीं होता तथा भारतीय निर्माण-कला प्राचीनतम है एवं उस काल की है जब पाटलिपुत्र की नींव डाली गई थी। इस वृत्त से कि इन्डो-आरियन (भारतीय आर्य) प्रासाद तथा इरानियन प्रासाद सामान्यतः परस्पर मिलते हैं—यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि भारतीय आर्य संस्कृति को इरान ने भी अपनाया था, न कि यह कि चन्द्रगुप्त इच्छापूर्वक डेरियस् के प्रासाद की नक़ल कर रहा था।" अन्त में हवेल कहता है कि आर्य्यावर्त को मैसिडोनियन आतङ्क से स्वतन्त्रता प्रदान करने वाला महान् आर्य्य राष्ट्र का निर्माता चन्द्रगुप्त परशिया के मस्तक की प्रभुता को सहन नहीं कर सकता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त की राजनीति पूर्णतया आर्य रूढ़ियों पर निहित थी—(Aryan Rule, p. 75)

अशोक-कालीन कला—मार्शल लिखता है कि अशोक के स्तम्भ परसो-यूनानी (Persc-Greek) ढङ्ग के हैं—अशोक के शिलालेख एचिमिनियन् सम्राट् के शिलालेख पर निहित हैं। तथा

घंटाकार सिरा (bell-capital) परशिया में ही पहले-पहल निर्मित हुआ था एवं स्तम्भों पर पालिश लगाने की मौर्य शैली भी परशियन है। (Guide to Sanchi, p. 92) इस विवरण से मालूम होता है श्री मार्शल सब कुछ परशिया का कहने पर तुले से हैं।

सम्राट् अशोक अद्वितीय विश्व-विख्यात सम्राट् थे। उनकी सार्वलौकिकता और कलाप्रियता की गाथायें सुनकर निःसन्देह दूर-दूर से कलाविज्ञ मौर्य्य दरबार में आये होंगे। किन्तु यह कहना पूर्ण सत्य नहीं है कि अशोक ने सब कुछ परशिया से ही मोल लिया था। सम्राट् अशोक भारतीय आर्य्य थे, उनकी निजी संस्कृति सुचारु थी। उनमें अलौकिक प्रतिभा थी, तथा उनकी निजी रूढ़ियाँ थीं उतनी ही पुरानी जितनी परशिया की हो सकती हैं। इससे भी अधिक बात जो सम्राट् में थी वह है उनकी मौलिकता। सम्राट् की मौलिकता प्रशंसनीय है। सम्राट् की यह मौलिकता ही प्रत्येक नवीन विधान और योजनाओं का कारण थी। ऐसे प्रतापी एवं प्रभावशाली अशोक को परशिया अथवा यूनान से किसी वस्तु को उधार माँगने की कतई आवश्यकता न थी। सम्राट् ने ही प्रथमतः पशुओं के औषधालय खोले थे तथा स्तम्भों, शिलालेखों एवं गुहा-भवनों का निर्माण-कार्य करवाया था। सम्राट् धार्मिक थे और धर्म-प्रचारक थे, अतः उन्हें धर्म-प्रचार करने की अतिशय अभिलाषा थी, क्योंकि सम्राट् का सिद्धान्त था कि "प्रजा को स्वर्ग का सुख दे सकूँ" (छवाँ शिलालेख)। अतः इस स्वर्ग के सुख का विधान करने के हेतु सम्राट् ने विचार करना आरम्भ किया कि प्रजा में धर्म का प्रचार होना चाहिये, किन्तु यह धर्म का प्रचार किस विधि से किया जाय इसके प्रति सातवाँ शिलालेख लिखता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि विगत काल में राजाओं की यह इच्छा थी कि किस प्रकार धर्म की प्रजा में उन्नति हो, किन्तु लोग धर्म के

अनुरूप न बढ़ सके। इस पर सम्राट् फिर स्वयं विचार करने लगे —"कैसे लोगों को धर्म पर आचरण कराया जा सकता है। किस तरह लोगों में धर्म के अनुरूप उन्नति हो सकती है? किस तरह धर्म के अनुरूप मैं उन्हें उन्नत बना सकता हूँ? इस पर देवताओं का प्रिय कहता है कि मुझे विचार हुआ कि मैं धर्मानुशासन प्रकाशित करूँगा।" ......और आगे फिर सम्राट् स्वयं कहते हैं कि "यह ज्ञात करके मैंने धर्म-स्तम्भ स्थापित किये, महामात्र नियुक्त किये तथा धर्म-लिपियाँ लिखवाईं।" अतः सम्राट् अशोक के वाक्यों से पूर्णतः प्रकाशित है कि प्रजा के हित एवं विश्व के हित धर्म-प्रचार करने की चिन्ता से आसंकुल होकर ही सम्राट् ने शिलालेख एवं स्तम्भों का प्रथमतः निर्माण किया था। ये लेख सम्राट् ने परशिया की नक़ल करके पाषाणों अथवा शिला-स्तम्भों पर न खुदवाये थे, अपितु इन धर्म-लिपियों को चिरञ्जीवी बनाने के अर्थ ही सम्राट् अशोक ने इन लिपियों को पाषाणों पर लिखवाने की योजना की। पाँचवें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "इयं धम्मलिपि लेखिता चिलथितिक्या होतु।" (कालसी) अर्थात् "यह धर्म-लिपि लिखवाई चिरञ्जीवी हो।

अतः सर्वशः सुप्रकाशित है कि धर्मलिपियों को चिरकालिन बनाने की उच्च प्रेरणा से प्रेरित होकर ही सम्राट् ने स्वतः धर्म-शिला-स्तम्भ एवं पाषाण-लेखों की योजना की। सातवाँ स्तम्भ-लेख इस विषय को और भी अधिक स्पष्टता के साथ प्रमाणित करता है, "अभिषिक्त होने के या अभिषेक के छब्बीसवें वर्ष यह धर्म-लिपि लिखवाई। इसके प्रति देवताओं का प्रिय कहता है कि यह धर्म-लिपि शिला-स्तम्भों या शिला-प्रस्तरों पर लिखी जाय—जिससे वह चिरञ्जीवी हो।" इस वृत्त से कोई संदेह नहीं रह जाता कि अशोक ने डेरियस अथवा परशिया से शिला-स्तम्भों एवं शिला-प्रस्तरों की नक़ल की होगी, अपितु यह सम्राट् की निजी मौलिक योजना थी।

इसके अतिरिक्त भारतीय प्रतिमाकरण के अध्ययन से मालूम होता है कि "घंटाकार" कहलाने वाला ऊपरी सिरे का आकार, अशोक के बहुत पहले से ही भारत में बनाया जाता था। अशोक के स्तम्भ का सिरा घंटाकार (bell) भूल से लिया जाता है, वस्तुतः उसे उल्टा कमल माना जाना चाहिये। यह कमल भगवान् बुद्ध के उद्भव अथवा उत्पत्ति का लाक्षणिक है। बरहुत के पूर्वी दरवाजे पर एक लोकपाल गुरुड़ की मूर्ति से अंकित घंटाकार पताका को ले जाते हुए चित्रित किया गया है। वस्तुतः यह गरुड़ विष्णु का वाहन है तथा नीला कमल विष्णु के कमल का लाक्षणिक है। अतः कहीं-कहीं पर "घंटाकार" मौली के स्थान पर स्तम्भों पर यही नीला कमल बना है। बुद्ध भगवान् का कमल-सिंहासन भारतीय कला के अनुरूप नित्य नीचे की ओर झुकी हुई पुष्प-पत्तियों के रूप में चित्रित दिखलाया गया है—ये पुष्पदल नाल पर इस प्रकार झुकी होती हैं कि घंटाकार मौली (bell-capital) और इसमें कोई अन्तर ही नहीं दिखलाई पड़ता। अतः सर्वशः प्रकाशित है कि इसी सभ्यता के कारण विद्वानों ने अशोक-स्तम्भ के सिर के कमलों को भूल में परशियन घंटाकार सिरे से मिलाया है। वस्तुतः कमल भारतीय जीवन और कला का चिर अंग रहा है। साँची स्तूप की एक शलाका पर, अशोक की पताका चित्रित है, जिसके सिरे (मौली) के एबेकस (abacus) से दो कमल की कलियाँ प्रस्फुटित होती हुई दिखलाई पड़ती हैं। इससे मालूम होता है कि घंटाकार भाग (bell) कमल को नीचे मुड़ी हुई पत्तियाँ हैं। भारतीय कलाकारों को कमल-पुष्प की नीचे झुकी हुई पुष्प-पत्तियों में दिखलाना सुन्दर लगता था, क्योंकि इससे वे स्वर्गीय आकाश का निर्देश करना चाहते थे जिसे पवित्र पहाड़ अवलंब दिये हैं। अशोक का यह घंटाकार सिरा (मौली) अथवा कमल-पुष्प राजकीय चिह्न था एवं वह विश्व-साम्राज्य का निर्देशक भी माना जाता था। तथा

चक्र से अभिप्राय धर्म के चक्र से है—जिसे सिंह अवलम्ब दिये थे।

हमें मालूम है कि इसी प्रकार का चिह्न विष्णु की पताका के लिये काम में लाया जाता था; अतः स्पष्ट है कि यह भाव प्राचीन भारतीय संस्कृति से संपृक्त था, न कि परशियन कला से उधार ली हुई वस्तु है। आर्य्य संस्कृति कमल के फूलों में ही खिली है।

सूर्योदय के रहस्य निर्देश के लिये भी ब्राह्मण लाक्षणिक कमल ही दिया गया है। यह कमल नारायण की नाभी से प्रस्फुटित होता है, जिसके ऊपर विश्वके विधायक ब्रह्मा बैठते हैं। महायान बौद्ध भी प्राज्ञ-पारमित अर्थात् अलौकिक ज्ञान की समता कमल पुष्प से देते हैं—"कमल की जड़ का भाग ब्रह्म है, तना (नाल) माया है, पुष्प सम्पूर्ण संसार है और फल पूर्ण "निर्वाण" है!" इन सब वृत्तों से स्पष्ट है कि अशोक के कलाकार, सुदूर वैदिक काल के इन्हीं भावों को लेकर कार्य कर रहे थे। अतः स्पष्ट है कि शिला, दंड = नाल है (कमल पुष्प की नाल से आशय है) यह भाग माया अथवा सांसारिक जीवन का निर्देशक है। घंटाकार सिरा अथवा (bell-capital) संसार का निर्देशक है जो आकाश रूपी दलों से वेष्टित है, और कमल का फल 'मोक्ष' का निर्देशक है।[1] अतः सर्वथा प्रकाशित है कि अशोक की उच्चतम और विशाल कला का आधार पूर्ण रूप से भारतीय भाव था उसकी कला के भाव आर्य्य संस्कृति के कमल पुष्प में ही उद्भूत हुए, खिले और प्रस्फुटित हुए थे।

कुछ यूरोपियन विद्वानों की धारणा है कि अशोक के स्तंभ परसो-हैलनिक (Perso-Hellenic) शैली पर बनाये गये हैं या उनकी नक़ल है। कला की शैली परशियन है, किन्तु मूर्तियों की सजीवता तथा

---

[1]देखिये—A Hand-book of Indian Art by E. B. Havell—pp. 40—44.

प्राकृतिकता हैलनिस्टिक है। इस काल के लगभग हैलनिस्टिक प्रणाली बड़े जोरों से बैकट्रिया में प्रचलित हो रही थी, जिसका ईरान के मन्द भावरहित रूप पर भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा। तथा यह परसो-हैलनिस्टिक कला बैकट्रिया से ही भारतवर्ष में आई। किंतु इस कथन में कोई सत्यता नहीं मालूम पड़ती है। माना कि अशोक की कला तथा स्तंभ-निर्माण शैली का रूप परसो-हैलनिस्टिक है, अथवा अशोक के स्तंभ परसो-हैलनिस्टिक कला के प्रतिरूप हैं। जिस कला का प्रथम प्रादुर्भाव बैकट्रिया में हुआ तथा जो बैकट्रिया में ही प्रथम पनपी थी। किन्तु हमारा साधारण-सा प्रश्न है कि बैकट्रिया तथा उसके आस-पास के प्रदेश में क्यों फिर इस कला के उत्कृष्ट दृष्टांत नहीं उपलब्ध होते? जब तक ऐसा कोई प्रमाण विपक्षी विद्वान नहीं दे सकते उनकी धारणा अमूल्यवान तथा निष्कारण है।[1] अतः कह सकते हैं कि अशोक कालीन स्तम्भ-निर्माण तथा स्थापित करने की शैली न परशियन है और न हैलनिस्टिक वरन् वह भारतीय है जिसकी उत्पत्ति आर्य संस्कृति और भावनाओं से हुई है। इस विषय में श्री हवेल प्रभावपूर्ण शब्दों में लिखते हैं:—

"This symbolism is so characteristically Indian and so wildly spread in early Buddhist art that the mere coincidence of "bell-shaped" capital occurring in Persia handly justifies the name which archiologists have given them. Perhaps Persia borrowed this idea from India, the land of the lotus with the flower itself."

कहने का आशय यही है कि स्तम्भ तथा स्तंभ के सिरे का घंटाकार हिस्सा भारतीय कमल है अथवा रहस्यपूर्ण आर्य कमल का लाक्षणिक। तथा यह घंटाकार बनाने की शैली भारतीय भावों के आधार पर

[1] देखिए—श्री भण्डारकर अशोक, पृष्ठ २२२।

ही प्रसूत हुई थी, एवं भारत के अतिरिक्त शायद परशिया ने ही आर्य्य-भाव को भारतवर्ष से उधार लिया है।

यह भी संभव है कि अशोक के स्तंभ का गोलाकार रूप प्राचीन चन्द्र-उपासना की अवशिष्ट स्मृति का लक्षण हो।

ह्वेन-सांग के उल्लेखानुसार भारतवर्ष चन्द्र-प्रदेश के नाम से भी विख्यात था (देखिए—E. B. Havell, pp. 44-45)।

अतः इन सब वृत्तों के आधार पर स्पष्टतः कहा जा सकता है कि अशोक-कालीन कला सर्वोत्तम, उत्कृष्ट, मौलिक एवं स्वदेशी अथवा भारतीय है।

नौवाँ प्रकरण

अशोक का इतिहास में स्थान

पूर्व के आठों प्रकरणों से हमें विदित हो चुका है कि अशोक ने राजा, शासक, गुरु और विश्व-कल्याणकारी रूप में मानव एवं प्राणिमात्र के लिये कितना उपक्रम तथा कार्य किया। इन्हीं सब कार्यों के आधार पर इस प्रकरण में हम महान् अशोक का ऐतिहासिक मूल्य एवं स्थान का निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे।

मानव जाति के पीड़ित इतिहास में अशोक का स्नेह-शासन एक रुचिर विष्कंभक स्वरूप था। विश्व के राजकीय अत्याचारों से आर्त-कंपित हृदय की आहों का वह उपहार था। पृथु के अनन्तर एक बार पुनः विश्व को सुव्यवस्थित एवं स्नेह-शासन प्रदान करने के हेतु ही अशोक का जन्म हुआ था।

अशोक का स्थान—अशोक के स्थान का निर्णय करने के लिए हमें दो बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये, अर्थात् प्रथमतः उनके क्या आदर्श थे, तथा उनके कार्य का हेतु क्या था? सम्राट् का निजी व्यक्तित्व एवं हृदय उनके लेखों में स्पष्ट प्रतिबिंबित होता है। सम्राट् की पावन वाणी हृदय की उच्चता और निर्मलता से पूर्ण है। उनकी लेखन-शैली पूर्ण रूप से निज व्यक्तित्व लिये है। किन्तु पाश्चात्य विद्वान चानपेन्सियर (Chanpentier) कहता है कि अशोक ने अपने लेखों में प्रत्यक्षकृत करने के प्रति अपना असल व्यक्तित्व छिपा दिया है (J. R. A. S. 1926, P. 138) चानपेन्सियर की यह धारणा सर्वशः निर्मूल है। स्मरण रहे कि अशोक पाश्चात्य नीतिकुशल बिसमार्क न था, वे तो केवल एक राजधर्म को जानते थे और इसके

अतिरिक्त उन्हें किसी प्रकार की राजनीति से संबन्ध न था। सेनार्ट (Senart) लिखता है, "सम्राट के वाक्य बहुधा संक्षिप्त तथा विषम होते हैं और उनमें चित्रता नहीं पाई जाती, (I.A. 1891, P. 266)। साथ ही सेनार्ट यह भी स्वीकार करता है कि "सम्राट् के लेखों में भावों की एकरूपता, स्वाभाविकता एवं साम्य है। अपितु यह अंगीकार न करना अन्यायपूर्ण है कि अशोक अपने लेखों में सहिष्णुता, धार्मिकता, अभिवृद्धि और प्रजा के हित के प्रति उत्साह नहीं प्रदर्शित करते।" श्री सेनार्ट के इस कथन का सभी विद्वानों ने सहर्ष अभिनन्दन किया है। अपितु अशोक के प्रति यह कहने (कि अशोक ने अपने लेखों में निज व्यक्तित्व को छिपाया है) का तात्पर्य यही है कि प्रियदर्शी अशोक मिश्र का फराहात (Egyptian Pharahate) था (Latham, J.R.A.S., Volume XVII, pp. 273-4) किन्तु वस्तुतः अशोक एक सच्चे, सरल और प्रजाभक्त-वत्सल राजा थे। उनके वाक्य हृदय के सच्चे उद्गार थे। प्रजा के हित और सुख की चिंता से सर्वदा उनका मस्तक आक्रांत रहा। वे कहते थे, "सव मुनीषि मी प्रजा" (कलिंग शिलालेख) अर्थात् सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं तथा जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों के हित और सुख का अभिलाषी हूँ वैसे ही मैं प्रजा के सुख की भी इच्छा करता हूँ, अतः ६वें शिलालेख में वे कहते हैं—"कटि-वयमते हि मे सव्रलोक हिते" (मानसेरा ६) अर्थात् सर्वलोक का कल्याण ही मेरा कर्त्तव्य है तथा "हिद च कानि सुखायमि पलत चा स्वर्ग आलधयितु"—मेरी अभिलाषा है कि अपनी प्रजा को इस लोक में सुख दूँ जिससे वे परलोक में स्वर्ग प्राप्त करें, (कालसी ६)। इस वृत्त से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट् अपने कर्त्तव्य के उत्तरदायित्व को पूर्णतया समझे हुए थे। अशोक जानते थे "सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितः नृप[1]" राजा इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओं के अंश से निर्मित हुआ है, अतः

[1]मनुस्मृति, सातवाँ अध्याय, ५वाँ श्लोक।

उसका परम कर्त्तव्य "परिरक्षणम्" (मनुस्मृति, सातवाँ अध्याय, श्लोक२) रक्षा करना है। किन्तु सम्राट् अशोक की "रक्षा" अपनी प्रजा तक ही सीमित न थी, प्रजा के सहित वे सर्वलोक की रक्षा के प्रति चिन्ताशील थे। तथा उनकी रक्षा का यह कर्म मनुष्यों तक ही सीमित न था, अपितु वे सर्व प्राणियों एवं जीवमात्र का पालन करना चाहते थे।

साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि सम्राट् प्रजा के ऐहिक सुख के साथ-साथ पारलौकिक अथवा स्वर्ग के सुख के भी अभिलाषी थे। यही कारण है कि अशोक के शिलालेखों तथा स्तंभ-लेखों में कई बार 'इहलोक' और 'परलोक', 'इध' और 'परत्र' शब्द आया है, (देखिए—शिलालेख १३, ६, स्तंभ-लेख १, ३, ४, ७, गौण शिलालेख—सारनाथ, कलिंग पृथक शिलालेख आदि)।

अतः वह सम्राट् जिसका मस्तक प्रजा के ऐहिक और स्वर्गिक हित तथा सुख की कामनाओं से चिन्तित था उसका ऐतिहासिक मूल्य निरूपण करना सरल कार्य नहीं है। कह सकते हैं कि अशोक मानव इतिहास के लाखों करोड़ों राजाओं, सम्राटों एवं शाहन्शाहों से सर्वोपरि था। इतिहास में सिकन्दर, पौम्पे, सीजर, नेपोलियन आदि महान् कहलाते हैं, क्योंकि अपनी इच्छा, स्वेच्छाचारिता तथा स्वार्थ के लिए जितना रक्तपात इन महान् पुरुषों ने किया उतना अन्य कोई राजा न कर पाया, अतः वे महान् हुए; क्योंकि वे सर्वोच्च आतंकवादी थे। इसी भाँति क्रूर, अत्याचारी, अमानुषिक भीषणता से प्रजा का रक्त शोषण करने वाले राजा और सम्राट् चंगेजखाँ और तैमूरलंग आदि भी महान् हो चुके हैं, किन्तु क्या उनकी महानता गण्य है? क्या वे सत्यशः महान् थे? क्या मानव जाति एवं विश्व के लिये वे हितकर थे? विश्व के लिये उन्होंने क्या हित प्रदान किया?

किन्तु अशोक महान् थे, देवता थे, और सच्चे मानव थे; क्योंकि उन्होंने जो किया सब सर्वलोक हित एवं सुख के लिये किया तथा उनका सिद्धांत ही "सर्वलोक हित" (६वाँ शिलालेख) था।

सम्राट् की महानता का एक और कारण उनके कार्य-क्षेत्र की विशालता अथवा व्यापकता थी। कई महान् देशप्रेमी और स्वदेशभक्त राष्ट्रनायक हो चुके हैं और हैं, इतिहास आज हिटलर और मुसोलिनी को महान् कहने जा रहा है, क्योंकि उनकी स्वदेशभक्ति इतनी विशाल थी कि वे विश्व-भर के उर्वर खून से अपने राष्ट्र का जीवन सींचने को प्रस्तुत थे, जिससे उनका राष्ट्र शक्तिवान और समुन्नत होकर सौन्दर्यता सहित अन्य राष्ट्रों का उपभोग करता। क्या इसी को महानता कहते हैं? क्या ये ही महानता के लक्षण हैं? इसका उत्तर स्वदेशभक्तों के आतंक से पददलित राष्ट्र की निरीह प्रजा की कुचली आह देगी।

किन्तु जब हम अशोक को महान् कहते हैं तो सम्पूर्ण विश्व हमारे स्वर में स्वर भरता है। सेनार्ट लिखता है—"जिस पराक्रम सहित सम्राट् धर्म के लिये उत्साहित हुए, तथा साम्राज्य से बाह्य राष्ट्रों के प्रति उनका जो सम्बन्ध था, अथवा भारतवर्ष के सुदूरवर्ती लोगों से जो उनका सम्बन्ध रहा, और अंततः जो कुछ स्तूपों तथा लेखों से ज्ञात होता है, पियदसी ने निःसंदेह भारतीय संस्कृति के हित अनन्य सेवा की, तथा इन सेवाओं के लिये अशोक को गौरव प्रदान करने को हम न्यायबद्ध हैं।" (I.A. 186, p. 266) अतः स्पष्ट है कि सम्राट् का जो सम्बन्ध अपनी प्रजा के प्रति था वही सम्बन्ध उनका अन्य-देशीय प्रजा के साथ भी था।

जिस प्रकार सम्राट् अपनी प्रजा की हित-चिंता किया करते थे; उसी तरह वे बाह्य प्रदेशों की प्रजा की हितकामना के लिये भी उत्कंठित रहा करते थे, (देखिए, शिलालेख दूसरा—सम्राट् ने अन्य देशों में भी समाज के हित कार्यों का प्रबन्ध करवाया था) किंतु सम्राट् का सिद्धांत "सर्वलोक" तथा "सर्वभूतानां" का हित संपादन करना था, अतः मनुष्यों के समेत वे नित्य पशु आदि जीवों की भी सेवा किया करते थे। सातवाँ स्तंभलेख लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि मैंने मार्ग पर बड़ के पेड़ लगवाये, जिससे

वे मनुष्यों और पशुओं को छाया प्रदान करें तथा आम्रकुञ्ज लगाये गये और प्रत्येक आधे कोस पर कुएँ खुदवाये गये, धर्मशालायें निर्माण की गईं तथा मैंने कई पानी पीने के स्थान स्थापित किये। क्यों? मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिये ही। जिससे लोग धर्म पर आचरण करें, इसीलिये मैंने इस प्रकार किया।" अतः स्पष्ट है कि धर्म की वृद्धि तथा प्रकाश के लिये सम्राट् ने मनुष्य और पशु दोनों के हित तथा दोनों को सुख पहुँचाने के अर्थ कार्य एवं पराक्रम किया। उनके धर्म-कार्य करने से अभिप्राय मनुष्य और पशु दोनों को सुख पहुँचाना ही था।

सम्राट् की विशेषता अथवा विशालता का इससे भी अधिक कारण यह है कि सम्राट् अपनी प्रजा के अतिरिक्त अन्यदेशीय प्रजा के हित भी इसी प्रकार कार्य करने में क्रमणशील थे। द्वितीय शिलालेख कहता है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित राज्य में तथा जो और सीमांत प्रदेश हैं, जैसे चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के प्रदेश तथा अंतियोकस नामक यवन राजा और अन्य राजागण जो उस अंतियोकस के पड़ोसी हैं—हरएक जगह (सर्वत्र) देवताओं के प्रिय ने दो तरह की चिकित्साओं का प्रबंध किया है—मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा का। औषधियाँ जो मनुष्यों के लिये लाभदायक हैं, और जो पशुओं के लिये उपयोगी हैं, जहाँ-जहाँ नहीं हैं वहाँ-वहाँ भेजी गईं और रोपी गईं।" अतः सर्वशः स्पष्ट है कि सम्राट् का सर्वकल्याण का भाव असीमित था, उनके समक्ष अपना और पराया का कोई भाव ही न था; यही कारण है कि सर्व-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने व्यापक विश्व को ही अपना कर्म-क्षेत्र बनाया। इसके साथ ही सम्राट् का यह हित-कार्य अथवा सर्व-कल्याण का कार्य मनुष्य और पशुओं तक ही सीमित न रहा, अपितु छोटे-छोटे जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े, चिड़ियों तथा जल-निवासिन जीवों की भी उनको उसी तरह चिंता बनी रहती थी (दूसरा स्तंभ-

लेख)। सम्राट् का सिद्धांत ही "प्रणानां अनारम्भो" तथा "अवहिंसा भूतानां" अर्थात् जीवों (प्राणिमात्र) को दुःख न देना तथा हिंसा न करना था। इसीलिए सम्राट् पाँचवें स्तंभ-लेख में कहते हैं, "जिस भूसे में जीव हों वह जलाया न जाय। निष्प्रयोजन तथा जीव हिंसा के लिये जंगल जलाये न जायँ। जीव से जीव का पालन न होना चाहिये।"

अतः न्याय की दृष्टि से कोई यह नहीं कह सकता कि सम्राट् अशोक ने सम्पूर्ण मानव जगत् तथा प्राणिमात्र के कल्याणार्थ अपने राजकीय ऐश्वर्यपूर्ण जीवन का त्याग नहीं किया। उनकी वाणी हमारे हृदयों में अभी भी प्रतिध्वनित हो रही है, क्योंकि वह एक सरल और विमल हृदय की पुकार है। कलिंग शिलालेख कहता है, "जिस प्रकार मेरी अभिलाषा है कि मेरे पुत्र इहलोक और परलोक दोनों में सुखी हों, ऐसे ही मैं सर्वमनुष्यों के प्रति अभिलाषा करता हूँ। अविजित अन्ता (सीमान्त निवासी) प्रश्न कर सकते हैं कि राजा (सम्राट् अशोक) की हमारे प्रति क्या इच्छा (अथवा भाव) है। अन्तों (सीमान्त लोगों या प्रदेशों) के प्रति मेरी केवल यह इच्छा है कि वे मुझसे भय न खायँ, किन्तु मुझमें विश्वास रखें कि मेरे द्वारा दुःख के अलावा सुख ही पायेंगे (या लब्ध करेंगे) वे यह भी समझ रखें कि राजा (अशोक) जो कुछ क्षमा किया जा सकता है वह क्षमा करेगा। मैं उनको धर्म-पथ पर अनुसरण कराने का उद्योग करूँगा, जिससे वे इह-लोक और परलोक दोनों के सुख को पा सकें।" इस वृत्त से स्पष्ट है कि सम्राट् अन्ता-निवासियों को अपने महामात्रों के द्वारा यह भली भाँति समझाना चाहते हैं कि अशोक सर्वप्राणियों के लिये उसी प्रकार है जैसा कि अपने पुत्रों के लिये तथा अपने पुत्रों की भाँति ही वे उन्हें सुख पहुँचाना चाहते हैं। साथ ही सम्राट् अन्य देशवासियों को इसका पूर्ण ज्ञान करवाने के इच्छुक हैं कि वे उनके नित्य हितैषी ही रहेंगे, यहाँ तक कि यदि वे कभी भूल से कभी कोई अपराध भी कर जायँ तो सम्राट् जहाँ तक बन सकेगा उनको क्षमा करेंगे, क्योंकि

सम्राट् उनका हर प्रकार कल्याण करना चाहते हैं। अतः सर्वथा निर्धारित है कि सम्राट् का अपनी प्रजा के साथ जो पिता और पुत्र का सम्बन्ध था वही संबंध अन्यदेशीय प्रजा के साथ भी था। इन सब वृत्तों के आधार पर हम कह सकते हैं कि वस्तुतः सम्राट् का यही अर्थात् सर्वकल्याण ही आदर्श था तथा इसी आदर्श को चरितार्थ करने के हेतु, उन्होंने अपूर्व पराक्रम किया। इसी आदर्श की सफलता के लिये सम्राट् ने सारे राजकीय वैभवों को ठुकरा दिया और पूर्ण त्यागी बन कर आजीवन विश्य-कल्याण के हित कार्य करते गये।

क्या सम्राट् के इस आदर्श का कोई आधार था ? इस विषय में श्रीभंडारकर (भंडारकर-अशोक, पृष्ठ २३३-२३४) दिग्गनिकाया के एक सुत्त को उद्धृत करते हैं। इस सुत्त में दलहनिमी अपने पुत्र से चक्रवर्ती राजा के गुणों का लक्षण बतलाता है। वह कहता है, "धर्मरत होकर राजा को अपनी प्रजा, गाँव और जनपद के लोगों की रक्षा करना चाहिये, तथा ब्राह्मण और श्रमण साधुओं का पालन करना चाहिये। तथा प्रिय पुत्र, जब ब्राह्मण और श्रमण साधु समय-समय पर तुम्हारे पास आवें और तुमसे यह पूछें कि "अच्छा और बुरा क्या है" एवं "क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये।" तो तुम्हें उनकी बातों को ध्यान देकर श्रवण करना चाहिये, तथा बुरे मार्ग से हटा कर उन्हें सत-पथ पर लाना चाहिये।" इस वृत्त से मालूम पड़ता है कि अशोक का चरित्र भी इसी आदर्श पर निर्मित हुआ था। दलहनिमी का पुत्र भी अपने पिता के आदेशों पर कार्य करते हुए चक्रवर्ती बनने का प्रयत्न करने लगा। उसने पहले पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के राजाओं पर विजय प्राप्त की। विजित होने पर इन चारों प्रदेशों के राजाओं ने इस चक्रवर्ती सम्राट् से प्रार्थना की, "चक्रवर्ती महाराज, हमें कुछ शिक्षा दो।" इस पर चक्रवर्ती राजा ने इस प्रकार शिक्षा दी, "जीवों की हिंसा करना पाप है। और दूसरों की वस्तुओं का अपहरण न करना चाहिये आदि...।" इसी तरह लक्खण-सुत्त कहता है, "विशाल

मानव पृथ्वी में सर्वोच्च स्थान रखता है, वह सम्पूर्ण संसार को जय कर सकता है, दंड अथवा शस्त्र से नहीं, किंतु केवल धर्म अथवा धर्म-विजय के द्वारा वह चक्रवर्ती हो सकता है।" (श्री भंडारकर-अशोक, पृष्ठ २३६-२३७)।

अतः इन वृत्तों से ज्ञात होता है कि इन्हीं सुत्तों के आधार पर सम्राट् ने अपना आदर्श निर्धारित किया और धर्म-विजय के भाव को अपना सिद्धान्त मान कर सर्वकल्याण के हित जीवन पर्यंत कार्य करते गये। अपने आदर्श को सफल बनाने के लिये जो अद्वितीय पराक्रम सम्राट् ने दिखाया वह अभिनन्दनीय ही नहीं, अपितु अकथनीय है; इसी आदर्श तथा अपूर्व सर्वकल्याण हित सम्राट् के पराक्रम को दृष्टि में रखकर, हमें सम्राट् का ऐतिहासिक मूल्य निरूपण करना होगा।

बहुत से विद्वान पाश्चात्य प्रभृति देश के राजाओं अथवा सम्राटों से अशोक की तुलना करते हैं। प्रथमतः सम्राट् कौन्सटन्टाईन से अशोक की तुलना की जाती है। कौन्सटन्टाईन क्रिश्चियन धर्म का राजकीय संरक्षक था। सम्राट् कौन्सटन्टाईन का धर्म-परिवर्तन (३२५ ई०) ईसाई-धर्म के प्रारम्भिक इतिहास में क्रांति का युग माना जाता है। अशोक को भी इसी प्रकार बौद्ध-धर्म का कौन्सटन्टाईन कहा जाता है। रीज डेविड्स का कहना है कि "अशोक का धर्म-परिवर्तन बौद्ध-धर्म के ह्रास का प्रथम कारण था तथा भारत से उसका लोप होने का भी मुख्य कारण था; क्योंकि कौन्सटन्टाईन की भाँति अत्यन्त दान देकर चर्चों की तरह विहारों अथवा संघ की आध्यात्मिकता का क्षय हो गया।" (देखिये—Rhys Davids, Buddhism, p. 222), किन्तु रीज डेविड्स की यह धारणा निर्मूल है। बौद्ध-धर्म के ह्रास तथा भारतवर्ष से लोप होने का कारण अशोक को नहीं कहा जा सकता।

अभी भारतवर्ष के बंगाल प्रांत में कहीं-कहीं बौद्ध-धर्मी लोग पाये जाते हैं। वस्तुतः बौद्ध-धर्म के नाश का उत्तरदायित्व मुसलमानों पर

है। अर्थात् १२वीं शताब्दी के लगभग बौद्ध-धर्म भारतवर्ष से चल दिया। इसके अतिरिक्त अशोक बौद्ध-धर्म के अवसाद तथा बौद्ध-भिक्षु आदि के आध्यात्मिक ह्रास का उत्तरदायिन् नहीं है। अशोक का संघ पर जो कड़ा नियंत्रण था वह साँची, सारनाथ, कौशाम्बी आदि लेखों से स्पष्ट है, वह संघ में किसी प्रकार की अनाचारता तथा अधार्मिकता को दूर करने के लिये हमेशा प्रयत्नशील रहे। बौद्ध-धर्म के इतिहास से ज्ञात होता है कि अशोक के बाद बौद्ध-धर्म यथेष्टतः आध्यात्मिक भावों से पूर्ण था और तब तक धार्मिक विनाश के कोई भी लक्षण नहीं उग आये थे। वस्तुतः कह सकते हैं कि ब्राह्मण-धर्म के जाग्रत होने पर अर्थात् गुप्तकाल से (३५० ई०) बौद्ध-धर्म की आध्यात्मिकता का क्षय होने लगा। अत: सम्राट् अशोक को बौद्ध-धर्म के विनाश तथा भारतवर्ष से क्षय हो जाने का कारण नहीं माना जा सकता।

पुनः रैपसन (Ancient India, p. 104) और हार्डी आदि अशोक की तुलना कौन्सटन्टाईन से इस आधार पर भी करते हैं कि दोनों अपने-अपने धर्म के राजकीय संरक्षक तथा प्रचारक थे। किन्तु अशोक और कौन्सटन्टाईन के आदर्श तथा लक्ष्य अलग-अलग थे, एवं उनके काय का वातावरण में भी यथेष्ट अन्तर था। कौन्सटन्टाईन एक यथेष्टत: उत्कर्ष करते हुए धर्म का संरक्षक हुआ था, किन्तु अशोक जिस धर्म का रक्षक बना वह अभी अपने शैशव में ही था अर्थात् अभी-अभी उसका उदय ही हो रहा था। अतः कौन्स-टन्टाईन के समय में क्रिश्चियन धर्म वस्तुतः एक प्रचलित धर्म था, किन्तु अशोक के धर्म का अभी भारतवर्ष में भी प्रचार न हो पाया था और यह अशोक के पराक्रम का ही फल था कि प्रथम बार भारतवर्ष में पूर्ण रूप से बौद्ध-धर्म का विस्तार हुआ। गौण-शिलालेख ब्रह्मगिरी प्रथम में सम्राट् स्वयं कहते हैं, "ढाई साल तक जब कि मैं उपासक रहा मैंने अधिक पराक्रम न किया। किन्तु एक साल से या एक साल

से ऊपर हुआ मैंने संघ की यात्रा की, तब से मैंने अधिक पराक्रम किया। अतः इस समय के अन्दर, जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से संबन्धित न थे, देवताओं से संबन्धित हुए (अथवा उनका देवताओं से सम्बन्ध स्थापित हुआ)। पराक्रम का ही यह फल है।" अतः सर्वथा स्पष्ट है कि अशोक को एक अस्तित्वहीन धर्म को इस प्रकार स्वयं अपने पराक्रम के बल पर सर्वत्र भारतवर्ष तथा अन्य प्रदेशों में प्रचार करना पड़ा और उसमें सफलता भी पाई। १३वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय को यहाँ, सब जगह तथा सीमांत प्रदेशों में छः सौ योजन तक, जहाँ यवन-राज अन्तियोकस नाम का राज्य करता है, और उस अन्तियोकस के बाद जो तुरमय, अन्टिगोनस, मग, अलिकसुन्दर के राज्य हैं वहाँ और नीचे दक्षिण में चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी के राज्यों तक प्राप्त हुई है।"

इसी प्रकार सम्राट् यवन, कम्बोज, नाभाक, पैठानिकों, आन्ध्रों, पुलिंदों, आदि का नाम लेते हैं तथा वे यह भी कहते हैं कि "वहाँ के लोग भी, जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मानुशासन, धर्मप्रीति को सुनकर, उस पर आचरण करते हैं" (१३वाँ शिलालेख)। निःसंदेह सम्राट् एक उगते हुए धर्म के रक्षक हुए थे, जिसका स्नेह सहित पालन कर उन्होंने अपने पराक्रम के बल पर एक दिन विश्व-धर्म में परिवर्तित कर डाला।

किंतु कौन्सटन्टाईन ने एक उन्नत धर्म को अपनाया, और वह भी इसी कारण से कि वह समझता था कि इस धर्म-परिवर्तन के फलस्वरूप उसका बहुत हित हो सकेगा (देखिए—मैकफिल-अशोक, पृष्ठ ७६)। कौन्सटन्टाईन के प्रति हार्नेक (Harnack) लिखता है, "कौन्सटन्टाईन दूरदर्शी था तथा उसे अच्छी तरह मालूम था और वह जान गया था कि क्या अवश्यंभावी है।...... इसके लिये केवल एक विदग्ध और समर्थ राजनीतिज्ञ, तथा जो साथ

ही धार्मिक परिस्थिति में अत्यन्त अनुरागी हो—उसकी आवश्यकता थी। कौन्सटन्टाईन ऐसा ही आदमी था।"[1]

श्री भंडारकर ने लिखा है—"कौन्सटन्टाईन युक्तिमत, चालाक, अन्ध-विश्वासी, क्रूर तथा कुटिल था, जिसकी सम्पूर्ण दूरदर्शिता का एक दृष्टांत उसके "महान्" होने का कारण है।" अतः स्पष्ट है कि कौन्सटन्टाईन का धर्म पर अनुराग करना राजनीतिक तथा सामाजिक आवश्यकता का कारण था। और उसकी बड़ाई केवल इसी में है कि वह इस बात को पूर्ण रूप से समझ सका। किन्तु अशोक का कोई इस प्रकार राजनीतिक तथा निजी स्वार्थ न था; कलिंग युद्ध के बाद उनका त्रस्त मस्तक विश्व-शान्ति एवं कल्याण के लिये अत्यन्त व्यग्र था और धर्म-प्रचार तथा धर्म-उपासना से उनका तात्पर्य केवल विश्व को सुखी बनाने का उपक्रम करना था। इसी हेतु उन्होंने अद्वितीय पराक्रम किया और एक प्रांतिक धर्म को कुछ ही समय में विश्व-धर्म बना दिया। सम्राट् का पूर्ण जीवन विश्व-हित के लिये था तथा इस धर्म-कार्य में सम्राट् का लेशमात्र भी स्वार्थ न था यदि कोई स्वार्थ था तो यही कि वे विश्व भर को सुख तथा शान्ति में खिला हुआ देखना चाहते थे। किन्तु कौन्सटन्टाईन (Constantine) ने सब कार्य राजनीतिक दूरदर्शिता तथा प्रेरणा से किया। किन्तु अशोक का इस धर्म-कार्य में कोई राजनीतिक लक्ष्य न था। कौन्सटन्टाईन अपने जीवन के पिछले वर्षों में धर्म से कुछ विचलित होकर मूर्तिपूजा की ओर प्रेरित होने लगा, किन्तु अशोक अपने धर्म से कभी विचलित न हुए, अपितु उनका धार्मिक उत्साह जीवनपर्यंत पूर्ण पराक्रमशील रहा।

अशोक के साथ एक और रोमन सम्राट् मारकस औरिलियस् (Marcus Aurelius—121-180 A. D.) की तुलना की

[1] Harnack Expension of Christianity, Volume II, p. 466.

जाती है। इस सम्राट् ने कौन्सटन्टाईन के धर्म का बहुत नाश किया। मारकूस औरिलियस् एक तत्त्ववेत्ता था और उसका व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त सरल तथा आदर्शपूर्ण था, अतः इस दृष्टि से हम उसे अशोक के बराबर मान सकते हैं। किन्तु आदर्श की उच्चता, हृदय की विशालता, मस्तक की गौरवता और विश्व-मैत्री तथा कल्याण भावना एवं अपक्षपात तथा सब धर्मों के पक्ष में एकरूपता और समान भाव और सहानुभूति दिखाने के रूप में अशोक, मारकूस औरिलियस् से अत्यन्त महान् थे। आर्य्य अशोक संसार भर को गले लगाने में प्रयत्नशील थे, और उनका धर्म सब धर्मों को स्नेहपूर्वक आलिंगन करने को लालायित था, किन्तु मारकूस औरिलियस् दार्शनिक होकर भी ईसाइयों का बध करने से अपने को न रोक सका। अशोक सर्वहित तथा कल्याण के भाव का प्रचार कर विश्व-व्यापक होना चाह रहा था जब कि मारकूस औरिलियस् पूर्णतया एक रोमन था, उसका ध्येय रोमन प्रभुत्व को स्थापित करना था तथा वह सर्व प्रकार रोमन कहलाना चाहता था, परन्तु ईसाई-धर्म को रोमन प्रभुता के प्रतिकूल देखकर उसने ईसाइयों का बध किया जाना न्याययुक्त करार कर दिया (श्री भंडारकर अशोक, पृष्ठ २४८-२४६)। किन्तु अशोक का जीवन इन संकुचित विचारों से पूर्णतया अछूता था, अशोक सबके लिये एकरूप था। अशोक का सिद्धान्त "सर्वलोक हित" (६वाँ शिलालेख) था। अतः सम्राट् अशोक ने भारतवर्ष के अतिरिक्त विश्व-प्रांगण को अपना कर्म-क्षेत्र बनाया, और अपना सारा जीवन इसी विश्व के कार्य पर निछावर कर दिया। अशोक भारतवर्ष के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव तथा प्राणि जगत् के थे, अतः उनके हृदय में एकमात्र भारतीय भाव और उसी की कल्याण कामना की प्रबलता न थी, अपितु वे विश्व भर के मङ्गलाभिलाषी थे।

मारकूस के समय की परिस्थिति पर लक्ष्य करते हुए प्रोफेसर कारपेन्टर का कहना है (J. R. A. S., p. 807, 1925.) कि

"यदि अशोक को अपनी वर्तमान सरकार के प्रति विद्रोहियों तथा षडयंत्रकारी दलों का सामना करना पड़ता तो वह क्या करता ?" किन्तु प्रोफेसर साहब को याद रखना चाहिये कि सम्राट् अशोक के समय में भी ऐसे ही विद्रोही अथवा षड्यंत्रकारी जङ्गली जातियों—जिन्हें अशोक के लेखों में अटवी जाति कहा गया है—के दल वर्तमान थे, जिनके कारण अशोक को अवश्य चिन्ता रहा करती थी, किन्तु सम्राट् अशोक उन लोगों को क्षमा करते गये, यही क्षमा-दान सम्राट् का उनके लिये दंड था। सम्राट् स्वयं कहते हैं—"यो पि च अपकरेयति क्षमितिवमते वा देवानांप्रियसा यां शको क्षमनिये।" अर्थात् देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार भी करे, वह भी क्षमा करने के योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके।" अतः सम्राट् उपद्रवी जङ्गली अटवी जाति के प्रति कहते हैं, कि "वे अटवी अथवा वन-निवासी भी, जो देवताओं के प्रिय के विजित प्रदेश में हैं, उन्हें भी वह अपनी ओर लाने को मनाता है। उन्हें यह समझा दिया गया है कि सम्राट् के अनुताप अथवा पछतावे में भी देवताओं के प्रिय की कितनी शक्ति है, जिससे वे अपने कर्मों पर लज्जित हों और मारे न जायँ (विनष्ट न हों)। निःसंदेह देवताओं का प्रिय सर्वप्राणियों की अक्षति, संयम, समानता (अपक्षपातिता) और प्रसन्नता (सुख) का अभिलाषी है।"

इस वृत्त से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट् का आदर्श कितना विशाल था, वे उपद्रवी, विद्रोही, अटवी जाति को क्षमा कर उनके दण्ड की अवहेलना करते हैं। सम्राट् प्रत्येक ढङ्ग से यह प्रयत्न करना चाहते हैं जिससे सारा संसार सुखी रहे, प्रसन्न रहे, और किसी को भी हानि न पहुँचे तथा दुःख न हो। अतः विद्रोही होने पर भी इसी "अक्षति" के सिद्धांत पर अटल रह सम्राट् उन्हें केवल क्षमा के शस्त्र से सुपथ पर लाना चाहते थे।

अतः प्रो० कारपेन्टर की धारणा निर्मूल ही प्रतीत होती है। कारपेन्टर के उपरोक्त कथन का एन० सी० गांगोली ने भी बहुत ही सुन्दर उत्तर दिया है। वे लिखते हैं—"मारकूस की भाँति व्यवहार करने से प्रथम अशोक सिंहासन को ही त्याग देता" अतः प्रकाशित है कि अशोक और मारकूस की आध्यात्मिकता तथा आदर्श में बहुत भारी अन्तर था। मारकूस जब कि रोम राज्य के हितार्थ न्याय, अन्याय, धर्म तथा अधर्म, करने को प्रस्तुत था, सम्राट् अशोक विश्व-कल्याण के लिए अपने अपकारियों को भी क्षमा करते जाते थे, क्योंकि सर्वप्राणियों का सुख, प्रसन्नता, मङ्गल एवं "अक्षति" ही उनका परम धर्म तथा सिद्धांत था।

श्री मैकफिल कहते हैं कि एल्फ्रेड के साथ अशोक का सादृश्य किया जाना स्वाभाविक है, (J. M. Macphail, p. 80)। यह ठीक है कि एल्फ्रेड (Alfred) अशोक से अधिक जीवन पर्यन्त एक सैनिक योद्धा की तरह रहा है, किन्तु क्या इसी कारण अशोक और एल्फ्रेड समान महानता के हो सकते हैं? एलफ्रेड ने शस्त्र से युद्ध किया और तब भी उसकी विजय की सीमा अत्यन्त संकुचित रही, जब कि अशोक की सैनिकता कलिङ्ग-शस्त्र युद्ध से पूर्णतया स्पष्ट है। यद्यपि इसके अनन्तर अशोक ने शस्त्र द्वारा विजय करना छोड़ दिया—उनका भेरीघोष, धर्मघोष हो चला, और अब से जो भी विजय सम्राट् ने की वह धर्म से ही की, किन्तु उन्होंने कई विजय प्राप्त की, इसमें संदेह नहीं। सम्राट् स्वयं कहते हैं, "देवताओं का प्रिय धर्म-विजय को प्रमुख विजय मानता है। यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय की यहाँ, सब जगह, तथा सीमांत प्रदेशों में छः सौ योजन तक......प्राप्त हुई है" और सम्राट् उन सब देशों के १३वें शिला-लेख में नाम गिनाते हैं, जहाँ-जहाँ उन्होंने यह विजय प्राप्त की थी। अतः सम्राट् की महानता का प्रथम कारण यही है कि जबकि एल्फ्रेड की वीरता और विजय की सीमा इङ्गलैंड तक ही सीमित रही,

सम्राट् अशोक को धर्म-वीरता की स्वस्ति पताका सफलता सहित विश्व भर को विजय करती जाती थी। श्री जे० एम० मैकफिल फिर कहते हैं, "The fact that he founded the English Navy would alone entitle him to enduring his fame" (J. M. Macphail's, Asoka, p. 80) कि अंग्रेज़ी नाविक शक्ति की नींव डालना ही उसके चिरकालिन् गौरव का हेतु है। हाँ, वस्तुतः अंग्रेज़ी जाति के लिये यह एक अत्यंत कल्याण का कार्य था, किन्तु क्या विश्व ने भी एल्फ्रेड के इस कार्य से को लाभ उठाया ? यदि एल्फ्रेड ने सामुद्रिक शक्ति का निर्माण किया तो वह अपनी जाति विशेष के हित ही किया, अतः अंग्रेज़ जाति वास्तव में उसे महान् कह सकती है। किन्तु अशोक सम्पूर्ण जगत के लिये महान् था, क्योंकि उसने कोई भी कार्य ऐसा न किया जो अकेले भारतवर्ष से सम्बन्ध रखता हो, जो भी कार्य सम्राट् ने किया वह विश्व के लिये और सर्व-कल्याण कामना से प्रेरित होकर ही किया। अशोक की महानता इसी में है कि उन्हें पक्षपात और जातीय भावनायें बिलकुल भी न छू पाई थीं, सम्राट् का सिद्धान्त ही "अपक्षपातिता"[1] तथा "सर्वकल्याण"[2] था। अतः यदि सम्राट् ने मनुष्यों और पशुओं के हित अपने राज्य में कोई मङ्गल का काम किया तो वही कार्य अन्यान्य देशों में भी सम्राट् द्वारा सम्पादित करवाया गया, (देखिये, द्वितीय शिलालेख)। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि अशोक के समय सामुद्रिक शक्ति किसी प्रकार क्षीण अवस्था में थी। महावंश तथा मेगास्थनीज का वर्णन, मौर्य्य सामुद्रिक शक्ति का नित्य उल्लेख करते हैं, तथा मेघास्थनीज के वर्णन से हमें यह भी ज्ञात है कि चन्द्रगुप्त मौर्य्य के समय जल-सेना अथवा सामुद्रिक सेना का एक स्वतंत्र विभाग था। इसके अतिरिक्त महावंश

---

[1] १३वाँ शिलालेख। [2] ६वाँ शिलालेख।

से सर्वथा प्रकाशित है कि अशोक के धर्म-प्रचार करनेवाले ताम्रपर्णी अथवा लङ्का को जल-मार्ग से ही गये थे।

मैकफिल पुनः कहता है—"In their zeal for Justice, and in their encouragement of learning and piety—that these two monarchs had most in common (J. M. Macphail's Asoka, p. 81);" यदि माना भी जाय कि एल्फ्रेड ने अशोक की ही भाँति न्याय के लिये पराक्रम किया, विद्या की उन्नति की और धर्म को बढ़ाया, किन्तु फिर भी अशोक का स्थान एल्फ्रेड से ऊँचा ही रहेगा। एल्फ्रेड अंग्रेज़ जाति के एक महाकाव्य का चरित्र है (Epic-hero) और अशोक ऐतिहासिक आर्य सम्राट् है। तथा हम यह भी कह सकते हैं कि अशोक का आदर्श एल्फ्रेड से काफी उन्नत था, उन्होंने आर्य-जाति तथा भारतवर्ष के ही लिये पराक्रम न किया अपितु सम्पूर्ण संसार के लिये कार्य करना उनका ध्येय था, और एल्फ्रेड ने जो कुछ भी किया वह अंग्रेज़ राष्ट्र और जाति के लिये ही किया। क्या हम पूछ सकते हैं कि एल्फ्रेड ने अशोक की भाँति इस आदर्श को लेकर काम किया कि "मैं जो कुछ भी पराक्रम करता हूँ, वह, इसीलिये कि मैं प्रजा के ऋण से उऋण हो सकूँ" (कलिङ्ग शिलालेख)। किसी भी सम्राट् ने अशोक की भाँति राजधर्म का पालन न किया, किन्तु साथ ही इससे भी अधिक अशोक के सर्वोच्च होने का कारण यह है कि अपनी प्रजा और आर्यों के अतिरिक्त, अन्यदेशीय प्रजा तथा सर्व-मनुष्यों के प्रति भी सम्राट् का समान ही भाव रहा है, (देखिये, कलिङ्ग-शिलालेख, जौगुडा)। संक्षेपतः एल्फ्रेड अंग्रेज़ था, वह अंग्रेज़ जाति का था और इङ्गलैंड की उन्नति ही उसका ध्येय था, किन्तु अशोक मानव था, उसका कोई निश्चित वर्ग न था, वह विश्व का था, और विश्व उसका था।

दूसरा ईसाई सम्राट् जिसकी तुलना अशोक के साथ की जाती है वह कार्लिमेग्न (Charlemagne) था। "अशोक की भाँति कार्लिमेगन चर्च का आधार-स्तम्भ था, धर्म-प्रचार के लिये वह अत्यंत पराक्रमशील था। सैक्सन को (Saxons) शस्त्र द्वारा विजय करने के साथ ही उसने उन्हें क्रिश्चियन धर्म—में परिवर्तित करना अपने जीवन का लक्ष्य बनाया" (J. M. Macphail, p. 81)।

यह ठीक है कि दोनों सम्राट् अपने-अपने धर्म के आधार-स्तम्भ रहे, इस विषय में दोनों की समता हो सकती है; किन्तु आदर्श के रूप में कार्लिमेगन अशोक से बहुत नीचे था। कार्लिमेगन शस्त्र द्वारा विजय करने के साथ ही लोगों को शस्त्र-बल पर धर्म-परिवर्तित कराने के पक्ष में था, किन्तु सम्राट् का आदर्श सब धर्मों का एकरूप से आदर तथा पूजा करने में है। १२वाँ शिलालेख लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों (पासंडों)...... ...का दान और अनेक प्रकार की पूजा से उनका आदर करता है। देवताओं का प्रिय दान अथवा पूजा को इतना मूल्यवान नहीं मानता, जितना कि वह यह चाहता है कि सब धर्मों की सारवृद्धि हो।.........जो कोई अपने धर्म का सम्मान और दूसरे धर्म का अनादर करता है, वह केवल अपने धर्म की (अंध-भक्तता) भक्ति से ही करता है।.........किन्तु ऐसा करने से, इसके विपरीत वह अपने धर्म को और भी हानि पहुँचाता है। इसलिये परस्पर का मेल स्तुत्य (उत्तम) है।.........
निःसंदेह, देवताओं के प्रिय की यही इच्छा है कि सब सम्प्रदायवाले भव्य ज्ञान वाले हों, सुन्दर सिद्धान्तों के हों (जिससे सबका कल्याण हो)।.........देवताओं का प्रिय दान अथवा बाह्य पूजा को इतना नहीं मानता, जैसा कि क्या ? कि सब धर्मवालों की सारवृद्धि हो, और सब धर्मों की बड़ाई हो (उच्च बनें)।" अतः सम्राट् के इस अनुशासन से सर्वथा प्रकाशित होता है कि कार्लिमेगन और अशोक के मध्य

कितना अन्तर था। कार्लिमेगन अपने धर्म का पूरा पक्षपाती था। सैक्सन को शस्त्र-बल द्वारा वह दोनों रूप से विजय करना चाहता था अर्थात् प्रथम राज्य-अपहरण करने के उपरान्त वह उनके मूल धर्म का भी अपहरण करने में प्रगतिशील था एवं यही उसके जीवन का लक्ष्य था। किन्तु अशोक की धार्मिकता शुद्ध थी, उसमें कोई धर्म के प्रति असहिष्णुता का भाव न था। अपितु सम्राट् दूसरे धर्मों की निन्दा करना अथवा उनको बुरा कहना धार्मिक व्यसन तथा धार्मिक ह्रास का कारण समझते थे। सम्राट् ने कभी अपने धर्म का पक्ष न ग्रहण किया। उनका कहना था, "बिना किसी अर्थ के ओछापन न दिखलाया जाय" तथा "अन्य धर्म भी कई प्रकार से आदर के पात्र हैं" और सम्राट् शिक्षा देते हैं कि" दूसरों के धर्म का आदर करने से "अपने धर्म की अभिवृद्धि और दूसरे के धर्म का कल्याण होता है," अतः सम्राट् धर्म के प्रति पूर्णतया निष्पक्ष थे, वे सब धर्मों का कल्याण एवं श्रीवृद्धि के अभिलाषी थे, इसी हेतु सम्राट् कहते भी हैं— "परस्पर का मेल स्तुत्य है।" यहाँ पर हमारा केवल यही प्रश्न है कि क्या कार्लिमेगन ऐसा उच्च आदर्शवादी और धार्मिक सहिष्णुता-वाला था, तथा क्या उसका सिद्धान्त सर्वकल्याण एवं सर्व सम्प्रदायों की श्रीवृद्धि क्या, या केवल एक निज क्रिश्चियन धर्म के लिये ही वह शस्त्र-बल भी काम में लाना चाहता था? यदि वस्तुतः उसका जीवन एक क्रिश्चियन धर्म के लिए ही अर्पित था और अन्य सम्प्रदायों के प्रति वह विमुख था तथा यदि सर्वमङ्गल उसका ध्येय नहीं रहा, तो केवल क्रिश्चियन धर्म के प्रति उसका अद्वितीय पराक्रम और जीवन का अर्पण करना उसे अशोक के साथ एक ही स्थान पर आसन्न नहीं करा सकता। कार्लिमेगन् अशोक के सामने उस नक्षत्र की भाँति है जो सूर्य्य के प्रकाश के समक्ष सहसा छिप (छिप) जाता है। किन्तु हम मान सकते हैं कि एक शासनकर्त्ता के रूप में ये दोनों सम्राट् परस्पर बहुत कुछ समानता रखते थे। अशोक की भाँति ही कार्लि-

मेगन का साम्राज्य प्रदेशों (मण्डल = Districts) में बँटा हुआ था। इन प्रदेशों के शासक कौन्ट्स (Counts) हुआ करते थे जो अशोक के कुमारों के सानुरूप हैं। इन कौन्ट्स पर कुमारों की भाँति सुव्यवस्थित शासन का उत्तरदायित्व था। सीमान्त प्रदेशों के लिये कार्लिमेगन ने "मार्कग्रेफिन्" नियुक्त किये थे, इन मार्कग्रेफिन को श्री मैकफिल ने (मैकफिल-अशोक, पृष्ठ ८१), अशोक के अंत-महामात्रों से मिलाया है। किन्तु वस्तुतः यह ठीक नहीं है, कार्लिमेगन के मार्केफेगन् कौटिल्य के अंत-पाल से ही मिलाये जा सकते हैं, क्योंकि मार्केफेगन् का कार्य सीमान्त की रक्षा करना था और इसी हेतु उनकी अध्यक्षता में क़ाफ़ी सैन्य रहा करती थी; किन्तु अशोक के अन्त-महामात्र केवल सीमान्त प्रदेशों में धर्म के हित नियत किये गये थे, (देखिए स्तम्भ-लेख प्रथम और कलिङ्ग-शिलालेख द्वितीय); अत: अशोक के अन्त-महामात्र और कार्लिमेगन् के "मार्केफेगन्" आपस में नहीं तुल्यकृत किये जा सकते। सम्राट् के अंत-महामात्र, धर्म-महामात्रों के अनुरूप हैं, जिस प्रकार धर्म-महामात्रों को प्रजा तथा लोगों में धर्म-प्रचार तथा कल्याण कार्य करना था, उसी भाँति धर्म तथा कल्याण कार्य अंत-महामात्रों को अन्य सीमान्त प्रदेशों में करना होता था।

एक और सम्राट् जिससे अशोक का सादृश्य किया गया है, वह है—"ओमर खलिफ प्रथम" (Omar Khalif I —644 A. D.) ओमर कई प्रदेशों का विजेता था। वह एक शक्तिशाली और प्रभावशाली पुरुष था। उसका प्रभाव साम्राज्य के प्रत्येक विभाग पर स्थापित था तथा उसकी शक्ति का प्रभुत्व विशाल साम्राज्य के कोनों पर भी अपनी धाक जमाये था। उसने युद्ध में कभी भाग न लिया, किन्तु मदीना से ही वह सैन्य तथा शासन-कार्य का नियंत्रण किया करता था। वह यथेष्ट दूरदर्शी शासक था, उसने अपने साम्राज्य को बहुत

विस्तृत न होने दिया, क्योंकि वह समझता था कि साम्राज्य का अत्यधिक विस्तार साम्राज्य की शक्ति के प्रति कमज़ोरी का कारण है। उसका अरब राष्ट्र के प्रति यह आदर्श था कि वह बड़े-बड़े रईसों की एक श्रेणी हो जाय, और उसके प्रत्येक निवासी सैनिक हों। अतः स्पष्ट है कि एक वीर, निपुण, राजनीतिज्ञ सम्राट् होने पर भी ओमर का आदर्श बहुत ही संकुचित था, उसका एकमात्र ध्येय अरब राष्ट्र की उन्नति करना तथा उसे अमीरों का प्रदेश बनाना था। किंतु अशोक का आदर्श कभी भारतीय सीमाओं से बद्ध न रहा। अशोक के समक्ष सब प्रदेश "भारत" ही थे और अशोक ने जहाँ तक हो सका आर्य सीमाओं से परे अन्य वैदेशिक देशों में भी अमूर्त भारत की नींव डाली। अशोक केवल यही न चाहते थे कि उनकी प्रजा ही इहलोक तथा परलोक का सुख उपलब्ध करें, अपितु उनकी सच्ची अभिलाषा यह थी कि अन्य देशीय प्रजा अर्थात् सम्पूर्ण मानव का कल्याण हो, जिससे वे इहलोक तथा परलोक दोनों के सुख का लाभ उठा सकें। पुनः सम्राट् की यह कल्याण कामना अपनी प्रजा और अन्य देशीय प्रजा अथवा सर्वलोक तक ही सीमित न रही, किन्तु पशुओं एवं विश्व के जीवमात्र के प्रति भी उनकी यही लालसा थी, और इसी ध्येय के लिये सम्राट् ने आजीवन सफलता सहित कार्य किया, (देखिए, स्तम्भ-लेख पहला, दूसरा और कलिङ्ग-शिलालेख १, २)। सम्राट् का पवित्र उद्देश्य निम्न शब्दों में स्पष्टतः अंकित है। प्रथम स्तम्भ-लेख कहता है, "मेरा विधान (व्यवस्था, शासन अथवा नियम) इस प्रकार है—धर्म से पालन करना, धर्म से शासन करना, धर्म से सुख प्रदान करना और धर्म से ही रक्षा करना।" तथा ओमर के विपरीत सम्राट् का पुण्य सिद्धांत था, "कटिवय मते हि ये सवलोक हितं" (६वाँ शिलालेख) अर्थात् "सर्वलोक का हित करना ही मेरा कर्त्तव्य है।" अतः प्रकाशित है कि ओमर जब कि अरब की कल्याण कामना से पूर्ण था, अशोक सर्वकल्याण के लिये पराक्रम

करने में यत्नशील थे। इस हेतु यदि ओमर अरब का महापुरुष था तो अशोक विश्व के महान् पुरुष थे। सम्राट् अशोक अपनी इस विश्व-व्यापक सहृदयता एवं स्नेह के कारण सम्पूर्ण प्राणी वर्ग के स्नेहभाजन हो गये, किंतु ओमर इस बरदान को न पा सका। उसकी आर्थिक नीति (financial policy) मज़दूरों के विद्रोह का कारण हुई। ओमर जिसकी राजनीति लूट-खसोट को भी न्याय-संगत समझती थी कभी भी अशोक की बराबरी नहीं कर सकता। अशोक तो अपराधियों तथा अपकार करने वालों को भी क्षमा करता जाता था और ओमर गरीबों का, निरीह प्रजा का धन अपहरण कर राजकोष भरने में लगा था। क्या फिर ओमर अशोक के स्थान को पा सकता है? सम्राट् अशोक जो ओमर के विपरीत प्रजा का धन-अपहरण करने के बदले उन्हें धन आदि दान किया करते थे, तथा अपनी प्रजा को भी धर्म एवं धर्माचरण करना सिखाया करते थे।

दूसरा स्तम्भ-लेख कहता है, "मैंने (अशोक) बहुत प्रकार से चक्षुदान किया है। तथा जीवन-पर्य्यंत, मैंने दो-पद, चतुष्पद, पक्षियों और जल-निवासिनों के हेतु विविध तरह से अनुग्रह करने का आदेश दिया है। इसी भाँति अनेक भलाई के कार्य मैंने किये हैं।"

अतः स्पष्ट है कि जब कि सम्राट् अशोक सब की भलाई करने में तत्पर थे, ओमर अपने राजकोष के भरने में लगा था, श्री जे० एम० मैकफिल लिखता है—

"An immense amount of wealth poured into the treasury and plunder was, no doubt, regarded as being as legitimate as conquest."

"राजकोष में अतिशय धन आने लगा, और लूट निःसंदेह विजय की तरह न्याय-सङ्गत मानी जाने लगी।" (J. M. Macphail's Asoka, p. 82)। यही कारण है कि मदिना की मसजिद में

वह आर्थिक संकट से त्रस्त हुए एक मज़दूर द्वारा मार डाला गया।

पुनः कुछ विद्वान सम्राट् अशोक तथा अकबर की पारस्परिक तुलना करते हैं। माना कि अकबर एक अच्छा शासक था, तथा उसमें धार्मिक सहिष्णुता थी। किन्तु अशोक और अकबर की सहिष्णुता में यथेष्ट अन्तर है। अशोक की सहिष्णुता सैद्धान्तिक तथा निज उन्नत आदर्श—"सर्वलोकहित"—का कारण थी। किन्तु अकबर यह सब अपनी कुशल राजनीति की प्रेरणा से ही कर रहा था। तथा इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि अशोक फिर भी पूर्ण रूप से अन्य धर्मों के प्रति उदार न था और न अशोक की भाँति वह सर्व-धर्मों की सारवृद्धि का ही अभिलाषी था। अकबर के समय में एक नवीन धर्म "इलाही" नाम से जागृत हो रहा था। इस धर्म के मानने वालों के प्रति अकबर ने बहुत क्रूरता का व्यवहार किया। उसने इस धर्म के लोगों को बन्दी बना कर सिन्ध तथा अफगानिस्तान को भेजा, जहाँ पर ये लोग घोड़ों के मोल पर बेंच दिये गये। सम्राट् अकबर का "दीन-इलाही" भी केवल निज महत्ता तथा गौरवता के लिये था। अकबर का इस मत के प्रति कोई अधिक उत्साह न रहा, न उसने अशोक की भाँति उसके लिये अत्यधिक पराक्रम किया, अतः "दीन-इलाही" शाही-दर्बार से न बाहर फैल सका और न वहीं ज़िन्दा रह सका, अपितु अकबर के साथ ही उसका भी स्वर्गवास हो गया। इस बात को लक्ष्य कर श्री मैकफिल कहते हैं, "कम से कम इस विषय में अशोक और अकबर के मध्य की सादृशता में विरोध है।" (श्री जे० एम० मैकफिल अशोक, पृष्ठ ८४)।

सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचार तथा धर्म-विधान को लक्ष्य कर श्री मैकफिल पुनः कहते हैं—

"To nurse my children on the milk of truth is a description that applies more closely to Asoka's aim than to Akbar's."

अर्थात् धर्म से पालन करने के सिद्धान्त का कथन अकबर के अतिरिक्त अशोक के लक्ष्य को पूर्ण रूप से प्रतिपादित करता है (श्री मैकफिल अशोक, पृष्ठ ८४)। अशोक का वस्तुत: किसी भी मानवी इतिहास के राजा, महाराजा, सुलतान, शाह, शाहन्शाह, पादशाह और सम्राट् के साथ तुलना नहीं की जा सकती। अशोक सर्वोच्च थे, इतिहास-गगन के राजा, सुलतान, सम्राट् शाहन्शाह आदि नक्षत्रों के मध्य सम्राट् अशोक अकेला 'चन्द्र' है।

यूरोपियन विद्वान सिकन्दर, सीजर तथा नेपोलियन को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। कहा जा सकता है कि वे अशोक से भी अधिक निपुण शासनकर्त्ता तथा विजयी थे, किन्तु क्या इसी हेतु वे सर्वमहान् कहलाने के अधिकारी हैं? यही प्रश्न एच०जी० वेल्स ने भी पूछा है। सिकन्दर, सीजर तथा नेपोलियन के प्रति एच० जी० वेल्स प्रश्न करता है, "इन महापुरुषों ने मानवता के हितार्थ कौन-सी वस्तु प्रदान की?" इस प्रश्न का सरल उत्तर "ना" से दिया जा सकता है। मानवता का कल्याण करने के प्रति जैसे-जैसे उनकी शक्ति बढ़ती गई, उसी अनुपात से उनमें क्रूरता और अभिमान भी बढ़ता गया। सिकन्दर के प्रति वेल्स लिखता है कि जैसा वह महान् होता गया—"उसने अत्यधिक शराब पीना आरंभ किया और निर्भीकता-पूर्वक हत्यायें कीं। बैबीलोनिया में इसी अत्यधिक शराब पीने के कारण उसे एकाएक ज्वर आया और उसकी मृत्यु हो गई।" उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य भी क्षीण होने लगा। और उसकी स्मृति को जीवित रखने के लिये केवल एक रीति बच पाई। पहले लोग दाढ़ी रखा करते थे, किन्तु सिकन्दर का स्वाभिमान इतना अधिक था कि उसे अपने मुख को ढँका रखना पसन्द न आया। अतः उसने दाढ़ी को मुँडवा कर ग्रीस तथा इटली में एक नवीन फैशन का प्रचार किया। यह प्रथा बहुत शताब्दियों तक जीवित रही। यद्यपि यह फैशन अच्छी थी, किन्तु

मानवता के लिये यह विपुल महत्त्व का कारण न थी। किन्तु अशोक ने जो कुछ किया वह विश्व-कल्याण के लिये किया।

इसी भाँति निर्मूल ही सीज़र को अशोक से तुल्यीकृत किया जाता है। अशोक का जीवन जब कि एक साधु और धार्मिक था, सीज़र का जीवन पूर्णतया लालसा, आकांक्षा एवं भोग-लिप्सा से भरा था। ५४ वर्ष की उम्र में भी सीजर अपने को संयमित न रख पाया, मिश्र में जाकर वह वहाँ मिश्र की रानी किलोओपेटरा के प्रेम में जा फँसा। तथा यह कोलीओपेटरा रोम में भी एक साल तक सीज़र के साथ रही। सीज़र आकांक्षा और ऐश्वर्य की भूख से तड़प रहा था और यही आकांक्षा अन्ततः उसकी मृत्यु का कारण बनी। किन्तु अशोक का जीवन एक पुण्यात्मा का जीवन था। अशोक दूसरा गौतम बुद्ध था। सम्राट् का महान् सिद्धान्त था, "अक्षति च, संयमं च, समचेरां च, मादवं च"······अतः सर्वथा विदित है कि अशोक जो अन्य लोगों के संयम के अभिलाषी थे, स्वयं कितने संयमित न होंगे? तथा सम्राट् अशोक की कोई भी निजी आकांक्षा न थी और यदि कोई आकांक्षा या अभिलाषा थी तो केवल यही कि "सर्वकल्याण" हो।

इसी प्रकार नेपोलियन को भी एक सर्वमहान् सम्राट् कहा जाता है। इस पर वेल्स कहता है कि "वह (नेपोलियन) मानवता के लिये कार्य कर सकता था, और वह कार्य उसे इतिहास (गगन) का सूर्य बना देता······किन्तु इस अवसर के हेतु विशाल भावना की आवश्यकता थी।" अतः स्पष्ट है कि आदर्श तथा भावना की विशालता के रूप में संसार के सिकन्दर, सीजर और महान् नेपोलियन अशोक का सामना नहीं कर सकते। अशोक का हृदय विशाल, मस्तक उन्नत, और भावना सर्वकल्याण-कामना से परिपूर्ण थी। यही भावना और आदर्श सम्राट् को विश्व-मंगल के लिये जीवन-पर्यन्त प्रेरित करती रही। इसी आदर्श के लिये सम्राट् ने अपूर्व पराक्रम किया तथा अपने निजी

व्यक्तित्व को मिटा डाला। इसी सार्वलौकिकता के कारण आज अशोक का कोई भी सम्राट् अथवा मनुष्य सामना नहीं कर सकता। एच०जी० वेल्स के शब्दों में "वह सर्वमहान् सम्राट् था" (H. G. Wells, A Short History of the World, p. 90। वेल्स पुनः कहता है—"इतिहास के स्तम्भों में भीड़ करनेवाले हजारों, करोड़ों राजाओं और सम्राटों के मध्य अकेला अशोक का नाम चमकता है। वोलगा से लेकर जापान तक आज भी अशोक का नाम आदरणीय है। चीन, तिब्बत और भारत भी, यद्यपि अब वह (भारत) उसके सिद्धांतों को नहीं अंगीकार करता, आज तक अशोक की महानता की गाथाओं को सुरक्षित सम्भाले है, जब कि कौन्स्टन्टाईन और कार्लिमेगन का कोई नाम भी नहीं जानता। अशोक की स्मृति आज भी विपुल मनुष्यों के हृदयों पर अंकित है।" निःसंदेह अशोक मानव-अवतार हो चुका है, अशोक का जन्म ही शायद भगवान् कृष्ण, गौतम और राम की भाँति "परित्राण" के हेतु हुआ था। मानव-जाति तथा प्राणिमात्र के हितार्थ उसने अद्वितीय कार्य किया, और सबसे महान् बात अशोक की यह है कि जो कुछ उन्होंने कहा वह किया भी। अतः श्री मैकफिल सत्यशः उक्ति करता है कि अशोक की तुलना प्राचीन काल के किसी भी राजा से नहीं की जा सकती है—(J. M. Macphail's Asoka, p. 84)। वह पुनः कहता है—

"In the history of one of the great religions of the world, the greatest of all the non-Christian religions, if reckoned by the number of human lives it has influenced—Asoka holds a place of importance second only to that of the founder himself. In this way he perhaps stands nearer to Paul than to any other historical character."

अर्थात् अशोक 'धर्म' के रूप में दूसरा भगवान् बुद्ध है तथा इस अर्थ में वह सेंट पौल के सानुरूप है। ईसा मसीह का सिद्धांत यद्यपि

सार्वलौकिक तथा सर्वकल्याण एवं मंगल के लिये था, किन्तु उसके अनुगामियों ने इस तथ्य का निरूपण न कर पाया। अतः कुछ समय तक यह भय बना रहा कि कहीं क्रिश्चियन धर्म जुडाइज़्म (Judaism) के नवीन मत में परिभ्रष्ट न हो जाय, यद्यपि जुडाइज़्म मत सांस्कृतिक तथा उदार था, किन्तु फिर भी उसमें व्यावहारिक और वर्गीय, पक्षपात भरा हुआ था। इस जातीय अथवा वर्गीय पक्षपात को मेटने वाला सेंट पौल (St. Paul) ही हुआ है। अन्य क्रिश्चियन आचार्य भी इस बात के लिये तैयार थे कि चर्च का दर्वाज़ा भिन्न तथा अन्य-देशीय लोगों के लिये खोल दिया जाय। किन्तु पौल ने कहा कि क्रिश्चियन चर्च का कोई भी दर्वाज़ा नहीं, क्योंकि वहाँ कोई दीवाल ही खड़ी नहीं है। अब प्रत्येक विभाग तोड़ डाले गये हैं तथा परमात्मा की दृष्टि में हर प्रकार की विभिन्नता मिटा दी गई है। परमात्मा का प्रेम उसी भाँति स्वच्छंद तथा सबका आलिंगन करने वाला है जैसा कि नीलाकाश। भगवान् का अनुग्रह तथा प्रसाद उसी प्रकार स्वच्छन्द है जैसी कि वायु जिसमें हम साँस लेते हैं। क्राइस्ट ईसा मसीह के समक्ष न कोई यहूदी है, न कोई यूनानी, न कोई बँधा है, न स्वतंत्र और न कोई स्त्री है न पुरुष।"

इसी भाँति क्रिश्चियन धर्म की तरह यद्यपि गौतम का धर्म सार्व-लौकिक तथा विश्वहित के अर्थ था, किन्तु उसके अनुसरण करनेवालों ने उसको एक संकुचित वर्गीय धर्म बना डाला। किन्तु अशोक ने बौद्ध-विहार का द्वार सबके लिए स्वतन्त्र कर दिया और अब कोई भी व्यक्ति, किसी भी जाति तथा रङ्ग का तथागत की शरण ले सकता था। अशोक ने अपने पराक्रम द्वारा उसका सारे भारतवर्ष एवं अन्य प्रदेशों तक प्रचार करके, बौद्ध-धर्म को एक व्यापक धर्म में परिवर्तित कर विश्व-धर्म बना डाला। गौण-शिलालेख प्रथम ब्रह्मगिरि लिखता है, "......ढाई साल तक जब कि मैं उपासक रहा, मैंने अधिक पराक्रम (उद्योग) न किया। किन्तु एक साल से या एक

साल से ऊपर हुआ, मैंने सङ्घ की यात्रा की, तब से मैंने अधिक पराक्रम किया। अतः इस समय के अन्दर, जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से सम्बन्धित न थे, देवताओं से सम्बन्धित हुए (अथवा उनका देवताओं से सम्बन्ध स्थापित हुआ) पराक्रम का ही यह फल है।" इस वृत्त से स्पष्ट है कि सम्राट् ने धर्म के प्रति अपूर्व पराक्रम कर उसका भारतवर्ष में पूरी तरह प्रचार किया, अपितु १३वें शिलालेख में वे स्पष्टतः कहते हैं कि इसी धर्म-पराक्रम से उन्होंने भारत के अतिरिक्त सर्वत्र धर्म-विजय को उपलब्ध किया है। सम्राट् की धर्म-विजय का कारण यह न था कि उन्होंने धर्म में कुछ परिवर्तन अथवा संशोधन किया, किन्तु इसका कारण वस्तुतः सर्वधर्मों को सहिष्णुता का पाठ पढ़ा कर, धर्म के सारतत्व का सर्वत्र प्रचार करना था। अशोक का कहना था—"परस्पर का मेल स्तुत्य है। जिससे लोग एक दूसरे के धर्म को श्रवण करें और समझें। निःसन्देह देवताओं के प्रिय की यही इच्छा है कि सर्वसम्प्रदाय वाले सुन्दर सिद्धांतों के हों, जिससे सबका कल्याण हो······देवताओं का प्रिय सर्वधर्मों की सारवृद्धि को अच्छा मानता है", (१२वाँ शिलालेख)। सम्राट् अशोक ने लोगों को भली प्रकार यह ज्ञान करवा दिया कि धर्म का वास्तविक मूल, सामाजिक नियम तथा धर्म-विधि या क्रियायें नहीं हैं, अपितु सच्ची आध्यात्मिकता है जिसका सर्वगत प्रच्छन्न रूप है तथा सत्य धर्म व्यक्तिगत शुद्धता और सात्विक एवं संयमित आचरण पर निर्भर है। सम्राट् अशोक की दृष्टि में प्रत्येक धर्म समान थे, क्योंकि सम्राट् का विश्वास था कि सभी धर्म भावों की शुद्धता तथा आत्मा का विकास चाहते हैं। अतः सम्राट् ब्राह्मण, आजीविक, निर्ग्रन्थ, श्रमण आदि सबको अपनाये हुए थे। १२वाँ शिलालेख कहता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों (सवपासण्डानि पूजयति) चाहे वे गृहस्थी हों चाहे साधु (त्यागी—पविजितानि = परिव्राजक) वह सबका दान और अनेक प्रकार की पूजा से आदर करता

है।" अतः सम्राट् का धर्म पूर्ण रूप से स्वच्छन्द, सर्वगत तथा पक्षपातहीन था। इस प्रकार बौद्ध-धर्म को, पौल की भाँति सर्वगत बनाने का श्रेय अशोक को ही प्राप्त है। निःसन्देह सम्राट् का धर्म वर्गीय या साम्प्रदायिकता से बिलकुल अलग रहा। अतः इसी अर्थ में पौल और अशोक परस्पर मिलते हैं। संक्षेपतः अशोक तथा पौल दोनों ही मानवता के पुजारी हुए हैं। उनके धर्म-सिद्धान्त जाति की अपेक्षा सर्व मनुष्यों के लिए थे।

उपसंहार में भारतवर्ष ने अशोक के चारुशासन से निःसन्देह अत्यधिक लाभ उठाया। सम्राट् के धर्म-प्रचार के फलस्वरूप ब्राह्मणों की प्रभुता जाती रही और अब तक जो लोग धर्म के उपभोग से वञ्चित थे, उनके लिये भी अशोक ने धर्म का द्वार खोल दिया। अतः सब मनुष्यों में एकता स्थापित हुई, और ऊँच-नीच का भाव जाता रहा। फलतः अब किसी में वह शक्ति न अवशेष रही कि वेद-मन्त्र के श्रवण करने वाले किसी शूद्र के कानों में गला हुआ सीसा डाल सके।

ब्राह्मणों ने यह नियम बना रक्खा था कि यदि कोई शूद्र इच्छा-पूर्वक वेद-पाठ के समय मन्त्रों को सुने तो उसके कानों में गला हुआ सीसा डाल दिया जावे। यदि वह (शूद्र) वेद-मन्त्र का उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट डाली जाय। यदि वह मन्त्रों को स्मरण रखे तो उसका शरीर दो भागों में छिन्न कर दिया जाय, (देखिए—(Rhys David's Buddhist India, p. 118) किन्तु सम्राट् अशोक के धर्मानुशासन के फलस्वरूप सब मानव दास तथा भृत्य समानता को पा गये और इस प्रकार भारतवर्ष पूर्ण रूप से "आर्य" हो चला। ११वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, धर्मदान से बढ़कर और कोई दान नहीं है, धर्म का व्यवहार, धर्म का वितरण और धर्म के सम्बन्ध से बढ़कर और दान नहीं है, इसमें

निम्न बातें होती हैं—"दासों और वेतनभोगी नौकरों (भृत्यों) से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा आदि···।"

श्री भंडारकर[1] की सम्मति है कि अशोक के धर्म-प्रचार के फलस्वरूप पाली भाषा सारे भारतवर्ष को राष्ट्र-भाषा का रूप धारण कर गई, अतः इस समय सभी धर्म-ग्रन्थ तथा धर्म-लिपियाँ पाली भाषा में ही लिखी जाने लगीं।

पुनः सम्राट् के धार्मिक पराक्रम तथा उत्साह के परिणाम-स्वरूप भारतवर्ष ने अपनी कलाकौशल में भी अत्यधिक उन्नति की। सम्राट् अशोक ने अपनी धर्म-लिपियों को चिरस्थायी बनाना चाहा था। ५वाँ शिलालेख कहता है, "यह धर्म-लिपि इसलिये लिखवाई गई कि यह चिरञ्जीवी हो (चिलिथ्यकत्वा भवतु) और जिससे मेरे पुत्र, पौत्र तथा परपौत्र सर्वकल्याण के हेतु उसका अनुसरण करें।" इसी भाँति अन्य लेखों के अन्त में सम्राट् धर्म-लिपियों के चिरस्थायी होने की अभिलाषा प्रकट करते हैं। अतः अपनी धर्म-लिपियों को चिरस्थायी बनाने के हेतु सम्राट् ने पत्थर शिल्प-कला को अपनाया, फलस्वरूप इस कला ने अशोक के समय राजकीय संरक्षता पाने से उन्नति की सीमा का भी उल्लङ्घन कर दिया। अतः धर्म-लिपियों को खुदवाने के अभिप्राय से बड़े-बड़े शिला-स्तम्भ स्थापित कराये गये, शिलाओं एवं चट्टानों पर लेख लिखे गये, गुफ़ाओं का निर्माण किया गया तथा अन्य कई प्रकार की कला की वस्तुएँ निर्मित की गई जिनमें से बहुतों का कहीं दूसरा सादृश्य ही नहीं पाया जाता। समासतः अशोक का शासन भारत सहित सम्पूर्ण विश्व के लिये अत्यन्त कल्याणप्रद प्रमाणित हुआ। अशोक की महानता सर्वोपरि है जिनकी सहृदयता और स्नेह का अनुराग प्राणीमात्र एवं जीवमात्र तथा विश्व भर के लिये वायु की तरह स्वच्छन्द था।

---

[1]श्री भंडारकर अशोक, पृष्ठ २५७।

किन्तु सम्राट् की यह सार्वलौकिकता और आध्यात्मिकता भारत के राजनीतिक अपकर्ष का अवश्य कारण हुई। एच० जी० वेल्स लिखता है :—

"Such was Asoka, greatest of kings. He was far in advance of his age. He left no prince and no organisation of men to carry on his work, and within a century of his death the great days of his reign had become a glorious memory in a shattered and decaying India."

अर्थात् अशोक सर्वमहान् सम्राट् था। वह अपने युग से कहीं आगे था। उसके पश्चात् न कोई ऐसा राजा अथवा मनुष्यों की कोई परिषद (विन्यास) थी, जो उसके कार्य को आगे बढ़ा सकती, अतः उसकी मृत्यु के एक सौ वर्ष के अन्दर ही उसके शासन काल के उज्ज्वल दिवस, अस्तव्यस्त और क्षीयमान भारत की यशवसत् स्मृति में परिवर्तित हो गये।

कलिङ्ग युद्ध की भीषणता और अमानुषिक क्रूरता का अवलोकन कर अशोक का कोमल हृदय दुखी हो चला था और इसी समय से उन्होंने युद्ध न करने की घोषणा की थी। संसार की क्रूरता का सम्राट् बहुत दिनों से अध्ययन कर रहे थे, चौथा प्रज्ञापन (शिलालेख) लिखता है, "बहुत काल व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए कि होम के लिये पशुओं की बलि, जीवों की हिंसा और संबन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति बुरा व्यवहार बढ़ता ही गया। किन्तु आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण के फलस्वरूप, भेरीनाद (वीर-घोष) धर्म-घोष हुआ।" अतः स्पष्ट है कि सम्राट् ने संसार की क्रूरता से ही ऊब कर युद्ध करने का विचार छोड़ा था, और इसी हेतु वीर-घोष को उन्होंने धर्म-घोष में परिवर्तित कर डाला। सम्राट् ने शस्त्र द्वारा विजय करने का विचार अब हमेशा के लिये छोड़ दिया—

वे सर्वकल्याण के लिये धर्म-पराक्रम करने लगे, उनका आदर्श ही अब "सर्वलोक हित" एवं "सवभूतानां अछतिं च, संयमं च, समचेरां च, मादवं च......" था। अतः इसी सिद्धान्त के आदर्श पर सम्राट् का सर्वकार्य धर्मानुसार किया जाने लगा। अशोक अब धर्म-विजयी हुए। १३वाँ प्रज्ञापन (चतुर्दश शिलालेख) में सम्राट् कहते हैं, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा धर्म-विजय को प्रमुख विजय मानता है। यह विजय देवताओं के प्रिय को यहाँ (पाटलिपुत्र), सब जगह तथा सीमान्त प्रदेशों में छः सौ योजन तक, जहाँ यवनराज अन्तियोकस नाम का राज्य करता है और उस अन्तियोकस के बाद (परे) जो तुरमय, अन्टिगोनस्, मग, अलिकसुन्दर के राज्य हैं, वहाँ और, नीचे दक्षिण में चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी के राज्यों तक प्राप्त हुई है। इसी प्रकार सम्राट् के विजित राज्यों में, यवनों, कम्बोजों, नाभाक और, नाभितियों (नाभपंति), पैठानिकों, आन्ध्रों, पुलिन्दों, के राज्य में, सर्वत्र लोग, देवताओं के प्रिय के धर्माचरण का अथवा धर्मानुशासन का अनुसरण कर रहे हैं।"

इस वृत्त से सर्वथा प्रकाशित है कि सम्राट् महान् पराक्रमी धर्म-विजयी थे तथा उनकी विजय का शस्त्र भी यही मंगलमय धर्म ही था। सम्राट् इस धर्म-विजय को कितना चाहते थे यह उन्हीं के शब्दों में देखिये, "जो विजय अब तक इससे (धर्म से) प्राप्त हुई है—वह आनन्द अथवा प्रेम को पैदा करनेवाली है। धर्म-विजय से आनन्द प्राप्त होता है।........यह धर्म-विजय इहलोक तथा परलोक दोनों में आनन्द देने वाली है।" इसीलिये सम्राट् अपने पुत्र और परपौत्र को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि "मेरे पुत्र और परपौत्र शस्त्रों द्वारा विजय करने का, विचार न करें। उन्हें उदारता (शान्ति) और सहिष्णुता अथवा दंड-साम (मृदुता), में आनन्द मानना चाहिये। यदि उन्हें विजय में आनन्द आवे तो धर्म-विजय को ही विजय समझनी चाहिये। उसी विजय में आनन्द मानना चाहिये।"

अतः सर्वशः प्रकाशित है कि सम्राट् ने अपने आप तो शस्त्र से विजय करना छोड़ा ही था, किन्तु अपने पुत्र आदि को भी वे यही उपदेश कर गये। किंतु अशोक के बाद कोई राजकुमार या सम्राट् अशोक के सदृश महान् न हुआ जो धर्म-विजय को स्थिर रख सकता, यही कारण है कि अशोक के अवसान के साथ ही मौर्य्य-राष्ट्र का सूर्य भी पश्चिम की ओर ढलता गया और कुछ ही काल के अन्दर सम्पूर्ण मौर्य्य-राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो चला। इस राजनीतिक ह्रास का वस्तुतः यही धर्म उत्तरदायिन है। निःसंदेह धर्म के कारण विश्वमङ्गल तथा आध्यात्मिकता का भारत में अवश्य प्रकाश फैला और इन्हीं भावों में आर्य्य चरित्र का निर्माण होने लगा। अतः धर्म-तत्त्व से निर्मित होने के फलस्वरूप आर्य्य-मस्तिष्क की राजनीतिक कुशलता चल बसी, जिसके कारण आर्य-राजसत्ता पर बड़ा भारी आघात लगा। भारतवर्ष इसके पश्चात् कभी भी, फिर राजनीतिक प्रभुता को न उपलब्ध कर सका, अपितु इस काल से ही उसके गुलामी के दिनों का श्रीगणेश प्रारम्भ हो गया। इसके बाद न कोई चन्द्रगुप्त हुआ और न नीतिकुशल आचार्य कौटिल्य का ही भारत में पुनः प्रादुर्भाव हुआ। भारत अब धीरे-धीरे विदेशी जातियों के रक्त-शोषण का केंद्र स्थान बन चला; और उसकी प्रजा आततायियों के कठोर आघातों से पददलित होने लगी। भारत की उन्नत दार्शनिकता, तथा सर्वकल्याण के आदर्श का सबने तिरस्कार किया, अपितु उसकी आध्यात्मिकता समय के परिवर्तन के साथ मूर्खता समझी जाने लगी। वस्तुतः बात भी ऐसी ही थी, क्योंकि संसार जब कि संघर्ष चाहता है, विश्वशान्ति को वह फिर किस भाँति अपना सकेगा, जब कि पाश्चात्य संसार डिक्टेटर मुसोलिनी के शब्दों में विश्वशान्ति की अपेक्षा, व्यक्तिगत् युद्ध का इच्छुक है, तो शान्ति और धर्म से किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है? अतः यही उस समय में भी हुआ—भारत की विश्वमैत्री तथा सार्वलौकिकता के सिद्धान्त को किसी ने स्वीकार न किया और

अन्ततः वह भारत के अकल्याण तथा दासता का कारण हुआ। अशोक की मृत्यु के साथ ही, दुर्दिन की छाया भारत पर पड़ने लगी। भारतीय क्षितिज पर क्षय के चिह्न दिखलाई पड़ने लगे और वस्तुतः भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी क्षितिज पर राजनीतिक ह्रास का काला बवण्डर स्पष्टतः प्रकाशित होने लगा, और अशोक की मृत्यु के २५ वर्ष पश्चात् ही यह बवण्डर बैक्ट्रियन ग्रीक के हमलों में फूट पड़ा। इन्हीं आततायी यवनों ने विशाल मौर्य्य-राष्ट्र का, उत्तर-पश्चिमी सीमा से हिन्दूकुश को पार कर, प्रगल्भ चन्द्रगुप्त के निर्मित शक्तिशाली राज्य को ढाना आरंभ कर दिया। यह अशोक की नीति का परिणाम था ! श्री भंडारकर लिखते हैं, "यही कारण है कि कौटिल्य के बाद राजनीति तथा राजसत्ता का एकाएक ह्रास हुआ। वस्तुतः यह ह्रास उस अवसर पर हुआ जब कि मगध-राष्ट्र राष्ट्रीय भावनाओं और उच्च राजसत्ता का निर्माण कर सकता था। अशोक की नवीन नीति भारतीय राष्ट्र-निर्माण की कांक्षा तथा विश्व-व्यापक साम्राज्य बनाने की कांक्षा के लिये घातक प्रमाणित हुई।" (श्री भंडारकर अशोक, पृष्ठ २५८-५६) अतः अशोक के पश्चात् भारत विदेशी जातियों के पदों तले कुचला जाने लगा—यह वही भारत था, और वही मगध-साम्राज्य था, जिसके सैन्यबल की गाथा सुनकर ही सिकन्दर के मैसिडोनियन सैनिक प्राणों के भय से आगे बढ़ने की हिम्मत न कर सके ! वह भी समय था जब प्रवीर श्री चन्द्रगुप्त ने आततायी यूनानियों को पंजाब से खदेड़ बाहर किया था तथा जिसके समक्ष सिकन्दर के वीर जनरल सिल्यूकस ने अपना मस्तक नवाया और भेंट में स्वपुत्री प्रिय कन्या हेलन का मगध सम्राट् से विवाह कर दिया और स्वयं सिकन्दर ने भी भारत के एक युद्ध में मरणान्तक घाव का अनुभव किया था, तथा उसकी वहाँ पर मृत्यु भी हो जाती यदि उसके अन्य लोग घटनास्थल पर ठीक समय पर न पहुँच पाते। कैरिल ई० रौबिनसन सिकन्दर के इस भारतीय युद्ध को लक्ष्य कर कहता है :—

"Seriously wounded in the lungs he was rescued by his squires." (देखिये—Cyril E. Robinson—A History of Greece, p. 408).

सम्पूर्ण भारतवर्ष वीरता में खिला हुआ था। उस समय अकेला पंजाब का एक छोटा-सा राजा भी यूनानियों को आर्य्य वीरता का परिचय दिलाने को यथेष्ट था! पुलुटार्च लिखता है—"पोरस के साथ की लड़ाई से मैसिडोनियन सैन्य की सारी प्रगल्भता जाती रही, उन्होंने आगे बढ़ने से अनिच्छा प्रकट की, और जब सिकन्दर ने आगे बढ़ने की इच्छा प्रकट की तो सैनिकों ने दृढ़ता के साथ उसका विरोध किया। (Ancient India and its invasion by Alexander the Great—McCrindle, p. 410).

अतः प्रकाशित है कि एक समय मगध सैन्य का वह अतङ्क था कि यूनानी सैनिक नाम सुन कर ही त्रस्त हो गये थे। किन्तु सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचार के परिणाम-स्वरूप भारत ने शस्त्रधारियों के बीच अपने को निःशस्त्र कर, अन्य देशों को इस अपूर्व आध्यात्मिकता से अच्छा लाभ उठाने का अवसर प्रदान किया। भारत की अद्वितीय वीरता और प्रगल्भता धार्मिकता का रूप धारण कर गई। इसी धार्मिकता ने कई विदेशी जातियों को यहाँ आमन्त्रित किया और भारतवर्ष के विजय का द्वार सबके लिये स्वतंत्रतापूर्वक खोल दिया गया, अतः अब विदेशी जातियाँ, शक, पल्लभ, हुण, गुरजार भारतवर्ष पर भली प्रकार चढ़ाई करने लगे। छः शताब्दियों तक भारतवर्ष का यही हाल रहा। शुङ्ग और गुप्तों के सिवा ये वैदेशिक जातियाँ भारत के आर्य राजाओं और राज्यों सबको हड़प कर गईं। यद्यपि निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि भारत में बसने के थोड़े ही समय के पश्चात् ये अन्य देशीय जातियाँ आर्य्यत्व ग्रहण करने लगीं और वे पूर्ण रूप से आर्य्य (हिन्दू) हो चलीं। किन्तु आर्य राजसत्ता का लोप हो ही गया

और इसके पश्चात् भारतवर्ष की राजनीतिक दुर्दशा फिर कभी भी ठीक न होने पाई। भारतवर्ष हमेशा के लिये गुलाम हो गया। उसे अब कभी राजनीतिक सुख न पाना था।

उपसंहार—संक्षेप में यद्यपि अशोक की धर्मनीति के कारण भारतवर्ष का राजनीतिक क्षय अवश्य हुआ, किन्तु निःसंदेह उसने आर्यत्व के दो महान् सिद्धांतों अर्थात् "सार्वलौकिकता" तथा "मानवता" को अवश्य उपलब्ध किया। इस आध्यात्मिकता के आदर्श पर अपने एकाकी व्यक्तित्व को मिटा कर आर्य्य-जाति प्रच्छन्न-रूप धारण कर गई। यह सार्वलौकिकता यद्यपि भारत के लिये घातक हुई, किन्तु पाश्चात्य प्रदेशों को निःसंदेह उससे अत्यधिक लाभ उपलब्ध हुआ। भारतवर्ष ने अपने को दूसरों के उपभोग की सामग्री बना डाला जिससे अन्य देशों को खूब लाभ हुआ। भारतवर्ष ने दूसरों के हित अपने सुख का कभी विचार भी न किया। आज भी उसका धर्म स्वयं दुःख उठा कर दूसरों को सुख पहुँचाना है, क्योंकि उसका सिद्धांत ही नित्य "सर्वलोकहित" रहा है।

समासतः अशोक भारत के एक महान् सिद्ध तथा धर्मराज थे। अशोक को सिद्ध (prophet) कहते हुए हमें अमोस (Amos) के शब्दों का स्मरण हो आता है। अमोस ने कहा था—"मैं न कोई सिद्ध (prophet) था...और...न मैं किसी सिद्ध का लड़का ही था।" किंतु वह केवल एक चरवाहा था और फलों (Sycamore fruit) का एकत्र करने वाला था, किंतु जब वह गल्ले के पीछे चल रहा था, ईशू ने उसे पकड़ा, और उसे धर्म-प्रचार के लिये इजरिल (Isarel) भेज दिया।

इसी भाँति अशोक भारतीय सिद्ध था। वस्तुतः वह न सिद्ध था, न जन्म से ही वह सिद्ध रहा, वह तो केवल एक मनुष्य था, राजा था, किन्तु गौतम की प्रेरणा उसे धर्म-प्रचार के लिये प्रेरित करती गई।

अशोक की धार्मिकता भगवान् तथागत की कृपा का दान था और इस दान का अशोक ने बहुत ही सुन्दरता के साथ उपयोग किया।

अशोक पर भारतवर्ष का गौरव है और निःसंदेह प्रत्येक भारतीय युवक के लिये अशोक आदर्श हैं। आज यदि गिरा हुआ भारत पुनः जागृत होकर भारतवर्ष कहलाना चाहता है, यदि वह आर्य-पद फिर से प्राप्त करने का अभिलाषी है, तो उसके प्रत्येक बच्चों, पुत्र अथवा कन्या सब को अशोक बनना होगा। तथा आध्यात्मिकता, सार्वलौकिकता, विश्व-प्रेम एवं अहिंसा के सिद्धांतिक आदर्शों द्वारा खोई हुई प्राचीन गौरवता और स्वतंत्रता को पुनः विश्व-शांति, आध्यात्मिकता, सत्य तथा अहिंसा एवं अशोक की सार्वलौकिकता से ही फिर उपलब्ध करना होगा।

इसी आशय को लक्ष्य कर श्री जे० एम० मैकफ़िल लिखता है—

"He (Asoka) is part of the heritage of which India may well feel proud, and his example should inspire the young-men of India to-day with the 'noble ambition to spread, their lives for the moral and spiritual progress of their country and for the temperal and eternal welfare of their fellowmen." (J. M. Macphail's Asoka, p. 88).

संक्षेप में अशोक भारतवर्ष की प्राचीनतम अपूर्व निधि है।

दसवाँ प्रकरण

सम्राट् अशोक

"नस्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन"[1] (सम्राट् अशोक, ६वाँ प्रज्ञापन, मानसेरा)।

राजत्व एवं राजा की उत्पत्ति—भारतीय आत्मा निरंतर उन्नत आध्यात्मिकता एवं राजसत्ता के लिये उत्कंठित रही है। आर्य-जीवन के ये ही दो प्रतिनिधि हैं। भारत धर्म-प्रधान देश है। अतः आर्य-जीवन एवं कर्मक्षेत्र का प्रत्येक भाग धर्म से अनुरक्त रहा है। पाश्चात्य वैदेशिक जातियों की भाँति उसे दौत्यकर्म (Diplomacy) और दांभिकता (Hypocracy) से कभी संबन्ध न रहा। उसे तो केवल एक धर्म से ही तात्पर्य था, और यही धर्म सर्वदा उसके जीवन-पथ का आलोक बना रहा।

अतः उसकी राजनीति एवं राजसत्ता का भी मुख्य अंग धर्म था, अपितु धर्म ही राजा था, व्यवहार था, शासन था और नियम था, एवं विशाल आर्य जाति के हेतु तब राजा, दण्ड आदि राजनीति की कोई आवश्यकता न थी, उसका पूर्ण जीवन तथा शासन धर्म-बद्ध था इसी सत्ययुग के धर्मशासन का अभिनन्दन करते हुए महाभारत कहता है कि सत्ययुग में "न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो, न दाण्डिकः धर्मणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्" ॥१४॥ (राजधर्मानुशासनपर्व, ५६ अध्याय)

सत्ययुग में न राजा था, न राज्य था, न दंड था, और न दंडि था, किन्तु एक धर्म से ही प्रजा परस्पर अपनी रक्षा करती थी। महाभारत का यह पावन कथन भारतवर्ष के आदि उच्च एवं विशाल साम्यवाद

---

[1] अर्थात् सब लोगों के (अथवा जनता के) हित करने से अधिक करणीय (उपादेय) कार्य या कर्म कोई नहीं।

(Socialism) की ओर संकेत करता है। भारत आदि से साम्य-वाद का उपासक तथा प्रेमी रहा है। इसी साम्यवाद का दूसरा नाम धर्म-शासन है, अर्थात् वह शासन जिसके अन्तर्गत सभी मानव एक रूप थे, न कोई विशिष्ठ था, न निकृष्ट, न कोई धनाढ्य था, न निर्धन, न कोई किसी पर अत्याचार करता था और न किसी को पीड़ित करता था, अपितु सब लोग प्रसन्न थे। उन्हें राजकीय अत्याचारों और धनाढ्यों (Capitalists) के आतंक का कुछ भी अनुभव न था। सब लोग स्वतंत्र थे, कोई राजा न था, न रक्त-शोषण करनेवाली एवं प्रजा को सतानेवाली कपट राजनीति ही थी, केवल एकमात्र धर्म और धर्म का ही चारु मंगलमय शासन था। किन्तु आतंकवादी धनाढ्यों तथा मानुषिक दुष्टताओं के कारण यह साम्यवाद चिरंजीवी न हो सका।

इस मंगलमय साम्यवाद की मृत्यु का उत्तरदायित्व, द्रव्य के लोभी धनाढ्यों पर ही है। अतः कुचाली मनुष्यों के इस मोह के ही कारण ज्ञान का भी नाश हुआ। मनुष्यों की बुद्धी भ्रष्ट हो चली। फलस्वरूप धर्म का भी विनाश हुआ और लोग अधर्मी, पापी, स्वार्थी, एवं निज पेट के अनन्य उपासक हो चले। मनुष्य, मनुष्य की हिंसा कर अपना पेट भरने लगा, और प्रजा अन्याय एवं अधर्म से पीड़ित हो चली, विशिष्ट धनवान् अथवा आतंकवादी एवं अत्याचारी वर्ग का ही यह सब कारण था। महाभारत स्वयं कहता है, "...मोहवशमापन्ना मनुजा... प्रतिपत्ति विमोहाच्च धर्मस्तेषामनी नशत्।...मोहवश्या नरास्तदा...सर्वे लोभस्य वशमापन्नाः ॥१७॥ ...तांस्तु कामवशं प्राप्तान्, रागो नामाभि संस्पृशत् ॥१८॥" अतः इन लक्षणों को लक्ष्य कर महाभारत पुनः कहता है, "अगम्यागमनं...वाच्यावाच्यं... भक्ष्याभक्ष्यं...दोषादोषां च नात्यजन्"—फलतः महाभारत कहता है, "विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव वनासह ॥२०-२१॥" (महाभारत राजधर्मानुशासनपर्व, अध्याय ५६)।

अर्थात् धन आदि के मोह में पड़ने के कारण मनुष्यों का ज्ञान

नष्ट हो गया, और ज्ञान-नाश से धर्म भी नष्ट हो चला। सब मनुष्य लोभी हो गये, वे कामुक तथा रागवाले हो चले, फलतः उन्हें दोष, अदोष, गम्य, अगम्य, आदि किसी भी वस्तु का ज्ञान न रहा। अतः धर्म का इस भाँति विनाश होने से संसार में विप्लव मच गया अथवा मनुष्यों में अराजकता फैल गई। अतः इस अराजकता से सपूर्ण प्रजा भयत्रस्त हो चली। प्रजा का कोई रक्षण न हुआ, क्योंकि इस समय तक मनुष्यों के शासन के लिये कोई नियम अथवा दंड आदि न बने थे। अतः प्रजा में विप्लव होने के कारण प्रथम दंड-नीति अथवा राजनीति का प्रादुर्भाव हुआ। महाभारत राजनीति अथवा दण्ड की उत्पत्ति का इस प्रकार वर्णन देता है—वह लिखता है, मनुष्यों में विप्लव होने के कारण देवता लोग ब्रह्मा के पास जा कर इस विप्लव की शांति का उपाय पूछने लगे, इस पर महाभारत कहता है, ब्रह्मा जी ने "अध्याय सहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्। यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः"[1]—सौ हजार अध्यायों युक्त धर्म, अर्थ, काम पर एक ग्रंथ का अपनी बुद्धि से निर्माण किया। अतः प्रकाशित है कि प्रथमतः विप्लव के कारण ही इस अवस्था में ब्रह्मा ने राजधर्म आदि नीति का प्रणयन किया। प्रथम विप्लव एवं अराजकता ही राजनीति के जन्म का कारण थी।

राजा की उत्पत्ति—इस प्रकार हमें विदित है कि प्रजा की शांति एवं अराजकता को मिटाने के हेतु दण्ड की उत्पत्ति हुई। इस दण्ड-धर्म का महाभारत ने स्वच्छंदतापूर्वक अभिनन्दन किया है। महाभारत कहता है—"धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय" क्यों? इसीलिये कि धर्मकोविद अर्थात् धर्म-ज्ञाता लोग इसको "परं धर्मं मन्यन्ते" अर्थात् धर्म से युक्त व्यवहार, शासन, नियम, या दण्ड से प्रजा का पालन करने को धर्माभिज्ञ लोग उत्तम धर्म मानते हैं, (महाभारत, राजधर्मानुशासनपर्व, अध्याय ७१, श्लोक २४-२५)। अब इस धर्म के प्रणयन के अनंतर यह समस्या, उपस्थित हुई

[1] राजधर्म, शांतिपर्व, अध्याय ५९, श्लोक २९।

कि कौन इस धर्म-दण्ड या शासन को ग्रहण करेगा ? इसकी उत्पत्ति महाभारत स्वयं देता है। वह लिखता है कि इस समस्या की सिद्धि करने के हेतु—"देवाः सम्यागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम्। एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रैष्ठ्यं वै तं समादिश" ॥ ८७ ॥ देवता लोग विष्णु भगवान् के पास गये, और उन्होंने इस उत्तरदायित्व (प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व) के योग्य पुरुष के प्रति याचना की। अतः स्पष्ट है कि इसी उत्तरदायित्व अर्थात् प्रजा की रक्षा एवं विश्व की शांति के हित "राजा" का जन्म हुआ ! भगवान् मनु ने भी कहा है "अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्। रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम सृजत्प्रभुः ॥ (मनुस्मृति, ७वाँ अध्याय, श्लोक ३) अर्थात् "अराजकता के कारण विश्व के भयसंकुल एवं त्रस्त होने से सर्व प्रजा (चर-अचर) की रक्षा के लिये भगवान ने राजा को उत्पन्न किया।"

अतः सर्वथा सुप्रकाशित है कि राजतंत्र का अभिप्राय, सुशासन-धर्म व्यवहार एवं प्रजा की रक्षा और पालन करने से है तथा राजसत्ता की गौरवता, प्रजा के रक्षण एवं विश्व शांति पर ही निहित है। इसीसे महाभारत कहता है, "एष एव परोधर्मो यद्राजा रक्षति प्रजाः" (शांति-पर्व-राजधर्म, ७१ अध्याय, श्लोक २५)।

राजधर्म की महत्ता—इस राजधर्म की आर्य लेखकों एवं वृहस्पति, विशालाक्ष, महेन्द्र, मनु, भरद्वाज तथा राजशास्त्र के प्रणेता ब्रह्मा प्रभृति देवताओं ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। महाभारत कहता है—"एतत्ते राजधर्माणां नवनीतं वृहस्पतिर्हि भगवान्न्याय्यं धर्मं प्रशंसीत ॥ १ ॥ (शांतिपर्व, अध्याय ५८)। अर्थात् न्याययुक्त रक्षा करने से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। अतः पूर्वनिर्दिष्ट विवरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि भारतीय राजा अधीराज एवं स्वेच्छाचारी न होता था, प्रजा के हित के लिये ही उसका जन्म हुआ था और प्रजा की रक्षा करना ही उसका परम कर्त्तव्य तथा धर्म था। कौटिल्य भी कहता है, "जो राजा के सुख का कारण हो उसे राजा को मंगलमय न समझना चाहिये, किंतु जिस हेतु प्रजा हर्षित रहे,

उसे ही राजा को कल्याणप्रद समझना चाहिये" (कौटिल्य अर्थशास्त्र, १६वाँ प्रकरण, श्लोक ३६)। इस भाँति राजा को भारतीय राजनीतिज्ञों तथा धर्मकोविदों ने एक स्वच्छंद, स्वेच्छाचारी सुलतान नहीं माना है, किंतु आर्य-धर्मज्ञानी मुनि राजा को देवता मानते आये हैं, क्योंकि उसका कर्त्तव्य प्रजापति अथवा प्रजा के पालन करने एवं रक्षण करने का है। मनु कहता है—"ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥२॥ (अध्याय सातवाँ)। अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति के हित शास्त्र के अनुसार उपनयन संस्कार करके क्षत्रिय को सर्व देश अथवा जनपद की रक्षा नियम से करनी चाहिये। यह आर्य जाति का राजधर्म था और इसी आदर्श को ले कर राजा प्रजा के हित राजदंड एवं राजपद को ग्रहण करता था। तथा भारतीय राजा, मनुष्य के ऊपर देवता मान कर पूजा जाता था; क्योंकि मनु कहता है—"इन्द्रानिलयमार्काणमग्नेश्च वरुणस्य च ॥ चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥४॥ (सातवां अध्याय)। अर्थात् इन्द्र, पवन, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चंद्र, और कुबेर का सार रूप ही राजा है, इन्हीं सब देवताओं के अंश से परमात्मा ने राजा को उत्पन्न किया। अतः स्पष्ट है कि आर्य राजा का आदर्श देवता था। इस आदर्शवादी देवस्वरूप राजा को नित्य प्रातःकाल उठ कर ऋक्, यजु, साम तथा नीतिशास्त्र के ज्ञाता ब्राह्मणों के आदेशानुसार कार्य करना होता था, (देखिए, मनुस्मृति सातवाँ अध्याय, ३७ श्लोक, ब्राह्मणान्पर्युपासति प्रातरुत्थाय पार्थिवः ॥ त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने)। अर्थात् राजा को स्वच्छंदता का अधिकार न था, वह अपनी स्वेच्छाचारिता एवं कामचारिता के अर्थ कोई भी कार्य नहीं कर सकता था। समासतः प्रजा ही राजा द्वारा शासन कराती थी अर्थात् राजतंत्र प्रजा के हाथों से नियंत्रित किया जाता था। न्याय और दंड में भी राजा का कोई हाथ न था, भारतीय धर्मकोविद न्याय के चार मूल मानते हैं वेद, स्मृति, शिष्टाचार और विद्वान् ब्राह्मणों की सम्मति। मनु कहता है, "तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ॥ ब्रह्मतेजोमयं

दण्डमसृत्पूर्वमीश्वरः" ॥ १४ ॥ (मनुस्मृति) । अर्थात् सर्व प्राणियों की रक्षा करने वाले धर्म रूप पुत्र दंड को ब्रह्मा ने सर्वभूतों अथवा प्राणियों के प्रथम ही उत्पन्न किया । इस वृत्त से सर्वशः स्पष्ट है कि भारतीय राजा को न्याय एवं दंड को अपनी इच्छा के अनुसार बनाने और बिगाड़ने का अधिकार न था, किंतु उसको केवल उन नियोगों को कार्य रूप में लाना था, जिससे प्रजा का हित हो और वह सुखपूर्वक अपनी उन्नति कर सके ।

किन्तु खेद है कि हमें इस उन्नत राजत्व का मानवी इतिहास में बहुत कम दर्शन होता है, अपितु राजाओं के दुश्चरित्र, आतंक, क्रूरता एवं कामचारिता से इतिहास के पन्ने दूषित हैं, इन आतंकवादी राजाओं के कारण प्रजा किस प्रकार त्रस्त रही यह भारतीय भोली प्रजा का हृदय जानता है । भारतीय इतिहास राजाओं तथा अधर्मी शासकों की दुष्टता को नहीं भूल सकता । ऐसे ही अत्याचारी और आतंकवादी राजाओं से पीड़ित पृथ्वी की घायल प्रतिध्वनि अभी भी महाभारत के पन्नों में सिसकियाँ ले रही हैं, प्रजा को त्रस्त करनेवाले राजाओं से पीड़ित हो पृथ्वी कहती है, "न ह्यहं कामये नित्यमति क्रान्तेन रक्षणम्" ॥ ८७॥ (महाभारत, राजधर्मानुशासनपर्व, अध्याय ४६) । अर्थात् मैं उस राजा की रक्षा नहीं चाहती जिसने न्याय का अतिक्रमण अथवा उल्लंघन किया हो, अर्थात् मैं अत्याचारी राजा की संरक्षता में नहीं रहना चाहती; क्योंकि जो राजा धर्म तथा न्याय का उल्लंघन करनेवाला है, वह भला प्रजा की कैसे रक्षा करेगा ? अतः पृथ्वी स्वयं ऐसे राजा का तिरस्कार कर उसकी अवधीरणा करती है । इसी प्रकार राजधर्म के उल्लंघन करनेवाले अथवा अत्याचारी राजा के प्रति मनु भगवान् कहते हैं,"कामात्मा विषमः क्षुद्रो, दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७॥ दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः, धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥ (मनुस्मृति, सातवाँ अध्याय) । अर्थात् जो राजा विषयी अत्याचारी, क्रोधी (क्रूर) और छली होता है वह स्वयं दंड अथवा अधर्म के कारण नष्ट हो जाता

है। दंड (राजधर्म) विशाल एवं तेजस्वरूप है, अतः दुष्ट अत्याचारी अथवा अशुद्ध आत्मा से उसका पालन नहीं हो सकता और अन्ततः यही दंड, अत्याचारी तथा राजधर्मरहित राजा को पुत्र एवं बंधु समेत नष्ट कर देता है। अत्याचारी राजाओं के प्रति महाभारत भी निम्न आदेश करता है, दुर्जते नृशस राजा अधिकारच्युत किया जा सकता है। वह राजा जो अपनी निरीह प्रजा की रक्षा करने के प्रति उसे पीड़ित करता है, उस राजा को पागल कुत्ते की भाँति मार डालना चाहिये (Mbh, II 5, 114, Cambridge History of India, Volume I, Chapter XIX)। इस सिद्धांत का प्रतिपादन महाभारत "राजा वेन" का उदाहरण देकर कर देता है। यह वेन नाम का राजा राजधर्म का उल्लंघन कर प्रजा पर अत्याचार किया करता था, अतः महाभारत कहता है, "तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम्। मन्त्रभूतैः कुशैर्जघ्नु ऋषयो: ब्रह्मवादिनः ॥६४॥ (महाभारत शांतिपर्व, राजधर्म, अध्याय ५६) अर्थात् रागद्वेष वाला होने से यह वेन राजा प्रजा के धर्म से विचलित हो गया, अर्थात् प्रजा की रक्षा न कर उसे सताने लगा, इसलिये मंत्रयुक्त कुश से ऋषियों ने उसे मार डाला। इसी प्रकार अत्याचारी होने के कारण मारे गये राजाओं का भगवान् मनु ने भी उल्लेख किया है—"वेनो-विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः, सुदासो यवनश्चैव सुमुखोनिमि-रेव च।" (मनुस्मृति ४१, ८)। वेन, नहुष, यवनराज, सुदास, सुमुख तथा निमि ये सब अत्याचारी होने के कारण एवं अविनय से राज करने के हेतु नष्ट हुए, किन्तु इतना होने पर भी कोई राजा अपने को अत्याचार करने तथा प्रजा को पीड़ित करने से न रोक सका, नष्ट होते हुए भी वे प्रजा को पीड़ित करते गये। परन्तु इन्हीं अत्याचारी राजाओं, सम्राटों, एवं शासकों के मध्य एक महान् शासक का उदय हुआ, जिसका धर्म-शासन आज भी भारत तथा विश्व को प्रकाशित कर रहा है। भारतीय इतिहास-क्षितिज का यह हीरकनक्षत्र कुसुम आज उदय काल के ढाई हज़ार वर्ष के अनंतर भी उसी नूतन

कात में प्रकाशमान् है। उस यशस्वी धर्मराज का धर्मानुशासन आज भी भारतीय हृदयों पर स्नेह का आधिपत्य जमाये है, एवं बुद्धधर्म-अनुशासन की कोमल वाणी आज भी प्राचीन शिला-अवशेषों में कोमलता से प्रतिध्वनित हो रही है, वह शिलाखंडों में गुँजती हुई ध्वनि कह रही है, "नस्ति हि क्रमतर सवलोक हितेन"—सब लोगों के हित से बढ़कर अन्य कोई उपादेय कर्म नहीं—यह निर्मल पावन स्नेह-स्मित वाणी धर्मराज भिक्षुक अशोक की है। महान् अशोक आज भारत, तिब्बत, चीन प्रभृति देशों में इसी धर्मानुशासन के कारण अभी जीवित हैं और अन्त पर्यन्त जीवित रहेंगे।

राजधर्म और अशोक—अशोक का जन्म ज्ञात होता है, महाभारत में वर्णित राजधर्म के संपादन के हेतु हुआ था। विश्व के नेपालियन, सीज़र, और सिकन्दर जब कि आकांक्षा की भूख से तड़प कर प्रजा को पीड़ित करते गये, सम्राट् अशोक गौतम के शिष्य बन, विश्वकल्याण करने में चिंताशील थे। सम्राट् अशोक के नियोगों की यदि महाभारत के राजधर्म से तुलना की जाय जो स्पष्ट हो जायेगा कि महाभारत में उल्लेखित राजधर्म ने अशोक के शासन में ही सफलता प्राप्त की, अतः कह सकते हैं अशोक हो धर्मी राजा पृथु थे। सम्राट् के शब्द हैं, "सब मुनिसा मि पजा[१]"—सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं। मनु के नियोग से सम्राट् के इन वाक्यों की तुलना कीजिए—"स्याचाम्नाय-परोलोके वर्त्तेत पितृवन्नृषु" (मनुस्मृति ८०, अध्याय ८), अर्थात् राजा को अपने प्रदेश के मनुष्यों के साथ पिता के सदृश स्नेह का व्यवहार करना चाहिये। पुनः महाभारत का यह नियोग—"प्रिया-प्रिये परित्यज समः सर्वेषु जन्तुषु" (महाभारत, राजधर्मानुशासनपर्व, १०४, ४९)—सम्राट् के निम्न सिद्धांत में चरितार्थ होता है—"सवेन हित सुखेन......इच्छामि" मैं सबका हित और सुख चाहता हूँ। पुनः सम्राट् अशोक के निम्न अनुशासन को महाभारत के अनुशासन से समीकृत कीजिए—सम्राट् कहते हैं, "इयं धंमेन पालना, धंमेन विधेन,

---

[१]कलिंग-शिलालेख, जौगुडा।

धमंमेन सुखयना धमंमेन गोती ति" (प्रथम स्तम्भ-लेख); साथ ही महाभारत कहता है—"यदह्मा कुरुते धर्मं प्रजा धर्मेण पालयन्। दशवर्ष सहस्राणि तस्य भुङ्क्ते फलं दिवि"—अतः स्पष्ट है कि सम्राट् और महाभारत का अनुशासन एक है, दोनों ही प्रजा की रक्षा, पालन, वृद्धि, सुख सब धर्म के द्वारा ही करने का आदेश करते हैं। सम्राट् का राजधर्म कितना विशाल था, यह अशोक की वाणी की निर्मलता स्वयं प्रदर्शित करती है, सम्राट् कहते थे कि मैं "सवभूतानां अछतिं च, सयमं च, समचेरां च, मादवं च"—सर्वप्राणियों की अछति, संयम, समव्यवहार, और सुख का अभिलाषी हूँ, सम्राट् का यह राजधर्म कितना अपूर्व था, यह उनकी सरल शब्दावली से सर्वशः सुप्रकाशित है। इसके अतिरिक्त सम्राट् का एक और महान् सिद्धांत था—"अपकरेयति छमितवियमते वो देवन प्रियस य शको छमनेय" (१३वाँ शिलालेख); अर्थात् अपकार करने वाले को भी यदि हो सके तो क्षमा किया जावे, सम्राट् का यह अद्वितीय राजधर्म उनकी कीर्ति और शासन को अमर कर गया है। पराक्रमी कलिङ्ग के विजेता सम्राट् प्राणियों के अहित की आशङ्का से उपद्रवी अटवी जाति को केवल क्षमा एवं धर्म से ही सुपथ पर लाना चाहते हैं। सम्राट् का सैन्य बल तथा पराक्रम सीज़र से कोई कम न था। सीज़र—"आया (Veni), उसने अवलोका (Vedi) और (Vici) विजय किया"—किंतु अशोक ने प्रथम विजय किया और तत्पश्चात् देखा। उनका हृदय दुःखित हो चला, वे गौतम के शरण में चले गये, और प्रजाके पालन, रक्षण एवं सुख का विधान करते हुए, कलिङ्ग के अमानुषिक कृत्य का प्रायश्चित करने लगे। कलिङ्ग युद्ध के अनन्तर सम्राट् अपने विशाल राजधर्म का पालन करने में कभी न चूके, और नित्य इसी नियोग अर्थात् "इअ च प सुखयमि परत्र च स्पग्रं अरधेतु ति"—कुछ प्राणियों को इहलोक में सुख पहुँचाऊँ, जिससे परलोक में वे स्वर्ग प्राप्त कर सकें; पर निज राजधर्म का पालन करते गये।

शासक अशोक—अशोक के राज़धर्म का उच्च आदर्श का

निरूपण कर हमें विदित हो चुका है कि अशोक का शासन प्रजा के पक्ष में था। अतः अशोक एक स्वेच्छाचारी अधिराज न था, किन्तु साम्राज्य का वह प्रथम एवं प्रमुख सेवक था।

सम्राट् अशोक की राजसत्ता का आधार डिवाइन राइट की (Divine right) थ्योरी (Theory) पर निहित न था। अपितु सम्राट् की राजसत्ता सोशियल कॉन्ट्रैक्ट की थ्योरी (Social Contract Theory) से उद्भूत हुई थी। डिवाइन राइट के अनुसार राजा अपने भले और बुरे कर्मों के लिये प्रजा का उत्तरदायित्व नहीं है, इस थ्योरी के रूप में राजा के ऊपर केवल ईश्वर का उत्तरदायित्व है, क्योंकि ईश्वर ने ही स्वर्ग से राजा को मृत्यलोक में लोगों पर शासन करने के लिये भेजा है। परंतु सोशियल कॉन्ट्रैक्ट थ्योरी के अनुसार राजा केवल इसीलिये शासक है, तथा उसे प्रजा से कर लेने का तभी अधिकार है जब कि वह प्रजा की रक्षा करे। अर्थात् प्रजा और राजा के मध्य एक समझौता-सा है; जिसके अनुसार प्रजा राजा को कर देती है और राजा को इसके प्रतिकार में प्रजा का रक्षण करना पड़ता है। अतः इस थ्योरी के अनुसार, राजा, प्रजा का उत्तरदायिन है। यही थ्योरी सम्राट् अशोक की भी थी। अशोक ने अपने को कभी अधीश्वर के रूप में न लिया, वह हमेशा इस बात का विचार रखता था कि प्रजा के अनुग्रह से ही वह राज्य का अधिकारी है तथा प्रजा के ऊपर उसके शासन करने का तभी तक अधिकार है जब तक कि वह प्रजा को सुख और शन्तिदायक एवं न्यायपूर्ण शासन प्रदान कर सकता है। इसी हेतु सम्राट् हमेशा इस बात का विचार रखते थे कि उनका प्रमुख कर्त्तव्य दूसरों का, सर्वलोक का तथा प्रजा का हित करना है। सम्राट् स्वयं कहते हैं, "कतव्य मते हि मे सव-लोक हितं।" (६वाँ शिलालेख) अर्थात् सब लोगों का हित करना ही मेरा कर्त्तव्य है। इसी सिद्धांत को ले कर सम्राट् अशोक अपने जीवन पर्यंत कार्य करते गये—उनके इस अथक परिश्रम के फलस्वरूप सम्पूर्ण प्रजा सुख के फूलों में हँसने लगी।

सम्राट् का यह धर्म-शासन था। सम्राट् को हमेशा इस बात का पूर्ण विचार रहता था कि प्रजा का उत्तरदायित्व उन पर इतना महान् तथा भारी है कि वे प्रजा के कल्याण के लिये जितना भी पराक्रम करें सब न्यून है—वे आजकल के ऐतिहासिक राजाओं की भाँति प्रजा के अनुत्तरदायिन् शासक न थे। वे तो कहते हैं, "य च किमिचि पराक्रम मि अहं किमति भूतानां आनंतमतां येहं इय च नानि (कानि) सुखापयामि च सवगं आराधयंतु", अर्थात् जो कुछ भी मैं पराक्रम करता हूँ वह इसलिये कि मैं सर्वप्राणियों के ऋण से उऋण हो सकूँ, और उन्हें इहलोक तथा परलोक दोनों में सुखी बना सकूँ। इस वृत्त से स्पष्ट है कि सम्राट् राजपद को किस भाँति प्रजा के उत्तरदायित्वों से आक्रान्त समझते थे। वे जानते थे कि राजा का उत्तरदायित्व प्रजा के प्रति अपार है; क्योंकि प्रजा ने ही उसे इस पद पर स्थापन किया है, और राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के इस ऋण का प्रतिकार करे। बस सम्राट् अशोक इसी सिद्धांत पर प्रजा को हर प्रकार से सुख का विधान कर अपने ऋण को चुकाने में दत्तचित रहे। यह सम्राट् की अपूर्व महत्ता का निर्देशक है। संसार का कोई राजा ऐसा नहीं हुआ जिसने प्रजा के उत्तरदायित्व का इस भाँति विचार किया हो, अपितु प्रजा, इन नृशंस, प्रजा का रक्त शोषण करने वाले, नर-पिशाच राजाओं से नित्य आसकुल रही है। किन्तु सम्राट् अशोक का राजत्व अभिनन्दनीय है जिन्होंने निरंतर प्रजा के हित में अपने जीवन को अर्पण कर दिया। सम्राट् के इस स्नेह के फलस्वरूप प्रजा सुखी हो चली, उसमें अपूर्व धर्म का प्रचार हुआ और सम्पूर्ण मानव प्रजा सम्राट् के स्नेह में प्रफुल्लित हो ऐहिक और पारलौकिक सुखों का उपभोग करने लगी। सम्राट् की प्रजा वह प्रजा न थी जो अत्याचारी नारकी राजाओं के उपभोग, ऐश्वर्य और सुख का साधन बनी व्यर्थ कराहती फिरती है। सम्राट् का प्रजा से वही सम्बंध था जो एक पिता का अपने पुत्र से होता है। अशोक कहा करते थे—"सव मुनीषि मि पजा," सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं। और

इसी भावना से प्रेरित हो कर सम्राट् अपनी प्रजा का स्नेह सहित पालन करते जाते थे एवं इसी भावना से वे प्रजा का रक्षण और शासन करते जाते थे। देखिए—"सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं—जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्र इहलोक तथा परलोक, दोनों में पूर्ण सुख को उपलब्ध करें, उसी भाँति मेरी अभिलाषा है कि मेरी प्रजा इहलोक और परलोक दोनों का सुख प्राप्त करे।"[1] अतः प्रकाशित है कि सम्राट् के सामने नित्य प्रजा की दो चिन्तायें थीं—प्रथम प्रजा को ऐहिक सुख प्रदान करना और द्वितीय—प्रजा को स्वर्ग का सुख उपलब्ध करवाना। प्रथम प्रकार के सुख की व्यवस्था करने के हेतु सम्राट् ने प्रजा का जो स्नेह और सुख का शासन प्रदान किया वह तीसरे प्रकरण से पूर्णतया स्पष्ट है। सम्राट् को प्रजा की ऐहिक सुख की जो चिन्तायें नित्य आसंकुल किये रहती थीं, उसकी प्रतिध्वनि आज भी उनके शिलालेखों में प्रजा की दुर्दशा देख कराह उठती है। सम्राट् के हृदय की भावना आज भी रुक्ष पाषाणों में स्पष्टतः गूँज रही हैं—उनके शब्दों की क्षीण ध्वनि आज भी साफ़-साफ़ हमारे कानों में ध्वनित हो उठती है। कलिंग-शिलालेख जौगुडा, लिखता है, "सम्राट् हमारे पिता के सदृश हैं······उसे अपने भाँति ही हमारी (प्रजा) की चिन्ता है—हम उसके बच्चों के समान हैं।" सम्राट् ने अपने राजकर्मचारियों को यही आदेश दिया था कि वे प्रजा को इन उपरोक्त बातों को भली प्रकार समझा-बुझा देवें। अतः सम्राट् पुनः अपने कर्मचारियों से कहते हैं "इसी अर्थ के लिये में तुम्हें अनुशासन दे रहा हूँ, जिससे कि मैं जीवों के ऋण से उऋण हो सकूँ।" पुनः कलिङ्ग-लेख जोली कहता है—नगर-व्यवहारिक तथा महामात्र नित्य इस कार्य का उपक्रम करते रहें कि बिना किसी कारण के मनुष्यों को बन्धन में न रखा जाय, न उन्हें कष्ट दिया जाय। सम्राट् के इन कथनों से सर्वशः प्रकाशित होता है कि सम्राट् सब तरह से प्रजा के ऐहिक सुख का विधान करने में तन-मन से लगे थे। सम्राट् का इस

१ कलिङ्ग-शिलालेख, जौगुडा।

प्रकार प्रजा के हित उद्योग करने का क्या अभिप्राय था ? यह सम्राट् के शब्दों में ही सुनिए, "इस विषय पर मेरा अत्यधिक विचार क्यों है ? इसका कारण यह है कि इस कर्त्तव्य के संपादन से दो लाभ हैं— अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति और राज-कर्तव्य से उऋणता पा जाना ।"

कहना न होगा कि सम्राट् का मस्तक प्रजा की हित-चिन्ता से इतना आक्रान्त रहता था कि वे नित्य इन्हीं बातों को सोचा करते थे और जिस प्रकार प्रजा सुखी रहे वही उपाय हमेशा किया करते थे। इतना तो ऐहिक सुख के प्रति ही उनकी चिन्ता थी। इस ऐहिक सुख का विधान करने के पश्चात् अब उन्हें प्रजा को पारलौकिक अथवा स्वर्गिक सुख पहुँचाने की चिंता पुनः आक्रांत कर गई। इस अर्थ जो पराक्रम सम्राट् ने किया वह उनके धर्म कार्यों में प्रत्यक्ष है। इस धर्म के लिये सम्राट् ने सम्पूर्ण निज सुखों का परित्याग कर दिया, और एकाग्र होकर धर्म-व्यवस्था करने में संलग्न हुए। उनके इस धर्म-प्रचार के फलस्वरूप भारतवर्ष की पावन भूमि पर ही स्वर्ग लहराने लगा और सम्पूर्ण प्रजा धर्म की कांति में हँसती हुई देवरूप हो चली। गौण-शिलालेख प्रथम, ब्रह्मगिरी लिखता है, "ढाई साल तक जब कि मैं उपासक रहा, मैंने अत्यधिक पराक्रम (उद्योग) न किया। किन्तु एक साल से, या एक साल से ऊपर हुआ, मैंने संघ की यात्रा की, तब से मैंने अधिक पराक्रम किया। अतः इस समय के अन्दर, जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से संबंधित न थे, देवताओं से सम्बंधित हुए (अथवा उनका देवताओं से संबंध स्थापित हुआ)। पराक्रम का ही यह फल है।"

इसी दृष्टांत को लक्ष्य कर श्री मैकफ़िल कहते हैं—

"Asoka must have made life happier for great multitudes of people, not only by the measures he took for their physical comfort, but by teaching them to live useful lives and think noble thoughts."

अर्थात् अशोक ने ऐहिक सुख की व्यवस्था करके ही असंख्य

प्राणियों को सुख न प्रदान किया अपितु धर्म द्वारा भी उनके जीवन को हर्षित बनाया। निःसंदेह अशोक ने मानवता के लिये अपूर्व पराक्रम किया और हर प्रकार से यह प्रयत्न किया जिससे प्राणियों को सुख और शांति उपलब्ध हो। इस विशाल मङ्गलमयी आदर्श पर कार्य करते हुए वस्तुतः सम्राट् अशोक ने प्राणियों के दुःख को समेट कर उन्हें फूलों से हँसना सिखलाया॥ टेनिस (Tennyson--Akbar's Dream) की उक्ति—('Todo all the good he could, in all the ways he could, to all the people he could.)'

—अकबर के अतिरिक्त सम्राट् अशोक के चरित्र में सर्वशः चरितार्थ हुई है—सम्राट् अशोक की पावन वाणी—"कटिवय मते हि सवलोक हित"—अर्थात् सर्वकल्याण ही मेरा कर्त्तव्य है, तथा "य च किमीचि पराक्रमामि अहं किमति भूतानं......सुखयामी च सवगं आराधयंतु"—अर्थात् मैं जो कुछ पराक्रम करता हूँ वह प्राणियों को ऐहिक परलौकिक सुख पहुँचाने के लिये ही—जिसे सम्राट् ने २½ हज़ार वर्ष पूर्व कही थी आज भी भारतीय भावनाओं एवं विश्व के हृदय को रुला जाती है।

यद्यपि अशोक इतने महान् और सर्वोच्च सम्राट् हो चुके हैं किन्तु उनकी महानता की स्मृति का पाश्चात्य कालीन लोगों ने पूरी तरह उतना सत्कार नहीं किया है, जितना कि इस "महान् मानव" की स्मृति का किया जाना चाहिये। यद्यपि सम्राट् की स्मृति से भारतीय और सिंहल की गाथायें परिपूर्ण हैं, किन्तु इतिहास में बहुत थोड़ा ही उनकी स्मृति का आदर किया गया है फिर भी अशोक की स्मृति को लिये हमें कुछ शिलालेख उपलब्ध हुए हैं—(१) रुद्रदामन के जुनागढ़ लेख (१५० ई०) में—"अशोकस्य मौर्यस्य" लिखा है—(Epi. Indica—VIII 43); (२) कन्नौज के सम्राट् गोविन्दचन्द्र की (सन् १११४-५४ ई०) रानी कुमारदेवी के सारनाथ लेख में—"धर्माशोक-नराधिपस्य" लिखा हुआ मिलता है,

(Epi. Indica—IX, 321); (३) धम्मचेती के लेख में भी "धर्माशोक" लिखा पाया गया है, (I. A. XXII); (४) बौद्ध-गया में एक ब्राह्मी लेख (Burmese inscription—1295-1298) प्राप्त हुआ है—इस लेख पर—"जम्बूद्वीप के अधिपति श्री धम्माशोक जिसने ८४,००० (चौरासी हज़ार) चैत्यों को बनवाया"—लिखा हुआ मिला है, (Ep. Indica—XI 119.) । निःसंदेह भारतीय इतिहासज्ञों ने अशोक को "धर्मराज" घोषित किया है । सम्राट् बौद्ध-धर्म के रूप में भगवान् बुद्ध के समकक्ष हैं, अतः उन्हें अधिकार है कि अपनी बौद्ध-प्रजा और भारतीय प्रजा से आज भी अपने स्नेह का कर पूजा के रूप में लेवें । निःसंदेह भारतीय एवं वैदेशिक बौद्धों को अशोक की स्मृति में अवश्य प्रतिवर्ष उत्सव का उपहार अर्पित करते हैं । सम्राट् की ही तरह पराक्रम करना चाहिए ।

संक्षेपतः भारतीय इतिहास में अशोक का शुभ्र ललाट तुषार-किरीट पहिने हिमालय की भाँति उज्ज्वल है । सम्राट् का न कोई साम्य है और न हो सकता है । अशोक मानव इतिहास गगन के पूर्णेन्दु हैं, जिनकी शुभ्र कांति के सामने असंख्य तारों से टिमटिमाते नृप तथा राजागण स्थिर नहीं रह सकते । मानव इतिहास में अशोक ही केवल राजा[1], सम्राट् और शासक हुआ है ।

———

[1]सम्राट् अशोक इतने विनम्र थे कि उन्होंने कभी अपने लिये "सम्राट्" शब्द का प्रयोग नहीं किया ।